

अनन्त आत्मशक्ति प्राप्ति हेतु

(गद्य-पद्यमय)

-आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

भगवान् महावीर जयन्ती व क्षु. भक्तिश्री की दीक्षा के उपलक्ष्य में

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

(1) श्रीमती गुणमाला देवी मातुश्री विमलजी सेठ ग.पु.काँ; सागवाड़ा

ग्रंथांक-349

संस्करण-प्रथम 2021

प्रतियाँ-300

मूल्य-221 रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री हेमन्त प्रकाश देवड़ा (महावीर)

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 94608-78187

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

आशीर्वाद

हमारे परम शिष्य सिद्धान्त चक्रवर्ती जो वर्तमान में एकमेव सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं वो है आचार्य कनकनन्दी जी साक्षात् वर्तमान के आगम रूप में है अभीक्षण ज्ञानपयोगी है उनका एक क्षण भी श्रुताभ्यास के बिना नहीं जाता, रात दिन आगम का अवलोकन व शास्त्राभ्यास करते ही रहते हैं। और शास्त्र लेखन भी करते हैं वर्तमान में सैकड़ों पुस्तके आगम के अनुसार विज्ञान क्या कहता है? आपने लिखी है। आपकी पुस्तकें छद्मस्थ लोगों को पढ़ने योग्य हैं, अज्ञानी लोक भी बुद्धिमान हो जाते हैं। समस्त विज्ञानी लोक आपकी पुस्तकों को पढ़कर समझते धर्म क्या है विज्ञान क्या है? अगर धर्म को और विज्ञान को समझना है तो आपकी पुस्तकें अवश्य पढ़ें। आप धर्म विज्ञान के शिल्पी हैं आपने अपने जीवन में धर्म के रहस्य को अच्छी तरह समझाया है। आपकी पुस्तकों का देश विदेश में बहुत प्रचार है बड़े-बड़े कॉलेज के प्रोफेसर और ज्ञानी अच्छी तरह से पढ़ते हैं। जैन धर्मावलम्बी जो ज्ञान पिपासु हैं वे भी पढ़कर ज्ञानी बन जाते हैं। आपकी एक-एक पुस्तक पढ़ने योग्य है, सब लोग अवश्य पढ़ें। मेरा आप श्री को प्रतिनमोस्तु पूर्वक अनेक आशीर्वाद है। आप इसी तरह आगे भी पुस्तकें लिखते रहे ऐसी मेरी मंगल कामना है।

आप दीर्घायु रहें आपका स्वास्थ्य कुशल रहे आपका संयम सुरक्षित रहे ऐसा मेरा आशीर्वाद आपकी पुस्तकों का बहुत प्रचार हो आगे जो भी पुस्तक लिखे उसके लिए मेरा आशीर्वाद।

पुस्तक प्रचारक व प्रकाशक को भी मेरा आशीर्वाद।

प.पू. जगद्गुरु अष्टांग निमित्तज्ञ मंत्रविद्या
चक्रवर्ती अभिनव पूज्यपाद भारत गौरव गणाधिपति
गणधराचार्य कुन्धुसागर ता. 6/3/21

कुलाधिपति श्रमणाचार्य श्री कनकनन्दी गुरुवर की दिव्य देशना वेबिनार में खिर रही!

अनुमोदक-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल: तेरा...मेर प्यार अमर...)

कनक गुरु की वाणी प्रखर...कालजयी कीर्ति अमर...
अन्त्योदयी-सर्वोदयी...स्व-पर-विश्व कल्याणकर...(ध्रुव)...
अमृत स्वरूप नित्य...वेबिनार में खिर रही...
सबके मन को भा रही...भावों में समा रही...
ऐसी देशना अतिदुर्लभ...स्व-आत्म बोधकर...(1)...
द्रव्य-तत्त्व-अर्थ का...केन्द्र जो बता रही...
निगोदिया से सिद्ध तक...चेतना बता रही...
“सर्वे सिद्धा हु सुद्धणया”...हर जीव में बता रही...(2)...
देश-विदेश के सुधी...श्रोता गण श्रवण करे...
ज्ञान-ध्यान-विज्ञान...शोध-बोध कर रहे...
पूरब से पश्चिम तक...जन-गण-मन को जगा रही...(3)...
आओ आओ हे! जिज्ञासु...निज का ज्ञान करो...
स्व शक्ति को जानकर...पर से परे चलो...
‘सुविज्ञ’ नित्य भावना भाए...सभी जीव सुखी रहो...(4)...

ग.पु.कॉ. दि-7/2/2021, प्रातः 6.58

आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव की भावना फलीभूत हो रही!

-श्रमण मुनिश्री सुविज्ञसागर

(चाल: यमुना किनारे...)

भाव की महिमा अतिशयकारी...कनक गुरु ने साकार करी...
महान् लक्ष्य-भावना अनुसारी...स्वप्न-शकुन आदि शुभकारी...(ध्रुव)
बाल्यकाल ने बनाया लक्ष्य...परमार्थ भावना संयुक्त...

वैज्ञानिक-नेता-सन्त बनूँ...बहुगुणधारी श्रेष्ठ बनूँ...
 उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास हुआ...एक साथ त्रय लक्ष्य प्राप्त हुए...(1)...
 नन्दी व अन्य संघ के शिक्षा गुरु बने...वैज्ञानिकों के अध्यापक बने...
 निस्पृही सन्त अलौकिक विभूति...चतुर्विध संघ के नेता बने...
 दार्शनिक-महाकवि-लेखक बने...वैश्विक प्रबोधनकार बने...(2)...
 इन सर्व गुणों का समग्र रूप...वेबिनार माध्यम से अभिव्यक्त...
 देश-विदेशों के जिज्ञासु जन...लाभान्वित होते हैं देशना सुनकर...
 अपूर्वार्थ-अपूर्वकरण कर रहे...प्रगतिशील-आधुनिक बन रहे...(3)...
 गूगल व यूट्यूब देखो...साहित्य व वेबिनार प्रवचन सुनो...
 सहयोगी सनत, राजेश जैन...अभय, वर्ण, मधोक आदि...
 चारों प्रकार सब दान कर रहे...सेवा-सहयोग पुण्य लाभ ले रहे...(4)
 इन सब उपलब्धियों का कारण...निस्पृह-निराडम्बर सुवृत्ति...
 अचायक-सरल-सहजवृत्ति...आगमोक्त ज्ञान-ध्यान तपोरक्त वृत्ति...
 वसुधैव कुटुम्बकम् भावी...सर्व जीव में जिनेन्द्र दृष्टि...(5)
 सर्वे भवन्तु सुखिनः भावधारी...सत्य-साम्य-सुख प्राप्तिधारी...
 सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्...क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्...
 बोधि-समाधि-परिणामशुद्धि...स्वात्मोपलब्धि शिवसौख्य सिद्धि...(6)...

ग.पु.कों. दि-16/1/2021 रात्रि-9.04 व प्रातः

श्री कनकनन्दी गुरु वन्दना

-मुनिश्री चन्द्रगुप्त जी

कनकाभ तुल्य कनकनन्दी नमामि। प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि॥
 धरितुं हि समता, व्यक्त्वा विषमता। दूरोऽस्ति मनसः, मोह-ममता॥
 रजताभ तुल्य शान्तमूर्तिं नमामि। प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि॥
 तव शुक्ल लेश्या, आकर्षयित्वा श्रेयं ददाति तु कृपा दृष्ट्या॥
 मुक्ताभ तुल्य मुक्ति दायकं नमामि। प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि॥
 दृष्टि मोक्ष युक्त! भो मम पितामह!! द्वादश कषाय मोक्ष-युक्त स्वामिन्! ॥
 रत्नाभ-तुल्य रत्नकोषं नमामि। प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि॥

तव पाद युगलं, प्रणमामि नित्यं। याचेऽहं शीघ्रं सुमोक्ष सदनं॥
कमलाभ तुल्य पादकमलं नमामि। प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि॥

“कनक-काव्य-सृजन”

श्रमण मुनि विनयगुप्त जी

(चाल: चंदन-सा बदन)

कनक-काव्य-सृजन, अनुपम-विलक्षण

ये रचनाएँ पढ़, सुख पाना

खिलते हैं जहाँ, आध्यात्म-सुमन...2

सौरभ पा जीवन, महकाना...कनक-काव्य...(ध्रुव)

चारों अनुयोगों से हैं सजी; ये सुंदर-कृतियाँ ज्ञानमयी...2

जिसमें है छिपी शोध-ज्ञान-विधा, संवाद कराती रहस्यमयी

विविध ज्ञान-विज्ञान सहज पाने...गुरु चरणों का आश्रय पाना...(1)

लालित्य लिये सारी रचनाएँ, सब मधुर-सरस-गायन वाली

कई तर्ज लिए मौलिक कृतियाँ, सबके मन को हरने वाली

है प्रायोगिक-साहित्य नया, पढ़कर सद्ज्ञान बढ़ा जाना...(2)

जीवन गुरुवर का आध्यात्मिक, जिसमें है समाई निस्पृहता

हैं अथक परिश्रम-लेखन-चिन्तन, फिर भी है रखते बड़ी समता

‘विनय’ अनुभव के गुरु ‘छात्र’ बड़े, ज्ञानी ना गुरु-सा कोई जाना...(3)

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव से प्राप्त प्रायोगिक शिक्षाएँ

-आर्यिका सुनीतिमती माताजी

तुम्हारे ज्ञान से गुरुवर हमको तुमसे जोड़ा है।

तेरी करुणा ने ही गुरुवर सच्चे सुख से जोड़ा है॥ (ध्रुव)

तुम्ही तीरथ हो मंदिर हो तुम्ही ईश्वर की मूरत हो।

हमने जग में नहीं देखी ऐसी अनुभव की सूरत हो।

तेरी महिमा के वर्णन में जो कहूँ वो थोड़ा है॥ (1)...तुम्हारे ज्ञान...

तेरी निश्चल हृदय में ही सच्चा प्यार बहता है,

तेरी वाह वाह वो करता है जो तुझको पास रखता है,

तेरे चरणों के दम पर ही तो हमने जग को छोड़ा है॥ (2)...

वेबिनार के अवसर पर ध्वनि सुंदर जो खिरती है,

ज्ञानी विज्ञानी भी बैठे सभी के पाप हरती है,

तेरी वाणी सुनने को ही तो सारा जग ये दौड़ा है॥ (3)

अनुसंधान आत्मा का प्रतिक्षण आप करते हैं,

कर्म रोते हुए कहते हमें क्यों दूर करते हो;

मोह माया के बन्धन को तुमने मन से तोड़ा है॥ (4)

तेरे अनुभव के सूरज ने किया रोशन ये जग सारा,

कोई भ्रान्ती भरे पथ को नहीं तुमने तो स्वीकारा,

तेरी निश्चलता ने सच में मेरी श्रद्धा को मोड़ा है॥ (5)

तुम्हारे ज्ञान ने गुरुवर हमको जोड़ा है।

तुम्हारे स्नेह ने गुरुवर हमको तुमसे जोड़ा है॥

कोरोना काल आध्यात्मिक क्रांति लेकर आया

रचयिता-कमल कुमार गोदावत

(चाल-दिल में तुझे बिठा के...)

मन में तुझे बसा के, कल लूँ मैं दर्श तेरे

पूजा करूँ गुणों की, वैश्विक कनक गुरु की-(स्थायी)

तेरा ही गुणगान करूँ, तेरे ही गुण पाऊँ-2

एक पल भी ना व्यर्थ गवाऊँ, गुरु स्वरूप ही ध्याऊँ

चरणों में तेरे आ के, सौभाग्य को जगाऊँ। पूजा करूँ...

तेरे ही आदर्शों पर चल, सम्यक् दर्शन पाऊँ-2

धनी गरीब के भेद ना जानूँ, मैं समदृष्टि बन जाऊँ

निज को निज से मिलाकर, कर लूँ मैं दर्श तेरे। पूजा करूँ...

कोरोना का यह काल..., अवसर बन कर आया-2

वेबिनार से ज्ञान क्रांति का, व्यापक अवसर आया

प्रवचन गुरु के सुनकर, हो रहा है आत्मज्ञान। पूजा करूँ

मन में तुझे बसा के, कर लूँ मैं दर्श तेरे।

निस्पृही-आत्मानुशासी कनकनन्दी गुरुवर

सृजयित्री-सुश्री मासूम सुभाषचन्द्र जैन, ग.पु.काँ

(चाल-मेरी जिंदगी सवारी...)

कनक गुरु है ज्ञानी...समता के है खानी
इनके जैसा जग में...कोई नहीं है ध्यानी...
मैंने गुरुवर को है SSS, प्रभुवर सम जाना SS
अभीक्षण ज्ञानापयोगी SSS, अनुभवश्रुत केवली...
सारे जहाँ से न्यारे...वैश्विक है गुरुवर...(1)
जैनी से ले अजैनी...हर धर्म पंथ मत...
प्रोफेसर से ले वैज्ञानिक...गुरुवर से ज्ञान पाते...
वेबिनार में आकर SSS, गुरुवाणी सुनते SS
निस्पृही है गुरुवर SSS, आत्मानुशासी...
सारे जहाँ से न्यारे...वैश्विक है गुरुवर...(2)
नए-नए विषय का...गुरु बोध कराते...
भाषा से ले भावों का...महत्त्व है बताते...
प्रकृति प्रेमी है SSS, वात्सल्य धारी है SSS
गुरु गुण को पाने SSS, मासूम नतमस्तक है...
सारे जहाँ से न्यारे...वैश्विक है गुरुवर...(3)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा दि-2/2/21

वैयावृत्ति सम्बन्धी मेरा अनुभव

(वैयावृत्ति प्रायोगिक जीवन्त धर्म)

-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल: 1.देहाची तिजोरी... 2.छोटी-छोटी गैया...)

वैयावृत्ति महान् अन्तरङ्ग तप...तीर्थङ्कर बनने योग्य तप...
सेवा-दान-दया-परोपकार...रोग-उपसर्ग दूर करना...(1)
दशविध साधुओं की सेवा करना...सनाथता व सनाथतावृत्ति जताना...

वैयावृत्ति प्रायोगिक जीवन्त धर्म...इसके बिना नहीं है मोक्षमार्ग...(2)
 इसका व्यापक स्वरूप नहीं जाना था...किन्तु श्रद्धान भाव पूर्ण था...
 शुभ अनुभव भी करता था...कनक स्वाध्याय से विशेष जाना...(3)
 शिक्षा व प्रेरणा नित्य पाता...नवकोटि से भावना भाता...
 वैयावृत्ति वालों की प्रशंसा करता...सहयोग-अनुमोदन करता...(4)
 सेवा-सहयोग-दान-दयादत्ति...जिनवाणी-गुरु की सेवा भक्ति...
 यथायोग्य अन्य धार्मिकों की...शुभ भावना से करूँ वैयावृत्ति...(5)
 सत्त्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदम्...क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्...
 माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ...सदाममात्मा विदधातु देव...(6)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा, दि-7/2/2021, रात्रि-9.50

तीर्थेश पद का आधार वैयावृत्ति

-शु. सुवीक्षमती

(चाल: नदियाँ चले चले रे धारा...)

वैयावृत्ति तप है महान् रत्नत्रय का होता है दान
 तीर्थेश पद का आधार-4...(ध्रुव)...
 वैयावृत्ति जो करते हैं जीव-2 सम्यक्त्व के गुणों से भरपूर
 सातिशय पुण्य लाभ हैं वरते-2 सांसारिक सुख से ले मोक्ष हैं वरते...तीर्थेश...(1)
 निर्विचिकित्सा वात्सल्य से युक्त-2 स्थितिकरण प्रभावना संयुक्त
 शरीर-मर्दन उपसर्ग दूर करते-2 मल-मूत्र आदि का शोधन हैं करते...(2)
 वैयावृत्ति है प्रायोगिक धर्म-2 इसके बिना न शिवपथ का प्रवर्तन
 आहार अभय ज्ञान सेवा आदि से-2 श्रावक व साधु दोनों ही हैं करते...(3)
 वैयावृत्ति से होती जिनाज्ञा पालन-2 त्रिकालवर्ती तीर्थकरों की पूजन
 स्वाध्याय से भी है महान् वैयावृत्ति-2 स्व-पर उपकारक है वैयावृत्ति...(4)
 नहीं करते जो जीव वैयावृत्ति-2 धर्मबाह्य हैं वे हैं मिथ्यादृष्टि
 आचार-आत्मा-आगम त्याग करते-2 साधु ले से धर्म का लोप करते...(5)
 पूर्व में न था मुझे उक्त ज्ञान-2 कुछ विषय तो था विपरीत ज्ञात
 'कनक' गुरु चरणों नत शीश मेरा-2 हर लो गुरु मेरे पापों का डेरा...(6)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा, दि-9-2-2021, मध्याह्न-2.50

वेबिनार से प्राप्त शिक्षा

वर्तमान की पृथ्वी पर वैश्विक ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न कुलाधिपति (आचार्यश्री कुन्धुसागर जी द्वारा वेबिनार में प्रदत्त उपाधि) वैज्ञानिक श्रमणाचार्य श्री कनकनन्दी गुरुवर के 41वें दीक्षा दिवस के अवसर पर निराडम्बर रचनात्मक अभिप्रेरक गुरु-शिष्य सम्वादात्मक त्रय दिवसीय वेबिनार महोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। इस अभूतपूर्व ऐतिहासिक सद्गुरु गुणगौरव वेबिनार को देखकर व श्रवणकर उपस्थित साधु-साध्वी आचार्य-सन्तगण, वैज्ञानिक, प्राध्यापकों, श्रावक-श्राविकाओं से लेकर सामान्य आबाल-वृद्ध-वनिता-वृन्द अत्यन्त द्रवीभूत व अभिभूत हुए।

इन निराडम्बर अनुष्ठान में देश-विदेश के आचार्य साधु-साध्वी सन्त गणों से लेकर वैज्ञानिकों आदि से आचार्यश्री कनकनन्दी गुरुदेव के भाव-व्यवहार-लक्ष्य-गुणगण आध्यात्मिक उपलब्धियों आदि के प्रति हृदय के अन्तस्थल से भावभीनी विनयाञ्जली प्रस्तुत कर स्व को गौरान्वित अनुभव किया। आचार्यगणों में आचार्य अनुभवसागर जी, गुणधरनन्दी जी, सुविधिसागर जी, गुप्तनन्दीजी, विद्यानन्दीजी, देवनन्दीजी, पद्मनन्दीजी, प्रज्ञासागर जी, प्रसन्नऋषिजी, वैराग्यनन्दीजी, कुशाग्रनन्दी, सच्चिदानन्दजी आदि ने अपने स्वानुभवपूर्ण विनयाञ्जली से सबका मन मोह लिया इसी प्रकार श्रमण मुनि सुयशगुप्त, चन्द्रगुप्त, आज्ञासागर, अनुमानसागर आदि ने व ग. आर्यिका ज्ञानमती, चन्दनामती, धैर्यश्री, क्षमाश्री, आस्थाश्री, जिनवाणी आदि श्रमणी आर्यिकाओं व क्षु.ध्यानसागर जी ने भी अपने एक से बढ़कर एक अनुभवात्मक प्रेरक भावों से आचार्यश्री के प्रति अत्यन्त गौरव प्रकट किया व सभी ने उन्हें वर्तमान पृथ्वी पर बहुगुणधारी आध्यात्मिक विभूति बताया। जगद्गुरु सबके दादा गुरु गणाधिपति गणधराचार्य श्री कुन्धुसागर जी गुरुदेव ने विज्ञानाचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव को नन्दीसंघ के सूर्य की उपमा से गौरव किया जिसे सुनकर जन-गण-मन अभिभूत हुए। पं. जयकुमार उपाध्ये, डॉ. चिरञ्जीलाल बगड़ा, अभियन्ता योगेन्द्र जैन लन्दन, डॉ. रामगोपाल केलिफोर्निया, इसरो वैज्ञानिक डॉ राजमल, डॉ गोदावत, कोबा आश्रम के साधकों आदि ने भी आ. श्री को उच्चतम आदर्श रूप सन्तगुरु बताया। इस अवसर पर आचार्यश्री कनकनन्दी सृजित प्रायः 10 ग्रन्थों का विमोचन हुआ।

आचार्यश्री के इसरो के वैज्ञानिक शिष्य डॉ सुरेन्द्रसिंह पोखरना के अनुरोध से आत्मा की 47 शक्तियों का वर्णन दि. 9/2/2021 से करेंगे एवं आगामी 19-20-21 मार्च को आत्मा सम्बन्धी फ्लोरिडा में आयोजित वेबिनार में देश-विदेश के वैज्ञानिक एवं आचार्यश्री के वैज्ञानिक शिष्यों के साथ आचार्यश्री भाग लेंगे। यह कार्यक्रम भारत सरकार का होगा।

प्रस्तुति-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

गुरु-शिष्य मिलन समारोह

गुरु गुणानुवाद, गुणानुकरण, गुणानुस्मरण

परमपूज्य आध्यात्मयोगी, अभिनव श्रुतकेवलि, कुलाधिपति, सिद्धान्त चक्रवर्ती, वैश्विक सूरी, सिद्धान्त चक्रवर्ती, महाविज्ञानी, आत्मज्ञानी, ज्ञानदिवाकर, महाकवि, परम आगम निष्ठ, कलिकाल समन्तभद्र, अकलंक स्वामी, निस्पृही आचार्य भगवन् श्री कनकनन्दी गुरुदेव के युगलचरण में 41वें दीक्षा महा महोत्सव....

अनंतानंत...वंदन...अभिवंदन....अभिनन्दन....।

आत्मीय गुणों से विभूषित, जैनधर्म की शान, कुन्धु गुरु के हीरा शिष्य, स्व-पर उपकारी, महाउदारभावी, सरल स्वभावी, समताधारी, आत्मानुशासी, मितव्ययी, निस्पृही, निराडम्बरी, ख्याति-पूजा-लाभ से परे, संकीर्ण संतवाद, मतवाद, पंथवाद, हठग्रहिता से परे, 300 से अधिक आचार्यों, साधु भगवन्तों, विद्वत्तजनों के शिक्षा गुरु, जीनियसों के जीनियस, धर्म और विज्ञान को जोड़ते हुये जैन सिद्धान्तों को प्रामाणिकता के साथ, अहिंसामयी, अनेकान्त स्याद्वाद धर्म, अपरिग्रहवाद, यथार्थ धर्म स्वरूप को विश्व-पटल पर स्थापित करने वाले, बहुआयामी, विविध विधा के ज्ञाता, पूरे विश्व को आह्वान करने, ललकारने वाले, शान्ति-क्रांति के अग्रदूत, सत्य की प्रतिमूर्ति, आगम प्रणेता, अंतरंग प्रकाशी, कथनी-करनी एक समान, सतत ध्यान-अध्ययन में लीन महा...गुरु...आप हो। आप सूर्य के समान स्वयं प्रकाशमान होकर पूरे जग को प्रकाशमान करने वाले, स्व-गुरु के प्रति अनन्य अनुनय-विनय-भक्ति दर्शाने वाले, नंदी संघ के कुलाधिपति (स्व गुरु आ.कुन्धुसागर द्वारा वेबिनार में प्रदत्त उपाधि) प्रकृति प्रेमी आदि अनेक महान् गुणों के धारी गुरुवर को कोटि-कोटि प्रणाम करते हुये मैं सदैव भगवान् से यहीं प्रार्थना करती हूँ कि आप दीर्घायु बने, आपका

रत्नत्रय निर्बाध चलता रहे और आप अपने महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुये आकाश की अनंतानंत ऊँचाईयों तक पहुँचे। हे गुरुदेव! आपके महानतम गुण अवर्णनीय हैं बड़े-बड़े आचार्य आपके गुणों का वर्णन करने में स्वयं को असमर्थ बताते हैं और आपके गुणों का वर्णन करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान बताते हैं तो मैं स्वयं असमर्थ हूँ यह कोई बड़ी बात नहीं है। मैंने आपकी अनन्य भक्ति वश कलम चलाने का प्रयास किया है।

(विनयांजलि प्रस्तुत करने)

हे गुरुदेव! यथार्थ स्वरूपी संत शिरोमणि मेरे तो आराध्य प्रभु आप ही हो।

“परम आशीष सदामुझ पर बना रहे।

“वंदे तद्गुण लब्धये” मेरे यही भाव रहे।”

(स्व गुरु आ-कुन्धुसागर द्वारा
वेबिनार में प्रदत्त उपाधि)

आपकी चरणानुरागी
Deepika Nagin Shah
Colony Sagawara

गुरु भक्ति का अनुपम उदाहरण

गुरु भक्त शिष्यों का अद्भुत निवेदन चातुर्मास हेतु

15/02/2021

परम पूज्य अभिनवश्रुत केवली, कुलाधिपति, वर्तमान के समन्तभद्र वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव सन् 1997 से वागड़-मेवाड़ की भूमि पर ध्यान अध्ययन के द्वारा आध्यात्म का ऐसा बिगुल बजा रहे जिससे जैन-अजैन एवं विदेशी भक्त भी प्रभावित हो रहे हैं। आचार्यश्री ने सभी में स्वात्मा की प्राप्ति की ललक जगाई। गुरुदेव की शांत निराकुल मुद्रा, निस्पृह वृत्ति, आध्यात्मिक जीवन, प्रसिद्धि व भौतिक निर्माण से दूर, अनुशासित चर्या व अल्प व्यय में चातुर्मास सम्पन्न होना ऐसी विविध विशेषताओं से प्रभावित होकर सम्पूर्ण भारत से लगभग 400 से भी अधिक चातुर्मास हेतु निवेदन है। मेवाड़-वागड़ के भक्त गण ऐसे ज्ञानी गुरुवर का सानिध्य पाकर अभिभूत है। वर्तमान में गलियाकोट पुनर्वास कॉलोनी में लगभग 14 माह से प्रवासरत है तथापि वहाँ की समाज कमेटी ने अगले चातुर्मास एवं आजीवन प्रवास

हेतु निवेदन किया है। इसके अतिरिक्त सीपुर व बस्सी क्षेत्र के अधिष्ठाता आदरणीय नितिनभैया भी पूर्व में आजीवन प्रवास हेतु निवेदन कर चुके हैं और अगले 2022-2023 व 2024 के चातुर्मास हेतु भी निवेदन किया है। नन्दौड़ एक छोटा सा गाँव मात्र एक जैन परिवार है जिन्होंने पूर्व में तीन चातुर्मास का लाभ लिया है तथापि 2021 के चातुर्मास हेतु निवेदन कर रहे हैं। सागवाड़ा गुरुभक्त नगर है जहाँ की समाज ने पूर्व में भी दो चातुर्मास का लाभ लिया इसके उपरान्त भी 2018 से आजीवन प्रवास हेतु निमन्त्रण दे रहे हैं। योगीन्द्रगिरिक्षेत्र पर भी खोड़निया परिवार ने आजीवन प्रवास एवं 2021 के चातुर्मास हेतु निवेदन किया है। चीतरी से आदिनाथ चैत्यालय गुरुभक्त परिवार ने भी अजीवन प्रवास एवं 2021 के चातुर्मास हेतु आमन्त्रण दिया है। भीलुड़ा ग्राम के श्रीपाल आदि भरडा परिवार ने भी 2022 के चातुर्मास हेतु भी निवेदन किया है। आचार्यश्री का लक्ष्य स्वात्मोपलब्धि ही है हर प्रकार के आडम्बर प्रवृत्ति से दूर रहते हुए जनजागृति करते हैं। आचार्यश्री की निस्पृह वृत्ति को देखकर दिगम्बर, श्वेताम्बर व हिन्दू समाज ने भी प्रवास हेतु निवेदन किया है और कर रहे हैं। (ब्र. संध्या दीदी)

अद्वितीय गुरु शिष्य सम्मलेन-वेबिनार में

(सम्मेलन में गुरु व शिष्यों द्वारा अभिव्यक्त किये हुए

आचार्यश्री कनकनन्दी गुरुदेव की विशेषताएँ)

श्रुतजलधि पारगेभ्यः, स्वपर-मतिविभावनापटुमतिभ्यः।

सुचरित तपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः॥

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः।

प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेवदृष्टोत्तरः॥

प्रायः प्रश्रसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया।

ब्रयाद् धर्म-कथां गणी-गुणनिधिः प्रस्पष्ट मिष्टाक्षरः॥

सम्यग्दर्शन मूलं, ज्ञानस्कन्धः चारित शाखाढ्यम्।

मुनिगणविहंगाकीर्णमाचार्य महाद्रुमम् वन्दे॥

यथार्थ से आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव महाकल्पद्रुम ही है। जिसका

स्वात्मश्रद्धान रूप दृढ़ कनकनन्दी जी सम्यग्दर्शन रूपमूल है, ज्ञान स्कन्ध तो इतना विशाल व गहन है कि चारों अनुयोग, अनुभव अनुयोग, आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान, खगोल, भूगोल, इतिहास, कानून, राजनीति अलौकिक गणित, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सुमेरू। अन्तर्राष्ट्रीय चलता फिरता विश्वविद्यालय है। जिस समस्या का समाधान या प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिलता उन सभी का समाधान आचार्य श्री स्वाध्याय तपस्वी कनकनन्दीजी गुरुदेव के पास मिलता है। आचार्यश्री सुविधिसागरजी जे कहा यदि आचार्यश्री ने उत्तर दिया है तो वह आगम प्रमाण हो गया अब उसे की खोजने की आवश्यकता नहीं।

चारित्र-गुरुदेव महान् चारित्र के धनी हैं। उनकी चर्या यानि मूलाचार प्रमाण हो गया। उज्जका आहार, विहार, निहार सब विज्ञान व आगम सम्मत ही है। हम अल्पबुद्धि उस विशालता को नहीं समझ सकते यह हमारा दुर्भाग्य है। गुरुदेव बहुत पारदर्शी व दूरदर्शी हैं। हम पामर तो वर्तमान को भी नहीं समझ सकते तो भविष्य तो दूर ही रहा।

गुरुदेव श्रमणरूपी मुनिगण विहंगाकीर्ण महाकल्पद्रुम ही है। इस विशाल कल्पवृक्ष की छाया में अनेकों श्रमण-श्रमणियाँ, श्रावक-श्राविका, बाल, वनिता, वृद्धों ने विश्राम/निश्रा पाकर स्वजीवन धन्य किया है। वर्तमान में भारत व विदेशों में भी गुरुदेव के आचार्य, साधु शिष्य व प्रोफेसर, चान्सलर, वैज्ञानिक व अन्य विधा के (अनेक) 300 से अधिक आचार्य, श्रमण, श्रमणियाँ व श्रावक ध्यान-अध्ययन व साधना कर रहे हैं। लाखों बच्चों ने गुरुदेव से सभी विधा का ज्ञान प्राप्त किया है व अभी भी कर रहे हैं।

पाटा सिंहासन-गुरुदेव इतने निस्पृही हैं कि जहाँ आज पाटा, सिंहासन, पद-प्रतिष्ठा की होड़ लग रही है वहीं इस अभिव्यक्ति कार्यक्रम के लिए हमने गुरुदेव के लिए स्थानीय मन्दिर का सिंहासन लगाना चाहा तो गुरुदेव ने स्पष्ट मना किया व प्रत्यक्ष सामने खड़े रहकर हटवाया। कितनी निस्पृहता है गुरुदेव में। गुरुदेव वास्तव में मठ बाह्य पूजा, प्रसिद्धि, ख्याति, लाभ से परे हो गए हैं आत्मानुभव में ही सतत रमण करते हैं। योग्य द्रव्य-क्षेत्र काल होता तो इसी भव में मोक्ष प्राप्त करते परन्तु इस वर्तमान अवस्था में विपरीत परिस्थितियों में भी भावों से वे भावी प्रज्ञापन नय से स्वयं

को अरिहन्त-सिद्ध सम ही अनुभव, मनन, चिन्तन करते हैं। श्रुतज्ञान-आगम ज्ञान के माध्यम के अलौकिक गणित से ब्रह्माण्ड को हाथ पर रखे हुए आँवले के समान देखते हैं। गुरुदेव सभी जीवों को “सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया” से सिद्ध समान मानते हैं। गुरुदेव ने अपनी एक कविता में लिखा है-

सभी जीव में जिनेन्द्र दर्शन,

किसी के प्रति न क्रूर प्रदर्शन, जाना हूँ आगम से...

अतः मैं किसी भी जिनेन्द्र को कष्ट कैसे दे सकता हूँ?

इसलिए गुरुदेव संसार के समस्त जीवों के प्रति समताभाव रखते हैं। अन्त्योदय (निगोदिया) से सर्वोदय की भावना रखते हैं और तदनुरूप भाव-व्यवहार करते हैं।

समता-गुरुदेव समता के भण्डारी हैं। अनेक वर्षों (लगभग 25-30) से भक्त-शिष्य गण समझते थे कि गुरुदेव को संसार के कूट-कपट मायाचारी क्या ज्ञात है? ऐसा इसलिए सोचते थे क्योंकि गुरुदेव किसी की निन्दा, चुगली नहीं करते। इतनी समता रखना दुरूह, कष्टसाध्य है। गुरुदेव के विषय में “मेरी भावना” की ये पक्तियाँ एकदम सही हैं।-

स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं, मैं कहती हूँ कि “समता भाव की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं।” छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ भी कहते हैं कि गुरुदेव! हमको कोई एक बात कहता है तो हम तो उसको 4 बातें नहीं सुनाते तब तक चैन नहीं पड़ता है...उसने मुझे ऐसा क्यों कहा? ये ही विचार आता रहता है। परन्तु गुरुदेव 25-30 वर्षों तक यह सुनते रहे कि गुरुदेव निन्दा नहीं करते, उनको हिन्दी भाषा नहीं आती, कोई अन्य भाषा बोलते हैं, वे प्रशंसा करते हैं जो हम चने के झाड पर चढ़ जाते हैं इसलिए उन्हें इतनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, गुरुदेव इतने ग्रंथ क्यों लिखते हैं? कौन पढ़ता है? अविनय होता है। गुरुदेव एक स्थान पर ही अधिक समय क्यों रहते हैं? गुरुदेव मैं-मैं क्यों करते हैं? इत्यादि।

गुरुदेव ने सोचा ये अल्पज्ञ, नादान, सरल स्वभावी, गुरुभक्त, भद्र परिणामी है, आज नहीं तो कल अपनी गलतियों को सुधार लेंगे। परन्तु इतने वर्षों बाद भी नहीं समझ पाये, नहीं सुधार किया तो गुरुदेव ने करुणाभाव से अन्तरंग पीड़ा से द्रवित हृदय से उन्हें नरक-निगोद से बचाने के लिए 2015 से सीधे जिसकी गलती है उसे

कहने लगे। उनके दोषों का निराकरण कर रहे हैं लगभग 5 वर्षों से दूषित भावों का सफाई अभियान चल रहा है। इससे बाल, वृद्ध, वनिता सभी लाभान्वित हो रहे हैं। पश्चात्ताप कर अपने अपराधों का प्रत्याख्यान कर प्रायश्चित्त कर रहे हैं। ज्ञान अधिक ना हो परन्तु गुरुदेव के पवित्र, सर्वोदय के भावों को समझ स्व के भावों में सुधार कर गुरुदेव के ज्ञान से भी लाभान्वित हो रहे हैं। धन्य है गुरुदेव की समता की साधना।

भाषा-गुरुदेव व्याकरण सहित 14 भाषा जानते व प्रयोग करते हैं। अन्य बोलियाँ भी अनेक जानते हैं परन्तु सामान्य जन इनकी आगमनिष्ठ, संस्कृत, प्राकृत, गणित, विज्ञान की उच्चतम भाषा को नहीं समझ सके व कहते थे कि (विशेषतः वागड़ के 5 गाँवों के लोग) गुरुदेव को हिन्दी नहीं आती, वे कोई अन्य भाषा बोलते हैं। मुझे (आर्यिका सुवत्सलमती) भी ज्ञात नहीं था कि गणित, विज्ञान, कानून की भी भाषा होती है, भाषा विज्ञान भी होता है। ये सब भाषा का विस्तृत ज्ञान गुरुदेव से ही हुआ है परन्तु अभी भी व्याकरणबद्ध शुद्ध हिन्दी मुझे नहीं आती है। आगम, सिद्धान्त के गहन विषयों का प्रतिपादन तो उच्च भाषा में संस्कृतनिष्ठ शब्दों से ही हो सकता है। विद्वत् जन, वैज्ञानिक आदि प्रबुद्ध जन भी गुरुदेव की भाषा को समझ नहीं पाते वे कहते हैं गुरुदेव! आपकी भाषा उच्चतम व क्लिष्ट है, थोड़ी सरल करे तो हम समझ पायेंगे परन्तु सामान्य जन जैसे नहीं कहते कि आपको हिन्दी नहीं आती।

अनुशासन-गुरुदेव कड़क अनुशासन के लिए जाने जाते हैं। गुरुदेव का यह अनुशासन आत्मानुशासन के लिए है। गुरुदेव के 40 वर्ष पुरातन शिष्य भी आज भी उनके अनुशासन को पालन करते हैं। गुरुदेव का आदर समाचार पद्धति से करते हैं। गुरुदेव के उपकार को सनम्रता से मानते हैं व अन्तरंग से विनय करते हैं। परोक्ष में गुरुदेव के आदर्शों का स्मरण करते हैं। उनके उस समय के अनुशासन से आज भी सभी लाभान्वित हो रहे हैं ऐसा सभी शिष्यों ने इस गुरु-शिष्य मिलन समारोह में कहा।

उपाधियों का त्याग-यद्यपि गुरुदेव की अनेक उपाधियाँ गुरु प्रदत्त है परन्तु फिर भी गुरुदेव इन उपाधियों का मात्र गुरु स्मरणार्थ नामोल्लेख करते हैं परन्तु सभी शिष्यों को लिखित रूप में सूचना दी थी कि कोई भी उपाधि मेरे नाम के आगे मत

लगाना। गुरुदेव तो इन उपाधियों से परे परमात्म सिद्धपद रूपी उपाधि पाना चाहते हैं। उनका परम लक्ष्य है परमात्मपद, मोक्षपद, सिद्धपद पाना।

अन्य सभी उपाधियों को वे सनम्रता से नकारते हैं। इस गुरु-शिष्य मिलन समारोह में गणाधिपति आचार्य कुन्थुसागरजी गुरुदेव ने गुरुदेव को स्वेच्छा से कुलाधिपति की उपाधि से अलंकृत किया परन्तु गुरुदेव ने उसी सभा में त्वरित उस उपाधि को स्वीकार न करने की भावना से आ.कुन्थुसागरजी गुरुदेव से विनम्रता पूर्वक निवेदन किया कि हे गुरुदेव! आप ही मार्गदर्शन करे कि ऐसी परिस्थिति में मेरे लिए क्या आज्ञा है? आ. कुन्थुसागर गुरुदेव ने हाथ उठाकर सहमति की मुद्रा में कहा कि सब कुछ उत्तम ही होगा। 2013 के चातुर्मास में हल्दीघाटी में श्वेताम्बर भक्तों ने गुरुदेव को उपाधि देने हेतु अनुरोध किया वे देश-विदेश के शिष्य भक्त अभिनव श्रुतकेवली की उपाधि से अलंकृत करना चाहते हैं परन्तु गुरुदेव ने उपाधियाँ अस्वीकार करते हुए कहा कि मेरी भावना तो आत्मा से परमात्मा बनने की है, आधि-व्याधि-उपाधि से परे होने की है। कितनी निस्पृहता है गुरुदेव में। ख्याति-पूजा से दूर रहकर आत्मसाधना करना ही गुरुदेव का परम लक्ष्य है। उसी के अनुरूप सहज, सरलता, निस्पृहता से प्रतिक्षण अपनी साधना में रत हैं। वे कहते हैं कि जब इन उपाधियों का भी परित्याग करते हैं तभी परमपद मिलता है फिर इनका मोह कैसे करूँ? मैं नवकोटि से इनसे दूर रहना चाहता हूँ।

मौन-गुरुदेव सतत स्व-आत्मा में ही रमण करते हुए मौन साधना कर रहे हैं। पाँच प्रकार के स्वाध्याय को छोड़कर गुरुदेव का मौन रहता है। मौन ही गुरुदेव की शक्ति है। मौन रहने से (वर्षों, महिनों) वचन वर्गणाएँ बच जाती है। बोलने में जो ऊर्जा अपव्यय होती है वो ऊर्जा मौन से संचित रहती है इससे वाक् सिद्धि है! गुरुदेव को इसलिए गुरुदेव वाग्मी हैं। उनके वचन सिद्धान्त सूत्र रूप में ही निसृत होते हैं। वाणी में इसलिए ही ओज व प्रभावकता है। कहते हैं-मौनं सर्वार्थ साधनम्। मौन अन्तरंग तपस्या है। चुप रहने व मौन में अन्तर है यह गुरुदेव से ही जाना।

एकान्तवास-गुरुदेव बाल्यकाल (प्रायः 6 वर्ष की आयु) से एकान्तवास व मौन साधना कर रहे हैं। इस विवक्तशय्यासन तप की साधना में गुरु से ले सभी शिष्य भी सहयोगी बने हैं। 40-50 साधु संघ में होने पर भी विहार, नगर में भी सभी

गुरुदेव के लिए एकान्त, अलग कक्ष की व्यवस्था करते थे। यहाँ तक कि कुन्थुसागर गुरुदेव भी कहते थे मेरा बेटा पढ़ता है, पढ रहा है कोई उसे परेशान न करे। गुरुदेव के आहार, निवास आदि की अनेक स्वास्थ्यानुकूल उचित व्यवस्था की जाती थी व अभी वर्तमान समय में भी हम उनका विशेष ध्यान रखते हैं। उनके अनुकूल ही व्यवस्था करने का प्रयत्न करते हैं। आचार्य देवनन्दी गुरुदेव ने कहा कि गुरुदेव विविक्त शय्यासन तप करते हैं इसलिए ही इतने गहन विषयों पर शोध-बोध कर पाते हैं।

निस्पृहता-गुरुदेव को ना अपना नाम करने की, ख्याति-पूजा-लाभ की कोई चाहत है ना अयोग्य व्यक्तियों के द्वारा अयोग्य पद्धति से संघ विस्तार की। ना संघ में गाड़ी है ना नौकर। श्रावकाश्रित व्यवस्था ही चलती है। ग्रन्थ छपाने के लिए भी किसी से याचना नहीं करते न संघस्थ ब्रह्मचारी को याचना करने को कहते हैं। गुरुदेव शिष्य-भक्तों से कहते हैं कि मेरे शरीर का ध्यान रखना तुम्हारा काम, मेरा काम तो ध्यान-अध्ययन आत्मा का शोध-बोध करना है अर्थात् गुरुदेव शरीर से भी निस्पृह हैं। अलौकिक निस्पृहता है गुरुदेव की। मैं अनुशासन करूँगा तो मेरा शिष्य-भक्त चला जाएगा ऐसी चिन्ता कभी नहीं करते। जो शिष्य है व गुरुदेव के अनुशासन में है उसे ही उसके सुधार व कल्याण के लिए करुणाभाव से अनुशासित करते हैं, फटकार लगाते हैं। एक विशेषता है कि जो शिष्य-भक्त गुरुदेव के भावों को समझता है वह फटकार मिलने पर भी अधिक तन-मन-धन से जुड़ता है व अनन्य भक्त बन जाता है। गुरुदेव उसे ही डाँटते हैं जो भव्य है व जिसमें सुधार की सम्भावना है, हर किसी को गुरुदेव नहीं डाँटते। भाग्यवान् को ही गुरुदेव की डाँट मिलती है जो आशीर्वाद स्वरूप होती है। उसके जीवन का कल्याण हो जाता है।

जन्म जयन्ति आदि न मनाने का कारण-जब कुन्थुसागरजी गुरुदेव ने गुरुदेव को आचार्य-पद देने की भावना व्यक्त की तो गुरुदेव ने सनम्र स्पष्ट शब्दों में नकार दिया व अनेक वर्षों तक इसे टालते रहे परन्तु गुरुदेव से छोटे शिष्यों को जब आचार्यपद प्रदान किया गया तब समाचार विधि में समस्या आने से आग्रहपूर्वक सन् 1996 में उदयपुर में आचार्य अभिनन्दनसागर गुरुदेव के करकमलों से आचार्यपद के संस्कार हुए थे। गुरुदेव कभी भी नवकोटि से जन्मजयन्ति, दीक्षा-जयन्ति नहीं मनवाते। भक्त-शिष्य गुरुभक्ति से अपना पुण्यार्जन करने के लिए बिना आडम्बर के

मनाते हैं। इस वर्ष कोरोना के कारण ऑनलाईन यह गुरु-शिष्य मिलन महोत्सव मनाया परन्तु प्रारम्भ से ही गुरुदेव इसके विरोधी थे। उन्होंने स्पष्ट मना कर दिया था कि दीक्षाजयन्ति आदि नहीं मनाना। इस कारण हम सभी हतोत्साहित हो गए परन्तु मुनिश्री सुयशगुप्त व मुनिश्री चन्द्रगुप्त, मधोक, ब्र.सन्ध्या दीदी आदि के अथक प्रयास से गुरु-शिष्य मिलन व अभिव्यक्ति रूप में त्रिदिवसीय महामहोत्सव मनाया। परन्तु गुरुदेव ने हमसे कहा कि आगे से ऐसा कार्यक्रम दीक्षा-जयन्ति आदि मत मनाना। मेरे नियमों एवं प्रतिज्ञा की रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है। मुझे दोष लगे ऐसा आप लोक मत करना। इसी वेबिनार में आर्थिका आस्थाश्री माताजी ने निवेदन किया कि हम आपका आचार्यपदारोहण दिवस ऑनलाईन मनायेंगे परन्तु गुरुदेव ने तत्काल माताजी को मना कर दिया।

रोग-गुरुदेव की विदग्ध पित्त प्रकृति होने से अधिक गर्मी, गंदगी दुर्गन्ध, धूल, धुँआ आदि से एलर्जी है। प्रतिकूल वातावरण होने पर, योग्य आहार न मिलने पर और अक्रम से आहार देने पर वमन हो जाता है। गर्मी आदि से आहार के समय में भी चक्कर आने से कई बार गिरे हैं। एक बार कोटा में पीलिया हुआ था सो कक्ष से बाहर भी जाने की शक्ति नहीं थी। ब्र.लीला (वर्तमान में आस्थाश्री माताजी) ने वही चौका लगाना सीखा व गुरुदेव के स्वास्थ्यानुकूल आहार कराकर वैयावृत्ति की। चितरी में 2017 के चातुर्मास में भी 2 दिन आश्विन मास में थोड़ी दूर गाँव के चौके में आहार के लिए गए तो 2 महिने तक स्वास्थ्य खराब रहा...

अतः गुरुदेव उष्णप्रकृति के कारण कूलर, पंखा, ए.सी. का प्रयोग औषध रूप में करते हैं न कि शरीर को सुख देने व प्रमादी बनाने के लिए। ऋतु-अनुकूल, स्वास्थ्यानुकूल वातावरण होने से गुरुदेव अधिक मनन, चिन्तन, शोध-बोध, ग्रन्थ लेखन आदि कर पाते हैं। अतः पंखा, कुलर, ए.सी. आदि की व्यवस्था शिष्य-भक्त स्वेच्छा से करते हैं जिससे गुरुदेव की स्वास्थ्य अनुकूल रहता है।

शहर में नहीं ग्राम में निवास क्यों?-आज के इस आधुनिक अन्धाधुन्द अन्धानुकरण के युग में शहरों में सभी प्रकार के प्रदूषण हैं जिससे साधना कठिन क्या दुःसाध्य है। जिसे आत्मचिन्तन, आत्ममनन, आत्मबोध, आत्मरमण आदि करना है उसे स्वच्छ पर्यावरण चाहिए जो गाँव में ही मिल सकता है। भीड़ से दूर प्रकृति की

छाँव में गाँवों में ही ऐसा अनुकूल वातावरण मिल सकता है। इसलिए 3 चातुर्मास नन्दौड़ में जहाँ श्रावक का 1 ही घर है व 2 चातुर्मास सीपुर क्षेत्र पर किये। शहर हो या कॉलोनी जहाँ ग्रामीण वातावरण हो, लोगों में सद्भावना, साहचर्य, उदार भावना हो, आपस में स्नेह हो वहीं गुरुदेव निवास करते हैं। ग्रामीण वातावरण ही गुरुदेव की प्रकृति व स्वभाव के अनुकूल है। आचार्य श्री प्रज्ञासागरजी ने भी इसका समर्थन किया है।

रिसर्च सेंटर—अनुमानसागरजी ने कहा कि गुरुदेव चलते-फिरते रिसर्च सेंटर है। वे सतत शोध-बोध अनुसंधान (आत्मा से परमात्मा बनने का) करते हैं। आपके मनन-चिन्तन से जो नवनीत निकलता है वह प्रमाण है, सूत्र है, सिद्धान्त है।

निडरता—गुरुदेव बाल्यकाल से निडर हैं। 6 वर्ष की आयु से एकान्तवास व वन, पर्वत पर अकेले भ्रमण करते थे। 1990 की एक घटना है आचार्य कुशाग्रनन्दी जी ने बताया कि संघ बडोत चातुर्मास करके मुजफ्फनगर में आया। संघ में 40-45 साधु-साध्वी थे। संघ का सम्पूर्ण नेतृत्व, अनुशासन गुरुदेव का था। उसी समय नगर में साम्प्रदायिक दंगा हुआ जिससे मार्शल लॉ लग गया। व्यक्ति को बाहर देखते ही गोली मारने का ऑर्डर था। समाज को चिंता हुई की अब साधु की आहार चर्या... का क्या होगा? सभी आ. कुन्धुसागरजी के पास आए और निवेदन किया कि अब क्या होगा। आप हमें यहाँ धर्मशाला में चौका लगाने की अनुमति दे तब गुरुदेव ने कहाँ कि संघ संचालक उपाध्याय कनकनन्दीजी है अतः उनसे चर्या कीजिए। समाज प्रमुखों ने कनकनन्दी जी गुरुदेव से विनती की परन्तु गुरुदेव से निडरता से कहा कि सूर्य, चन्द्र, पेड़-पौधें, पशु पक्षी आदि मानव निर्मित ये कानून मानते हैं क्या? हम भी प्राकृतिक जीवन जीते हैं, वसुधा हमारा कुटुम्ब है, सत्वेषुमैत्री हमारा भाव है। आप लोग अपने घर पर ही चौका लगाओ। गुरु आज्ञा शिरोधार्यकर समाज ने घर-घर चौके लगाए। आहारचर्या हेतु श्रीसंघ निकला तो सेना व पुलिस की अनेक गाडियाँ आयी परन्तु उपाध्यायश्री कनकनन्दी के नेतृत्व में श्रीसंघ शान्ति से श्रावक के घर पहुँचा व निर्विघ्न आहार चर्या सम्पन्न हुई।

एक दिन गुरुदेव दंगाग्रस्त शहर का दूरबीन से निरीक्षण कर रहे थे तब देखा कि एक पुलिस एक निर्दोष दुधवाले को मार रहा था तो करुणाहृदयी गुरुदेव से न रहा

गया। गुरुदेव ने पुलिस वाले को बुलाकर फटकार लगायी कि निर्दोष, निरपराध, गरीब व्यक्ति को मारने का आपको कोई अधिकार नहीं है। ऐसे हैं हमारे क्रांति के अग्रदूत निर्भीक आचार्यश्री कनकनन्दी गुरुदेव !

बाबानगर यात्रा-आचार्यश्री कुशाग्रनन्दीजी ने अपने व्याख्यान में एक संस्मरण बाबानगर यात्रा का सुनाया। आचार्यश्री कुन्धुसागरजी गुरुदेव मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा हेतु मुम्बई जा रहे थे। कुछ साधु-साध्वियाँ स्वेच्छा से उपाध्यायश्री कनकनन्दी जी के पास ही रूक गये। संघ महती प्रभावना करते हुए एनापूर से खोउटखोप पहुँचा। वहाँ धार्मिक संस्कार भी शिविर भी लगाया। संघस्थ साधुओं में उपाध्यायश्री से सनम्र करबद्ध निवेदन किया कि बाबानगर यात्रा के लिए चलिए। संघ की भावना देखकर उपाध्यायश्री ने विचार किया। 1986 में बाबानगर चलने को तैयार हुए परन्तु...

श्रीसंघ से कहा कि मैं इस विहार के लिए किसी से याचना, सहायता नहीं मागूंगा। उपवास करने की तैयारी हो तो मैं चलने को तैयार हूँ। सभी साधु विहार हेतु तैयार हो गए। साधुओं का पुण्य प्रबल होता है। खउटखोप के बच्चें विहार में चलने को तैयाए हुए। दो दिन चौंके की पूर्ण व्यवस्था बच्चों ने ही की। महती प्रभावना कर संघ बाबानगर पहुँचा। यह सुखद यात्रा संस्मरण मन को आह्लादित करता है व गुरुदेव की अयाचक-वृत्ति का अनूठा उदाहरण है।

गुरुदेव तो गुणों के आकर/खानी है। इनके ज्ञान का कोई सानी नहीं है। मेरा परम सौभाग्य/पुण्योदय है ऐसे अलौकिक गुरु की निश्रा व चरणसेवा का पुण्यलाभ मिल रहा है। मैं उनके गुणों की प्राप्ति हेतु 'वन्दे तद्गुण लब्धये' नव कोटि से त्रय भक्ति युक्त त्रियोग से अनन्त-अनन्त नमन करती हूँ।

चरणचंचरिका

आर्यिका सुवत्सलमती

**जितना ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे स्वयं के अज्ञान के
बारे में पता चलता : धर्माचार्य**

सागवाड़ा। पुनर्वास कॉलोनी के विमलनाथ दिगंबर जैन मंदिर में मंगलवार

को वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी गुरुदेव ने देश विदेश के वैज्ञानिकों, साधु-साध्वी और शिष्यों की वेबिनार में ज्ञान और अज्ञान के बीच के भेद के बारे में बताया। जैन आचार्य ने कहा कि जितना ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे वैसे स्वयं के अज्ञान के बारे में ज्ञात होता जाता है। जो अज्ञानी होता है वह स्वयं को ज्ञानी मानता है। शांत, साम्यता, समता अनंतकाल तक रहती है क्योंकि यह जीव का स्वभाव है। क्रोध क्षणिक रहता है क्योंकि यह विभाव है। जैसे जल को कितना भी गर्म करें वह ठंडा हो जाएगा क्योंकि शीतलता उसका स्वभाव है। क्रोध, द्वेष, घृणा आदि विभाव है इसके बिना अनंतकाल तक जीव रह सकता है। क्रोध आदि विभाव से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं तथा समता शांति से सब रोग नष्ट हो जाते हैं। (दैनिक भास्कर)

पूर्व सीजेआई गोगोई का बयान इशारा है कि अदालतें खुद के सिस्टम को सुधारने के लिए ठोस कदम उठाएं जर्जर न्यायिक व्यवस्था को दुरुस्त करने का रोड मैप

-विराग गुप्ता, सुप्रीम कोर्ट के वकील

भारत की न्यायिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न है और कोई पीडित व्यक्ति यदि अदालत में जाए तो उसे न्याय की बजाय छीछलेदर मिलती है। ऐसी बातें कोई आम आदमी बोले तो शायद उसके खिलाफ अदालत की अवमानना का मामला बन जाएगा। लेकिन देश के पूर्व चीफ जस्टिस और राज्यसभा के सांसद रंजन गोगोई जब कैमरे के सामने बेबाकी से ऐसी स्वीकारोक्ति करें तो यह पूरे सिस्टम को शर्मसार करने का मामला बनता है। चीफ जस्टिस बनने के पहले जनवरी 2018 में भी गोगोई ने चार जजों के साथ प्रेस कॉन्फ्रेंस करके सनसनीखेज आरोप लगाए थे। इस टूटे हुए सिस्टम को टैक ठीक करने के लिए, सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस के तौर पर उन्होंने क्या, कैसे और कितनी कार्रवाई की? इस विवाद में फंसने की बजाय गोगोई साहब के इस बयान पर सार्थक सहमति बनना चाहिए, जिसमें उन्होंने कहा है कि 5 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था बनने के लिए भारत में न्यायिक सिस्टम को दुरुस्त करना होगा।

जनवरी 2021 में देश की जिला अदालतों में लगभग पंजाब-3.75 करोड़

और 25 हाईकोर्ट में लगभग 56 लाख मामले लंबित हैं। इनमें 70% से ज्यादा मामले फौजदारी के हैं, जिनमें विलम्ब की वजह से लाखों बेगुनाह जेलों में सड़ रहे हैं। नीति आयोग की रिपोर्ट पर गौर फरमाएं तो इन लंबित मामलों का फैसला आने में लगभग 324 साल और लग सकते हैं। भारत के शहरों का कायाकल्प करने के लिए नेता चीन, यूरोप व अमेरिका के मॉडल दोहराने की ऐसी बात करते हैं। लेकिन यूरोप, अमेरिका की तर्ज पर जल्द न्याय का सिस्टम बनाने का अभी तक किसी सरकार ने प्रयास नहीं किया। गोगोई साहब के इंटरव्यू से प्रेरणा लेकर यदि सरकार, संसद और जज ठान लें तो इन छोटे चार स्वीकारोक्ति कदमों से ही न्याय का भग्न मंदिर जगमग हो सकता है।

1. कोरोना काल में लॉकडाउन के दौरान समाज और अर्थव्यवस्था पूरी तरह से ठप्प होने के बावजूद, अदालतों में 60 लाख से ज्यादा मुकदमों का बोझ बढ़ गया। थिंक टैंक सीएएससी की पेटीशन से जाहिर है कि आईपीसी के की धारा 188 के तहत पुलिस को सीधे एफ आईआर दर्ज करने का कानूनी हक नहीं है। इसके बावजूद देश के सभी राज्यों में छुटपुट मामलों में लाखों आपराधिक मुकदमे दर्ज कर लिए गए। हमने इस मसले पर राष्ट्रीय बहस शुरू की, जिसके बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने ढाई लाख मुकदमे वापस लेने की नेक पहल की है। छत्तीसगढ़ और पंजाब-हरियाणा हाईकोर्ट के फैसलों को नजीर मानते हुए, अब सुप्रीम कोर्ट भी इस मामले में आदेश पारित करे तो सभी राज्यों में पुलिस, जनता और अदालतों को बेवजह के मुकदमों के बोझ से मुक्ति मिलेगी।

2. देश की राजधानी दिल्ली की जिला अदालतों के जज अपने घरों से ऑनलाइन सुनवाई कर रहे हैं। लेकिन अधिकांश मामलों में उनके पास कोई केस फाइल ही नहीं होती तो फिर सुनवाई और फैसला कैसे होगा? देश में एक लाख से ज्यादा मुकदमे 30 साल से ज्यादा पुराने हैं। सबसे पुराना मामला तो सन् 1951 से अदालतों में भटक रहा है। बेहमई कांड में 20 लोगों के नरसंहार के आरोपियों को सजा दिलाने के लिए पीड़ित पक्ष अदालतों के इंटरव्यू चक्कर काट रहा है लेकिन केस डायरी नदारद होने से फैसला नहीं हो पा रहा। गोगोई साहब ने सही कहा है कि अदालतों में बड़ी कंपनियों और बड़े लोगों की ही सुनवाई होती है। लेकिन इसका

खामियाजा तो आम जनता को ही भुगतना पड़ता है। पुराने लंबित मामलों पर पहले सुनवाई हो और नए दायर मामले कतार में सबसे पीछे जाएं। तभी सच्चे अर्थों में अदालतों में समानता और कानून का शासन लागू होगा।

3. न्यायिक व्यवस्था में मूलभूत बदलाव करने की बजाय, जजों की संख्या बढ़ाने का प्रस्ताव, समाधान के से ज्यादा समस्याएं बढ़ा सकता है। देश की निचली अदालतों में 5000 और हाईकोर्ट में 400 से ज्यादा जजों की वैकेंसी है। पिछले 2 साल से देश में विधि आयोग भी नहीं है। पूर्व चीफजस्टिस गोगोई के 13.5 महीने के कार्यकाल में सुप्रीम कोर्ट के 14 और हाईकोर्ट के 146 जजों की नियुक्ति हुई थी। लेकिन रस्साकसी के चलते वर्तमान चीफजस्टिस बोबड़े पिछले एक साल में अभी तक सुप्रीम कोर्ट में किसी भी जज की नियुक्ति नहीं कर पाए। इसलिए जजों की संख्या बढ़ाने से ज्यादा जरूरी है, खाली पदों पर भर्ती करना। इससे युवाओं को रोजगार के साथ जनता को जल्द न्याय मिलेगा।

4. जिला अदालतों में जजों की भर्ती तो परीक्षा और इंटरव्यू से होती है, लेकिन हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में मनमाने तौर पर जजों की नियुक्ति, ट्रांसफर और प्रमोशन होता है। सुप्रीम कोर्ट ने खुद के फैसले से जजों की नियुक्ति के लिए बनी कॉलेजियम प्रणाली को दोषपूर्ण और सड़ांधपूर्ण बताया था। इसके बावजूद पिछले 6 सालों से सिस्टम को ठीक करने के लिए मेमोरेंडम ऑफप्रोसीजर यानी एमओपी में बदलाव के लिए सरकार और सुप्रीम कोर्ट में सहमति नहीं बन पा रही। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'। सरकारी सिस्टम को ठीक करने से ज्यादा जरूरी है कि अब अदालतें खुद के सिस्टम को ठीक करने के लिए ठोस कदम उठाएं।

(दैनिक भास्कर)

‘रिवर्स थिंकिंग’ से मिल सकता है समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान

सबसे खराब आइडिया ही पहुंचाएगा श्रेष्ठ विचार तक

नया आइडिया तलाश रहे हैं तो सबसे खराब के बारे में सोचें। समस्या सुलझाने का सबसे खराब आइडिया क्या होगा है? ऐसे आइडिया सोचें जो आपको हंसी का पात्र बना दे। अब इस सोच को पलटकर, नए सिरे से सोचें। इसे ‘रिवर्स थिंकिंग’ कहते हैं। सबसे खराब सोचकर सबसे अच्छे आइडिया हासिल कर

सकते हैं। ('टू कम अप लिद अ गुड आइडिया स्टार्ट बाय इमैजनिंग द वर्स्ट आइडिया पॉसिबल', आएसे बिरसेल)

काम के दौरान गलतियों से घबराएं नहीं, उनसे सीख लें

काम करते हुए गलती हो जाए तो ये नहीं सोचना चाहिए कि 'मैं इस काम के लिए सही व्यक्ति नहीं हूँ।' यह सोचें कि 'इस काम को करने के लिए जो कौशल चाहिए उसे मैंने अभी तक विकसित नहीं किया है।' गलती को समझने से न सिर्फ आपका आत्म-सम्मान बना रहेगा बल्कि आप ये भी जान पाएंगे कि आखिर आपसे ये गलती किन कारणों से हुई।

('गुड लीडर्स आर गुड लर्नर्स', लॉरेन ए.कीटिंग)

कैसे जानेंगे कि आप जरूरत से ज्यादा काम कर रहे हैं

आखिरी बार कब आपने काम से छुट्टी ली थी ? आप वीकेंड्स पर भी काम कर रहे हैं? यह दर्शाता है कि आप खुद को जरूरत से ज्यादा थका रहे हैं। जब किसी से मिलते हैं तो क्या वहां पूरी तरह मौजूद होते हैं? बाहर भी फोन और ईमेल्स करना सामान्य नहीं है। जीवन में संतुलन लेकर आएं। जरूरत से ज्यादा काम करके परफॉर्मेंस बिगड़ता है। (आर यू पुशिंग यॉरसेल्फ टू हार्ड एट वर्क, रेबेका जुकर)

मुश्किल प्रेजेंटेशन की किस तरह तैयारी करते हैं आप

मुश्किल प्रेजेंटेशन से पहले अभ्यास करने का मतलब ये नहीं कि हर लाइन रटना है। उद्देश्य ये होना चाहिए कि आप जो भी बोलें पूरे आत्मविश्वास के साथ बोलें। शुरुआत और अंत में थोड़ा ज्यादा बोलने की कोशिश करें। संक्षिप्त परिचय देकर अपना संदेश दें। अभ्यास करते समय फोन पर रिकॉर्ड भी कर सकते हैं। ऐसे भी गलतियां सुधार सकते हैं।

(हाउ टू रिहर्स फॉर एन इंपोर्टेंट प्रेजेंटेशन, कारमीन गैलो)

आपके करियर को ऐसे प्रभावित करती है इमोशनल इंटेलिजेंस

ब्राइटन स्कूल ऑफ बिजनेस एंड मैनेजमेंट द्वारा किए एक शोध में पाया गया कि सफलता के लिए आईक्यू (इंटेलिजेंस कोशंट) से ज्यादा इमोशनल इंटेलिजेंस (भावनात्मक बुद्धिमत्ता) जरूरी है।

क्या है इमोशनल इंटेलिजेंस और यह कैसे काम करती है

स्वयं की एवं दूसरों की भावनाओं को समझने, व्यक्त करने और नियंत्रित करने की योग्यता है इमोशनल इंटेलिजेंस। अपनी भावनाओं को समझकर उनका उचित प्रबंधन करना भी यही है।

1. इमोशनल इंटेलिजेंस तनाव कम करती है।
2. लोगों के साथ काम करने की काबिलियत बढ़ाती है।

सफलता के लिए क्यों जरूरी है इमोशनल इंटेलिजेंस

शोध बताते हैं कि काम के सर्वोच्च प्रदर्शन के लिए आवश्यक 67 प्रतिशत गुण आपकी भावनात्मक बुद्धिमत्ता के साथ ही जुड़े हुए हैं।

शोध में यह भी पाया गया है कि काम के सर्वोच्च प्रदर्शन के लिए बुद्धिमानी या तकनीकी बुद्धिमत्ता से दोगुना ज्यादा मायने रखती है भावनात्मक बुद्धिमत्ता।

इमोशनली इंटेलिजेंट लोगों को साथ में रखें क्योंकि वे

कठिन को आसान बना देते हैं। खुद को बेहतर व्यक्त कर पाते हैं। दूसरों का सम्मान पाते हैं। दबाव महसूस करते हुए भी सहज रहते हैं। सही नतीजों के लिए सही बात करना जानते हैं। समय पर काम पूरा करने के लिए खुद का उत्साह बढ़ाते हैं।

खराब परिस्थितियों में भी सकारात्मक बने रहते हैं।

इमोशनली इंटेलिजेंट सीईओ में यह नाम शामिल हैं...

अपने ग्राहकों के दिल और दिमाग को बहुत अच्छी तरह समझते हैं और इसी आधार पर अपने काम को आगे बढ़ते हैं। -जेफ बेजोस (अमेज़ॉन)

कंपनी और लोगों से प्रेम इन्हें खींच लाया। कर्मचारियों की सेहत को अपनी जिम्मेदारी समझते हैं और निभाते भी हैं। -हॉवर्ड शल्ट्ज (स्टारबक्स)

क्यों हायर करना चाहिए इमोशनली इंटेलिजेंट स्टाफ

आत्म-जागरूक-जो आत्म-जागरूक है वो अपनी कमजोरी और ताकत को पहचानेगा। उसे मालूम होगा कि दूसरी पर क्या असर होगा। वो आलोचना को सहज ही स्वीकारेगा।

स्व-प्रेरित-पैसे और पद के लिए काम नहीं करते। काम की प्रेरणा अंतर में मिलती है। विपरीत परिस्थितियों में सकारात्मक रहते हैं। अंदर से प्रेरित होते हैं तभी काम करते हैं।

विश्वसनीय-लोगों पर भरोसा करते हैं और किसी का भरोसा नहीं तोड़ते। पीठ पीछे बुराई करने से बचते हैं। सभी को सम्मान देते हैं और बदले के सम्मान पाते भी हैं।

सुख के लिए दिमाग को करें प्रशिक्षित

दुनियाँ में कोई भी नहीं है जो दुखी रहना चाहे। लेकिन ऐसा क्या करें कि हम अपने जीवन में खुश रह सकें। जानते हैं हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के एक्सपर्ट से-

हम जब दूसरों की जिंदगी को देखते हैं तो मन में एक हूक-सी उठती है कि काश हमारी जिंदगी भी उतनी ही आसान और होती जितनी उनकी है। हैरानी की बात है हर इंसान को यही लगता है कि उसकी जिंदगी में जो चुनौतियाँ हैं दूसरा सोच भी नहीं सकता। लेकिन सभी जानते हैं कि ऐसा नहीं है। जीवन में सुख है तो दुख है। आंसू है तो मुस्कुराहट भी तो है हम चाहें तो खुश रह सकते हैं। एक्सपर्ट्स की बातों पर अमल करें और वादा नहीं तो कोशिश करें कि हमखुश रहेंगे। बस हमें अपने दिमाग को इसके लिए प्रशिक्षित करना होगा।

बढ़ाएं आंतरिक शक्ति

हर इंसान को अपनी कमी और अपना मजबूत पक्ष पता होता है। खुश रहना चाहते हैं तो जानिए कि आपके व्यक्तित्व में कौन-से मजबूत पक्ष हैं। एक स्टडी से यह बात पता चली है कि वे इंसान जिन्होंने अपने मजबूत पक्ष को समझा वे सुखी रहे। खुद का विश्लेषण कर जाने कि वे कौन सी बातें हैं जो आपको दूसरों से अलग और मजबूत बनाती हैं।

आभारी रहें आप

अपने दोस्तों और रिश्तेदारों से संबंधों को अच्छा रखें। संबंधों से होने वाले तनाव आपको दुखी करते हैं। अपने दोस्तों और रिश्तेदारों से मौके-मौके पर मिलते

रहें। वे जो भी आपके साथ अच्छा काम करें उसके लिए उनके आभारी बनें। आप जान पाएंगे कि रिश्तों की यह मिठास आपके मूड को कैसे अच्छा रखेगी।

दूढ़ें कुछ मौके

जीवन में अपने छोटे-छोटे मौकों और लम्हों के साथ खुशियों को जीना सीखें। कोशिश करें अपनी छोटी खुशियों को सेलिब्रेट करने की। लम्हों को जीना ही तो सही मायने में जीवन को समझना है।

मम साध्य साधन स्वतंत्र सम्पूर्ण हेतु

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1.भातुकली... 2.तुम दिल की धड़कन...)

धीर गम्भीर सरल जीवन, बनाऊँ मैं साम्य निर्मल।

सहज मधुर नम्र शीतल, साधना करूँ (मैं) अकिंचित्कर॥

आत्मानुशासी आत्मनिर्भर, संयम पालूँ (मैं) बाह्याभ्यन्तर।

लक्ष्य महान् आत्मकल्याण, ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व शून्य॥ (1)

करुणा करूँ मैत्री पालूँ, हर जीव के आत्मा को सम मानूँ।

गुण को चाहूँ गुणी को मानूँ, गुण-गुणी की प्रशंसा करूँ॥

निर्मल श्रद्धा प्रखर प्रज्ञा, सनम्रसत्यग्राही उदारमना।

क्षमा से युक्त कषाय मुक्त, द्वन्द्व व ग्रन्थी से होऊँ विमुक्त॥ (2)

भेदविज्ञानी बनूँ भेदभाव न करूँ, निस्पृह निराडम्बर व्यापक बनूँ।

वित्त न चाहूँ वीतरागी (मैं) बनूँ, चित्त शुद्धि हेतु साधना करूँ॥

भीड़ प्रदर्शन ढोंग न करूँ, आत्मदर्शन आत्मविकास करूँ।

प्रतिस्पृद्धा न करूँ प्रगति करूँ, अनन्तआत्मवैभव प्राप्त करूँ॥ (3)

अक्षय अनन्त आत्मशक्ति पाऊँ, इस हेतु ही साधना करूँ।

आत्मगौरव जानूँ आत्मगौरव मानूँ, दीन हीन दम्भ परे मैं चाहूँ॥

मेरा मान इन्द्र चक्री से परे, अक्षयअनन्तवैभव पूरे।

अतः मैं शान्त स्वयं में तुष्ट/(तृप्त), अतः स्वाधीन स्वयं में पूर्ण॥ (4)

स्वयम्भू सनातन अनादिअनिधन, शुद्धबुद्ध मैं आनन्दधन।

इस मैं ध्याऊँ इसे मैं पाऊँ, अतः 'कनक' स्वयं में लीन रहूँ॥ (5)

विषयानुक्रमणिका

| क्र. | विषय | पृ.सं. |
|------|---|--------|
| 1. | कुलाधिपति श्रमणाचार्य श्री कनकनन्दी गुरुवर की दिव्य देशना वेबिनार में खिर रही ! | 3 |
| 2. | आचार्यश्री कनकनन्दी गुरुदेव की भावना फलीभूत हो रही ! | 3 |
| 3. | श्री कनकनन्दी गुरु वन्दना | 4 |
| 4. | “कनक-काव्य-सृजन” | 5 |
| 5. | आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव से प्राप्त प्रायोगिक शिक्षाएँ | 5 |
| 6. | कोरोना काल आध्यात्मिक क्रांति लेकर आया | 6 |
| 7. | निस्पृही-आत्मानुशासी कनकनन्दी गुरुवर | 7 |
| 8. | वैयावृत्ति सम्बन्धी मेरा अनुभव | 7 |
| 9. | तीर्थेश पद का आधार वैयावृत्ति | 8 |
| 10. | वेबिनार से प्राप्त शिक्षा | 9 |
| 11. | गुरु-शिष्य मिलन समारोह | 10 |
| 12. | गुरु भक्त शिष्यों का अद्भुत निवेदन चातुर्मास हेतु | 11 |
| 13. | अद्वितीय गुरु शिष्य सम्मलेन-वेबिनार में | 12 |
| 14. | जर्जर न्यायिक व्यवस्था को दुरस्त करने का रोड मैप | 21 |

अनन्तआत्मशक्ति प्राप्ति हेतु

| | | |
|-----|--|-----|
| 1. | परमात्मा स्तुति | 30 |
| 2. | स्व-पर प्रकाशी भाव-काम मैं करूँ | 30 |
| 3. | मम स्वभाव ही मम-वैभव | 31 |
| 4. | मेरी प्रभुत्व-विभुत्व शक्ति | 41 |
| 5. | अभी हूँ अपूर्ण/(अल्पज्ञ) बनना है सम्पूर्ण (सर्वज्ञ) | 75 |
| 6. | अनन्त शक्ति प्राप्ति हेतु करूँ पुरुषार्थ | 83 |
| 7. | लौकिक जन सम स्व उपकार करूँ | 91 |
| 8. | कृतकृत्य प्रभु बनने हेतु-आत्मशुद्धि-शान्ति शक्ति की पूर्णता करूँ | 104 |
| 9. | गुणी पूजनीय न कि निन्दनीय | 105 |
| 10. | कुदृष्टि की धर्मप्रभावना V/S सुदृष्टि की धर्म प्रभावना | 113 |
| 11. | भौतिक विज्ञान से जाना आध्यात्मिक विज्ञान श्रेष्ठ-ज्येष्ठ | 148 |
| 12. | आत्मविजयी महावीर मुनि बाहुबली-भगवान् बाहुबली | 183 |

| | | |
|-----|---|-----|
| 13. | अनुभवादि से मैं जाना-माना-मैं हूँ अनन्तबोधात्मक आत्मा | 212 |
| 14. | आत्मविशुद्धि हेतु आत्मसुधार के लिए आत्मसम्बोधन | 285 |
| 15. | निस्पृहता से मुझे हो रही है उपलब्धियाँ | 298 |
| 16. | स्वश्रद्धा-प्रज्ञा के अनुसार करूँ भाव-व्यवहार | 321 |
| 17. | मेरा स्वशुद्धात्मा के अनन्तगुण-स्मरण | 322 |
| 18. | सूक्ष्म-व्यापक आध्यात्मिक 12 अनुचिन्तन | 323 |
| 19. | मेरी अनन्तशक्ति से मेरा अस्तित्व शाश्वत | 340 |
| 20. | शाश्वतिक अनन्तविश्व-अनन्त (6) द्रव्य-अनन्त जीव | 359 |
| 21. | श्री कनकनन्दी गुरुवर की विशेषताएँ (8 खूबियाँ) | 364 |

‘रोगों से बचाव के लिए प्रार्थना थैरेपी भी जरूरी’

सागवाडा। पुनर्वास कॉलोनी के विमलाथ दिगम्बर जैन मंदिर में सोमवार को वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनन्दी गुरुदेव के ससंघ सानिध्य में भगवान् आदिनाथ का जन्मकल्याणक व तपकल्याणक महोत्सव मनाया। प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक व भक्तामर विधान हुआ। वेबिनार में महाराष्ट्र के धर्मक्षेत्र से प्रज्ञायोगी आचार्य गुप्तिन्दी महाराज ने महावीर जयंती तक चल रहे वर्द्धमानोत्सव की जानकारी दी। कनकनन्दी गुरुदेव को शब्द सुमन अर्पित करते उन्होंने कहा कि यूं तो सर पर ताज नहीं गुरुवर, पर पूरे जग पर राज करें गुरुवर। आचार्य कनकनन्दी महाराज ने कोरोना महामारी से बचने के उपाय और आशीर्वाद देते हुए कहा कि विश्व कल्याण की महान् भावना ही महान् औषधि है। उन्होंने रोगों से बचाव व रोग मुक्ति होने के लिए औषधि को 40 फीसदी कारगर बताते हुए कहा कि साठ फीसदी प्रार्थना थैरेपी भी जरूरी है, यह मनोविज्ञान चिकित्सा है। शारीरिक व मानसिक रोगों के साथ समस्त दुःखों को दूर करने के लिए उत्तम विचार, उत्तम कथन तथा उत्तम व्यवहार करना चाहिए। रोगों का मूल मन के भाव, व्यवहार और कथनों से 95 फीसदी रोग घर कर जाते हैं। प्रेयर थैरेपी में आस्था व आत्मविश्वास का भाव होता है। भाव से ही पुण्य बंध व पाप बंध होता है। विज्ञान के अनुसार जैसे भाव होंगे वैसे ही हॉर्मोन स्रावित होंगे। **धर्मतीर्थ पर चातुर्मास का आग्रह**-धर्मतीर्थ सेवा समिति के अध्यक्ष तथा श्रद्धालुओं ने आचार्य से वर्षायोग चातुर्मास धर्मतीर्थ पर करने का आग्रह किया। आचार्य गुप्तिन्दी तथा आस्थाश्री माताजी ने भी धर्म तीर्थ का प्राकृतिक वातावरण स्वास्थ्य के लिए अनुकूल बताते हुए आचार्य कनकनन्दी से चातुर्मास का आग्रह किया। श्रद्धालुओं ने गुरुदेव की ऑनलाइन आरती उतारी। **पत्रिका-6 अप्रैल 2021**

अनन्तआत्मशक्ति प्राप्ति हेतु

परमात्म स्तुति

तुभ्यं नमोऽस्तु सत्यरूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु चिदानन्दाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु ज्ञानरूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु वीर्यरूपाय...(1)...
तुभ्यं नमोऽस्तु द्रव्य रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु गुणरूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु शुद्ध रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु बुद्ध रूपाय...(2)...
तुभ्यं नमोऽस्तु शिव रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु ब्रह्म रूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु प्रभु रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु विभु रूपाय...(3)...
तुभ्यं नमोऽस्तु वीतरागाय...तुभ्यं नमोऽस्तु स्वच्छ रूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु अमृत रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु अमूर्त रूपाय...(4)...
तुभ्यं नमोऽस्तु कर्ता रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु भोक्ता रूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु अजर रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु अमर रूपाय...(5)...
तुभ्यं नमोऽस्तु तत्त्व रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु भाव रूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु आत्म स्थिताय...तुभ्यं नमोऽस्तु सर्वगताय...(6)...
तुभ्यं नमोऽस्तु सूक्ष्म रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु विश्व रूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु ध्रुव रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु व्यय रूपाय...(7)...
तुभ्यं नमोऽस्तु साम्य रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु सुख रूपाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु शून्य रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु पूर्ण रूपाय...(8)...
तुभ्यं नमोऽस्तु परमेश्वराय...तुभ्यं नमोऽस्तु जगदीश्वराय...
तुभ्यं नमोऽस्तु निर्विकल्पाय...तुभ्यं नमोऽस्तु सर्वज्ञाताय...(9)...
तुभ्यं नमोऽस्तु अनन्त रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु गुणार्णवाय...
तुभ्यं नमोऽस्तु मोक्ष रूपाय...तुभ्यं नमोऽस्तु आत्म रूपाय...(10)...

‘कनक’ वन्दे आत्म/(स्वात्म) रूपाय...

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-17-2-2021, रात्रि-8.12 (केशलौच)

स्व-पर-प्रकाशी भाव-काम मैं करूँ

(चाल: 1.तुम्हीं मेरे मन्दिर... 2.देहाची तिजोरी...) -आचार्य कनकनन्दी

पावन से पावन बनता जाऊँ, क्रोधमान माया लोभ त्यागता जाऊँ,

सरल-सहज मृदु बनता जाऊँ, अहंकार-ममकार (द्वन्द्व) त्यागता जाऊँ।
 ज्ञान-ध्यान-तप-त्याग बढ़ाता जाऊँ, संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागता जाऊँ,
 स्वतंत्र-स्वावलम्बी-शुद्ध बनता जाऊँ, अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा त्यजता जाऊँ। (1)
 ईर्ष्या तृष्णा घृणा त्यागता जाऊँ, स्वपर विश्वहित भावना भाऊँ,
 संकीर्ण-कट्टरता त्यजता जाऊँ, उदार-सर्वोदयी भावना भाऊँ।
 संकीर्ण-संक्लेश स्वार्थ को त्यागूँ, व्यापक शान्त परमार्थी बनूँ।
 परनिन्दा-अपमान-वैरत्व त्यागूँ, मैत्री प्रमोद करुणा साम्य धरूँ॥ (2)
 सत्यशिव सुन्दर बनता जाऊँ, स्वपर प्रकाशी भाव-काम करूँ,
 स्व-आदर्श से शिक्षा-प्रेरणा दूँ, परोपदेशी पाण्डित्य काम न करूँ।
 आत्मविशुद्धि से आत्मशक्ति बढ़ाऊँ, ख्यातिपूजा लाभ वर्चस्व त्यागूँ।
 गुण-गुणी, दोष-दोषी से शिक्षा लहूँ, सब से उपकृत बनता जाऊँ॥ (3)
 ढोंग-पाखण्ड-आडम्बर त्यागूँ, आत्मश्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या करूँ,
 विभाव-परमभाव को त्यागता जाऊँ, स्वभाव-सहजानन्द को पाऊँ।
 स्वयं में स्वयं द्वारा स्वयं को पाऊँ, पर कर्ता-धर्ता-भोक्ता न बनूँ,
 निष्कम्प-निर्द्वन्द्व-निर्मल बनूँ, 'कनकनन्दी' मैं सच्चिदानन्द बनूँ॥ (4)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा, दि-29/01-2021 प्रातः 8.02

यह कविता देवेन्द्र जैन (चितरी) के कारण बनी। उन्होंने कहा गुरुदेव।
 आपने वेबिनार में जब कहा कि मुझे बालाग्र का भी ज्ञान नहीं है तब मैं सोचा
 कि हमें पूजा आती है उसी में ज्ञानी मानते हैं और आचार्यश्री स्वयं को क्या
 मान रहे हैं उससे मेरा घमण्ड चूर-चूर हो गया।)

मम स्वभाव ही मम-वैभव

(स्ववैभव में/(से) ही अनन्त सुख, विभाव व सांसारिक-
 वैभव में (से) दुःख)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.आत्मशक्ति... 2.देहाची तिजोरी... 3.भातुकली... 4.क्या मिलिए...)

मम स्वभाव ही है मम-वैभव, उसमें/(से) करूँ मैं आत्मगौरव।

अन्य सभी विभाव परद्रव्य, उसमें/(से) न करूँ मैं गौरव॥

मम स्वभाव सच्चिदानन्दमय, सत्यशिव सुन्दर कन्द।
 अनन्तज्ञान दर्श सुखवीर्यमय, अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व॥ (1)
 तन मन इन्द्रिय रिक्त चिन्मय, द्रव्यभावनोकर्म शून्य अमूर्त।
 स्वयंभू सनातन अनादि अनिधन, शुद्धबुद्ध आनन्द कन्द॥
 इसके अतिरिक्त सभी विभाव, द्रव्यभावनोकर्म या परद्रव्य।
 सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रह, अन्तरंग बहिरंग परिग्रह॥ (2)
 अनादिकालीन कर्म बन्ध से; बना हूँ मैं अशुद्ध-विभाव।
 जिससे हुआ स्वभाव से च्युत; भ्रमा हूँ पंचपरिवर्तन अनन्त॥
 विश्व के हर कण भोगा-त्यागा, विश्व के हर क्षेत्र में जन्मा-मरा।
 भूत के हरकाल में जन्मा-मरा, चौरासीलक्षयोनियों में जन्मा-मरा॥ (3)
 किया अशुभ भाव असंख्यलोक प्रमाण, आत्म-वैभवपाना ही अभी शेष।
 आत्मवैभव से पाऊँगा परमानन्द, अन्यथा/(इन्द्र) चक्री तक में न परमानन्द॥
 ऋषभदेव के पुत्र चक्री भरत, क्षायिक सुदृष्टि मोक्षगामी तद्भव।
 दिग्विजय पूर्ण हेतु किया संग्राम, चारित्रमोह से होकर पराभव॥ (4)
 स्व-अनुज बाहुबली कामदेव से, किन्तु परास्त हुआ तीनों युद्ध में।
 तथापि चक्ररत्न किया प्रयोग; किन्तु बाहुबली थे सदा अवध्य॥
 इससे हुआ बाहुबली को वैराग्य, सत्ता-सम्पत्ति कीर्ति से विरक्त।
 संसार शरीर भोग से हुए विरक्त, आत्मवैभवहेतु त्यागे राज्यवैभव॥ (5)
 भरत चक्री भी अन्त में हुए विरक्त, जिससे वे हुए शुद्ध बुद्ध आनन्द।
 शुद्धात्मा स्वरूप ही है परमानन्द; 'कनक' चाहे अतः आत्म-वैभव॥
 इस हेतु ही मम सभी साधना; तप त्याग से ले ज्ञानाराधना।
 ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि परे, आत्मवैभव प्राप्ति ही मेरी भावना/(ममकामना)॥ (6)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा, दि-6/1/2020, रात्रि-9.11

ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परं।

मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः॥(30)

सिद्धान्त में ध्यान केवल मात्र मिथ्यादृष्टियों के ही नहीं निषेधते हैं, किन्तु जो

जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से प्रतिकूल हैं तथा जिनका चित्त चलित है और साधु कहाते हैं, उनके भी ध्यान का निषेध किया जाता है। क्योंकि उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

योग्यता न यतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम्।

अन्विष्य लिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धं निगद्यते॥(31)

इस लोक में जिनके मुनि-अवस्था में भी ध्यान करने की एक क्षणमात्र की योग्यता नहीं है, उनकी पहिचान सूत्रसिद्ध (शास्त्रोक्त) कही जाती है।

यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तत्र चेतसि।

यतेर्यस्य स किं ध्यानपदवीमधिरोहति॥(32)

जिस यति के जो कर्म (क्रिया) में है, सो वचन में नहीं है, वचन में कुछ और ही है। तथा जो कुछ वचन में है सो चित्त में नहीं है। ऐसे मायाचारी यति क्या ध्यान पदवी को पा सकते हैं?

सङ्गेनापि महत्त्वं ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम्।

परेषां सङ्गवैकल्यात्ते स्वबुद्धयैव वञ्चिताः॥(33)

जो मुनि होकर भी परिग्रह रखते हैं और उस परिग्रह से अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कि जिनके परिग्रह नहीं है उनकी लघुता समझते हैं, वे अपनी ही बुद्धि से ठगे गये हैं; क्योंकि मुनि का महत्त्व तो निर्ग्रन्थता से ही है।

सत्संयमधुरां धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः।

त्यक्ता यैः सा च्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीशं क्व तन्मनः॥(34)

जिन निःसारस्वभावी मदोद्धत मुनियों ने समीचीन संयम की धुरा धारण करके छोड़ दी और जिनका धैर्य छूट गया, उसका मन क्या ध्यान करने में समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि हीन प्रकृति मदोद्धत धैर्य रहित के ध्यान की योग्यता नहीं है।

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः।

बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता॥(35)

जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमान के अर्थ में आसक्त हैं, दुःखित हैं तथा लोकयात्रा से प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुत से लोग आवें जावें और हमको

माने ऐसी जो वांछा रखते हैं, उन्होंने अपने ज्ञानरूपी नेत्र को कष्ट दिया है, ऐसे मुनियों के ध्यान की योग्यता नहीं हो सकती है।

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धतम्।

निष्ठयूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते॥(36)

जिन मुनियों ने अपने अंतःकरण की शुद्धता के लिये उत्कट मिथ्यात्वरूपी समस्त विष नहीं वमन किया (नहीं उगला) वे तत्त्वों को प्रमाणरूप नहीं जान सकते हैं। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि इसका लेशमात्र भी हृदय में रहे, तो तत्त्वार्थ का ज्ञान श्रद्धान प्रमाणरूप नहीं होता, तब ऐसी अवस्था में ध्यान की योग्यता कहाँ?

दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम्।

इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते॥(37)

कोई कोई साधु ऐसा कहकर अपने तथा परके ध्यान का निषेध करते हैं कि “यह काल दुःषमा (पंचम) है। इस काल में ध्यान की योग्यता किसी के भी नहीं है।” इस प्रकार कहनेवालों के ध्यान कैसे हो?

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा।

विप्रलुब्धोऽन्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति॥(38)

जिसकी बुद्धि अन्य मत के शास्त्रों से ठगी गई है तथा जो काम और अर्थ में लुब्ध होकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप में संदिग्धरूप (संदेहसहित) है वह ध्यान करने का पात्र कैसे हो? क्योंकि जब तक तत्त्वों में (वस्तुस्वरूप में) संदेह होता है, तब तक मन निश्चल नहीं हो सकता और जब मन ही निश्चल नहीं, तब ध्यान कैसे हो?

कान्दर्पीप्रमुखाः पञ्च भावना रागरञ्जिताः।

येषां हृदि पदं चक्रुः क्व तेषां वस्तुनिश्चयः॥(40)

जिनके मन में राग से रंजित कांदर्पी आदि पाँच भावनाओं ने निवास किया है, उनके वस्तुनिश्चय (तत्त्वार्थज्ञान) कैसे हो?

कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी।

दानवी चापि संमोही त्याज्या पञ्चतयी च सा॥(41)

अर्थ-कान्दर्पी (कामचेष्टा), कैल्विषी (क्लेशकारिणी), आभियोगिकी (युद्धभावना), आसुरी (सर्वभक्षणी) और संमोहिनी (कुटुंबमोहनी), इस प्रकार ये पाँच भावनायें पापरूप हैं सो पाँचो ही त्यागने योग्य है।

जिन्होंने इन्द्रियों के विषय भोगने की प्रवृत्ति को नहीं रोका, उग्र परीषह नहीं जीते, और मन की चपलता नहीं छोड़ी वे मुनि आत्मा के निश्चय से च्युत हो जाते हैं।

जिनके इन्द्रिय वश में नहीं है और परीषह आनेपर जो चिग जाते हैं वा जिनका मन चंचल है, उनको आत्मा का निश्चय वा ध्यान की स्थिरता नहीं रहती।

अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्जिताः।

असंवर्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम्॥(44)

अर्थ-जो विरागता को प्राप्त नहीं हुए हैं तथा मिथ्यात्वरूपी व्याध से (शिकारी से) वंचित किये गये हैं और जिनका मोक्ष और मोक्षमार्ग में अनुराग नहीं है, वे परमपद अर्थात् आत्मा के स्वरूप की प्राप्तिरूप मोक्ष को नहीं जानते।

न चेतः करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम्।

विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न सक्षमः॥(45)

जिसका मन करुणा से व्याप्त नहीं हुआ, तथा भेदविज्ञान से वासित नहीं हुआ, विषयभोगों से विरक्त नहीं हुआ, वह ध्यान करने में समर्थ नहीं है।

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः।

अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः॥(46)

अनुद्धृतमनःशल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः।

अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने॥(47)

जो लोगों को रंजित करनेवाले पापरूप कार्यों से गुरुता को प्राप्त है, नहीं रंजित हुआ है आत्मा में चित्त जिनका ऐसे हैं, तथा इन्द्रियों विषयों की गहनता में लीन है, जिन्होंने मन के शल्य को दूर नहीं किया है तथा अध्यात्म का निश्चय नहीं किया है और अपने भावों से दुर्लेश्या को दूर नहीं किया है, ऐसे पुरुष ध्यान साधन में निषेधित हैं। क्योंकि इनमें ध्यान की योग्यता नहीं है।

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।

अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः॥(48)

अनुद्युक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः।

ससङ्गाः शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः॥(49)

एते तृणीकृतस्वार्था मुक्ति श्रीसङ्गनिःस्पृहाः।

प्रभवन्ति न सद्बुद्धानमन्वेषितुमपि क्षणम्॥(50)

जो हास्य, कौतूहल, कुटिलता तथा हिंसादि पाप प्रवृत्ति के शास्त्रों का उपदेश करनेवाले हैं तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वररोग से जिनका आत्मा शीर्ण (रोगी) है, विकाररूप और मोहरूप निद्रा से जिनकी चेतना नष्ट हो गई है, जो तप करने को उद्यमी नहीं है, विषयों की जिनके अतिशय लालसा है, जो परिग्रह और शंकासहित है, वस्तु का निर्णय जिनको नहीं है, तथा जो भयभीत हैं, मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे पुरुष दैव के द्वारा ठगे गये हैं। फिर ऐसे पुरुषों से ध्यान कैसे हो सकता है? इन पुरुषों ने अपने हित को तृणके समान समझ लिया है मुक्तिरूपी स्त्री का संगम करने में निःस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यान के अन्वेषण करने को क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—जिनके खोटी भावना लगी रहती है और जिन्हें अपने हिताहित का विचार नहीं होता, वे समीचीन ध्यान का अन्वेषण नहीं कर सकते।

पापाभिचारकर्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।

यैः क्रियन्तेऽधमैर्मोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितम्॥(51)

जो अधम मनुष्य सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा-महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिक में लंपट हैं, मोह से पापाभिचार कर्म करते हैं, उनके लिये आचार्य खेदसहित कहते हैं कि हाय! हाय! इन्होंने अपने जीवन का नाश किया और अपने को संसारसमुद्र में डूबा दिया।

पापाभिचार कर्म—

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।

जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्॥(52)

पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।

विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सतम्॥(53)

यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।

पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनम्॥(54)

इत्यादिविक्रियार्कर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः।

आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः॥(55)

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल अग्नि विष का स्तंभन, रसकर्म रसायन। नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजाल साधना, सेना का स्तम्भन करना, जीतहार का विधान बताना, विद्या के छेदने का विधान साधना, वेधना, ज्योतिष का ज्ञान, वैद्यकविद्यासाधन। यक्षिणी मंत्र, पातालसिद्धि के विधान का अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतने का मंत्र साधना), पादुकासाधन (खडाऊँ पहनकर आकाश वा जल में विहार करने की विद्या का साधन) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखने के अञ्जन का साधना, शस्त्रादि का साधना, भूतसाधन सर्पसाधन। इत्यादि विक्रियारूप कार्यों में अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं, उन्होंने आत्मज्ञान से भी वञ्चित होना पड़ा और अपने दोनों लोक का कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों के ध्यान की सिद्धि होनी कठिन है।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।

मातुः पण्यमिवाल्मूय्य यथा केचिद्गतघृणाः॥(56)

निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम्।

ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे॥(57)

अर्थ-कई निर्दय, निर्लज साधुपन में भी अतिशय निंदा करनेयोग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्ग का विरोध कर नरक में प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं, तैसे ही जो मुनि होकर उस मुनिदीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं।

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम्।

मुक्त्यङ्गं लिङ्गमादाय न श्लाघ्यं लोकदम्भनम्॥(58)

जो गृहस्थावस्था में हैं, उनको तो ऐसी विद्या का आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्ति के अंगस्वरूप मुनि के भेष को धारण कर के लोक का ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है।

साधु का भेष धारण कर के कुक्रिया करने से तो पहिली गृहस्थावास्था ही अच्छी है। क्योंकि ऐसी अवस्था में उक्त कार्य की कोई विशेष निंदा तो नहीं करते। यति का भेष धारण करके निंदा नहीं करानी चाहिए, ध्यान तो दूर रहा।

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नृतम्।

हेयमेवाशुभं कार्यं विवेच्य सुहितं बुधैः॥(59)

मनुष्यपन पाकर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके विद्वानों को अपना हित विचार अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिए।

अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसां विचेष्टितम्।

यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निष्फलम्॥(60)

आचार्य कहते हैं कि देखो, भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषों की चेष्टा साधुपन में भी पाखंड प्रपंच करके जन्म को निष्फल कर देती है।

“भुक्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्

सन्तर्पिताः प्राणयिनः स्वधनैस्ततः किम्।

न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्

कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥(1)

इस जगत् में जीवों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी हुई और वह भोगने में आई तो उससे क्या लाभ? अथवा अपनी धनसम्पदादिक से परिवार स्नेही मित्रों को सन्तुष्ट किया तो क्या हुआ? तथा शत्रुओं को जीतकर उनके मस्तक पर पाँव रख दिये, तो इसमें भी कौनसी सिद्धि हुई? तथा इसी प्रकार शरीर बहुत वर्षपर्यन्त स्थिर रहा तो उस शरीर से क्या लाभ? क्योंकि ये सब ही निःसार और विनश्वर हैं।

इत्थं न किञ्चिदपि साधनासाध्यमस्ति

स्वप्रेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम्।

तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि

तद्ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति॥(2)

उक्त प्रकार से जगत् में कुछ भी साधने योग्य साध्य (कार्य) नहीं है। क्योंकि जगत् का कार्य स्वप्न के समान अथवा इन्द्रजाल के सामन क्षणविनश्वर और परमार्थ

से शून्य है। इस कारण आचार्य देव कहते हैं कि, हे प्राणी जन! यदि तुममें चेतना (बुद्धि) है तो ऐसे परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप ज्ञानानंद स्वरूप अपने आत्मा की वांछा करो, जो अन्त और जरारहित है, और अन्य समस्त प्रकार की अभिलाषाओं का त्याग कर दो।

किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्वचोभिः परम्

ये वार्ता प्रथयन्त्यमेयमहसां राशेः परब्रह्मणः।

तत्रानन्दसुधासरस्वति पुनर्निर्मज्य मुञ्चन्ति ये

सन्तापं भवसम्भवं त्रिचतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा॥(61)

आचार्य कहते हैं कि इस जगत् में प्रचुर वचनों से (व्याख्यानों से) अमर्याद प्रताप की राशिरूप परमात्मा की वार्ता को विस्तार करनेवाले करोड़ों विद्वान् क्या नहीं होते? अवश्य होते ही है। परन्तु इस परब्रह्मस्वरूप अमृत के समुद्र में मग्न होकर संसार से उत्पन्न हुए सन्ताप को नष्ट करनेवाले जगत् में तीन वा चार ही होते हैं अथवा नहीं भी होते।

भावार्थ-परमात्मा की कथनी को विस्ताररूप से कहनेवाले तो जगत् में अनेक विद्वान् होते हैं, परन्तु परमात्मस्वरूप में लीन होनेवाले विरले ही होते हैं। यहाँ तीन चार कहने से विरलवचन जानना चाहिये, संख्या का नियम समझ लेना उचित नहीं है, क्योंकि थोड़े कहने हों, तो लौकिक में भी ऐसे ही प्रायः कहा करते हैं।

एते पण्डितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्ताच्युताः

रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसकृष्णाननाः।

व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्कभिरङ्गीकृताः

न ध्यानं व विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः॥(62)

जो पंडित तो नहीं है, किन्तु अपने को पंडित मानते हैं, और शम, दम, स्वाध्याय की चिन्ता से रहित तथा रागद्वेष मोहादि पिशाचों से वञ्चित हैं, एवं जो मुनिपन के गुण नष्ट करने से अपना मुँह काला करनेवाले, विषयों से आकर्षित, मदों से प्रसन्न, शंका सदेह शल्यभयादिक से पकड़े गये हैं, ऐसे रंक पुरुष न ध्यान करने में समर्थ हैं, न भेदज्ञान करने में समर्थ हैं और न तप ही कर सकते हैं।

अपने गुण और कमजोरी को पहचानकर लाएं खुद में बदलाव

जब अपना आत्मविश्वास कमजोर पड़ने लगे तो भीतर झाँककर देखने की जरूरत है। अपने गुणों को पहचानने और अवगुणों को दूर करने का यही समय होता है। यह न सोचें कि मैं दूसरों की तरह कमाल की आत्मविश्वासी नहीं बन सकती। मैं तो ऐसी ही हूँ। ऐसे विचार किसी के मन में भी आ सकते हैं। यह कोई बीमारी नहीं। बस अपनी सोच को बदलकर देखें।

अपनी कमजोरियाँ पहचानना और उन्हें दूर करना एक समझदारी भरा कदम होता है। यह आपके आत्मविश्वास और सफलता दोनों के लिए जरूरी है। अपने अवगुणों को दबाने से आप हमेशा कुंठा की शिकार बनी रह सकती है।

यों भी अपनी हर कमजोरी पर विजय पाना अपने हाथ में होता है। कई लोग जिंदगीभर अपनी कमजोरियों को छुपाने के प्रयास में उनके साथ जीते रहते हैं। उन्हें समझ ही नहीं आता कि उन्हें इसके लिए क्या और कैसे करना है। यह इतना मुश्किल भी नहीं जितना लगता है। सबसे पहले इसे पहचानें, इसके बाद हल ढूँढने की दिशा में कोशिश करें।

न सोचें कि कोई क्या कहेगा

अपने व्यक्तित्व को अपने हिसाब से निखारें न किसी के दबाव में। इस बात की परवाह किए बगैर कि दूसरे आपके बारे में क्या सोचेंगे। लोगों का काम होता है टीका-टिप्पणी करना। यदि कोई आपकी स्वस्थ आलोचना करे तो उसका स्वागत करें। लेकिन बेवजह आप को नीचा दिखाने की कोशिश करने वालों से दूर रहें। ऐसे लोग खुद भी नकारात्मक होते हैं और अपनी इस नकारात्मकता को दूसरों को मुफ्त में बाँटकर उन्हें हतोत्साहित करते हैं।

वैसे ही ढलता है व्यक्तित्व

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार-आप जैसा सोचते हैं वैसे बनते जाते हैं। खुद को दीन-हीन मानेंगे तो व्यक्तित्व वैसा ही बनता जाएगा। खुद को सशक्त और आत्मविश्वासी समझने पर आश्चर्यचकित रूप से वैसे ही बनते जाएंगे। तात्पर्य यह है कि आपकी सोच आपको पूरी तरह बदल सकती है। सकारात्मक सोच होगी तो सकारात्मक बनेंगे और जगजाहिर है कि नकारात्मक सोचने वाले हमेशा दुखी ही रहते हैं।

कोई नहीं होता संपूर्ण

हम सब में बहुत से गुण तो कई अवगुण भी होते हैं। कोई भी व्यक्ति संपूर्ण नहीं होता। मुश्किल तब हो सकती है जब आप अपनी कमी को पकड़े बैठे रहें और रोना रोते रहें। इससे कोई हल निकलने वाला नहीं होता। अगर आप अकेले इस में सुधार नहीं ला पा रहे हैं तो अपने मित्र आदि की मदद ले सकते हैं। कई बार आप से बेहतर दूसरे आपके गुण और दोषों को पहचानने लगते हैं। वे आपके लिए आईने का काम कर सकते हैं। सच्चे दोस्तों और अपने शुभचिंतकों से इस बारे में बात करें। यह आपकी हर सफलता के लिए जरूरी है।

एक रात में बदलाव नहीं

कोई भी काम रातोंरात नहीं होता। किसी चीज को बिगाड़ने और बनाने दोनों में समय लगता है। इसलिए आप भी खुद से यह उम्मीद न लगाएं कि आप चंद घंटों या दिनों में अपनी कमियों को दूर कर लेंगे। खुद को इसके लिए समय दें। रणनीति बनाकर काम करें। (दै.भास्कर)

मेरी प्रभुत्व-विभुत्व शक्ति

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1.ज्योति कलश छलके... 2. सायोनारा...)

अनन्त शक्ति पुञ्ज रे!...जिया रे! अनन्त गुणवान् रे!...

तू हो प्रभु तथाहि विभु...अनन्त वैभव आत्म के!...2 (ध्रुव)...

अखण्डित है तव प्रताप...जो है स्वाधीनता युक्त...

यह है तेरी प्रभुत्व शक्ति...द्रव्य स्वतन्त्रता से युक्त...

तू स्वतन्त्र बन रे!...2...(1)...

सर्वभाव व्यापक एक तू हो...विभुत्व शक्ति सम्पन्न...

“द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा...” “गुणपर्ययवद् द्रव्यं” आत्मन्...

तू वैश्विक बन रे!...2...(2)...

तू है स्वयम्भू-स्वतन्त्र-मौलिक...स्व अनन्त गुणों से प्रभुत्व/(स्वाधीन)...

तेरे गुणों का तू ही स्वामी...अन्य न कोई तव गुणों का स्वामी...

परमेश्वर बन रे!..2...(3)...

स्व अनन्त गुणों में तू व्याप्त...यह सार्वभौम है विभुत्व...

अतः तू स्व का कर्ता-भोक्ता...विधाता-धाता-ईश्वर-ब्रह्मा..

ऐश्वर्यशाली बन रे!..2...(4)...

यह ही तेरा शुद्ध स्वभाव...सत्ता-सम्पत्ति-विभूति...

स्व आत्मवैभव भिन्न एक परमाणु...तेरा नहीं वह है परद्रव्य...

तू मौलिक बन रे!...2...(5)...

सचित्त-अचित्त-मिश्र परिग्रह...धन-जन-मान सम्मान प्रभुत्व/(विभुत्व)...

इनके प्रति जो अहंकार-ममकार...वे हैं तव विभाव-विकार...

तू विशुद्ध बने रे!...2...(6)...

तू नहीं तव तन-मन-अक्ष...तू नहीं राग-द्वेष-मोहादि...

ईर्ष्या-घृणा-तृष्णादि नहीं...ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि परे...

तू शुद्ध/(बुद्ध) बन रे!...2...(7)...

“अहमेवको खलु सुद्धो” तू...ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप...

ये ही तव प्रभुत्व-विभुत्व शक्ति...सच्चिदानन्द ‘कनकनन्दी’...

वैश्विक प्रभु/(विभु) बन रे!...2...(8)...

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-13/2/2021, रात्रि-10.33

“सत्य परमेश्वर का विश्वरूप एवं स्व-परम सत्य”

(चालः 1.कसमें वादे प्यार... 2.संसार है इक नदिया...)

सत्य ही है सनातन...सत्य सर्वस्य/(सबका) आधार।

सत्य शिव सुन्दर है...सर्व धर्म आधार॥ धु.॥

सत्य का ही विश्वरूप...द्रव्य-गुण-पर्याय।

जातनाश ध्रौव्य भी है...लोकालोक सम्पूर्ण/(चराचर ब्रह्माण्ड)॥ (1)

जीव व पुद्गल धर्म...काल अधर्म आकाश।

चेतना चेतनमय...मूर्तिक तद् विपरीत॥ (2)

शुद्धाशुद्ध सर्व द्रव्य...बन्धन मुक्त द्वय द्रव्य।

दृश्यमान अदृश्य भी...अक्ष मन परे द्रव्य॥ (3)

दार्शनिक ज्ञाताज्ञात...वैज्ञानिक ज्ञाताज्ञात।

गणधर ज्ञाताज्ञात...सर्वज्ञाता द्वारा ज्ञात॥ (4)

आत्मा-परमात्मा सर्व...ब्रह्माण्ड में स्थित सर्व।

परमाणु महास्कन्ध...सत्यमय तत्त्व सर्व॥ (5)

सत्य ही सर्वोच्च सत्ता...सत्य ही परमेश्वर।

सत्य अतिरिक्त सर्व...अस्तित्व रहित शून्य॥ (6)

सत्य ही परम ज्ञेय...नित्य सत्य उपादेय।

स्वात्म तत्त्व अतिरिक्त...अन्य सर्व त्यजनीय॥ (7)

चिदानन्दमय आत्मा...स्वयंपूर्ण अन्य शून्य।

‘कनक’ परम ध्येय...ज्ञानानन्दमय स्वयम्॥ (8)

जीव द्रव्य का वर्णन

जीवाश्च। (3) मोक्षशास्त्र

Souls are also included in the category of substances.

जीव भी द्रव्य है।

इस अध्याय के प्रथम सूत्र में चार अजीव अस्तिकाय का वर्णन किया गया है। दूसरे सूत्र में बताया कि, ये चारों द्रव्य हैं। पुनः इस सूत्र में बताया गया कि जीव भी द्रव्य है तथा द्रव्य के साथ अस्तिकाय द्रव्य भी है। सूत्र में जो बहुवचन (जीवाः) दिया गया है। वह जीव के भेद-प्रभेदों का सूचक स्वरूप है। ‘च’ शब्द द्रव्य संज्ञा के खींचने के लिये दिया गया है। जिससे ‘जीव भी द्रव्य है’ यह अर्थ फलित हो जाता है। इस प्रकार ये पाँच आगे कहे जाने वाले काल के साथ छह द्रव्य होते हैं।

कोई-कोई दार्शनिक एवं वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह जीव एक पृथक् द्रव्य नहीं है। कुछ मानते हैं कि रासायनिक मिश्रण रासायनिक परिवर्तन से जीव की सृष्टि हुई है-जैसे डार्विन आदि वैज्ञानिक और चार्वाक आदि दार्शनिक। चार्वाक का मत है पृथ्वी जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के सम्मिश्रण से जीव की सृष्टि होती है। जैसे-चावल, गुड आदि के मिश्रण से मद्य में मादकता की सृष्टि होती है। परन्तु उपरोक्त धारणा कपोल कल्पित एवं सत्य-तथ्य से रहित है क्योंकि जीव अमूर्तिक, चेतन द्रव्य

होने से मूर्तिक अचेतन द्रव्यों से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जीव द्रव्य का वर्णन प्रवचनसार में कुंदकुंद देव ने निम्न प्रकार से किया है।

द्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।

पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं। (127)

द्रव्य जीव और अजीव ऐसे दो भेद रूप है और उसमें चेतन और उपयोगमयी जीव है और पुद्गल आदि अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जोहि जीविदो पुव्वं।

सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता। (147)

जो चार प्राणों से जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है और प्राण पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न है।

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।

सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा। (16) (पं.का)

जीवादि के “भाव” है। जीव के गुण चेतना तथा उपयोग हैं और जीव की पर्यायें देव-मनुष्य-नारक-तिर्यञ्चरूप अनेक हैं।

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो प्हू कत्ता।

भोक्ता य देहमतो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो। (27)

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोगलक्षित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त है और कर्मसंयुक्त है।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।

सो जीवो पाणा पुण वलमिंदियमाउ उस्सासो। (30)

जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा, और पूर्वकाल में जीता था वह जीव है, और वह प्राण इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास है।

जीवा अणाइणिहणा संताणंता य जीवभावादो।

सब्भावदो अणंता पंचग्गुणप्पधाणा य। (53)

जीव (पारिणामिक भाव से) अनादि अनंत हैं, (औपशमिक आदि तीन भावों से) सांत (अर्थात् सादि-सांत) हैं और जीव भाव से अनंत है। (अर्थात् जीव

सद्भावरूप क्षायिक भाव से सादि अनंत है) क्योंकि सद्भाव से जीव अनंत ही होते हैं। वे पाँच मुख्य गुणों से प्रधानता वाले हैं।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होई उप्पादो।

इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं॥ (54)

इस प्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है-ऐसा जिनवरों ने कहा है, जो कि अन्योन्य विरुद्ध है तथापि अविरुद्ध है।

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।

कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥ (122)

जीव सब जानता है और देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुःख से डरता है, हित अहित को करता है और उनके (शुभ-अशुभ भाव के) फल को भोगता है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में भी आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने कहा है-

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥ (9)

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित (वियुक्त) गुण-पर्यायों से विशिष्ट उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से सहित (संयुक्त) चैतन्यमय आत्मा पुरुष है।

द्रव्यों की विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि। (4)

धर्मादीनि, कालः, जीवाश्च द्रव्याणि नित्यावस्थितान्यरूपाणि।

The Six Substances Jiva, Ajiva, Dharma, Adharma, Akasa, and kala are permanent in their nature, fixed in number as the sole constituents of the universe and (with exception of pudgala Dravya) are all without form, i.e., they are devoid of the characteristics of Matter, viz. touch, taste, smell and colour.

उक्त द्रव्य नित्य है, अवस्थित और अरूपी है।

धर्म, अधर्म, आकाश, एवं जीव द्रव्य नित्य (शाश्वतिक, अविनाशी, ध्रुव) अवस्थित (अपनी संख्या एवं प्रदेश को नहीं त्यागने वाला) एवं अरूपी है।

1. नित्य-वस्तु के स्वभाव का नाश नहीं होना ही 'नित्यत्व' है। जिस भाव

से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप से रहना नित्य है। इस द्रव्य के भाव का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है, धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से युक्त है उन-उन स्वभावों का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कभी नाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्यय को नित्य कहते हैं।

2. अवस्थित-ये द्रव्य इयत्ता (संख्या) का उल्लंघन नहीं करते अतः अवस्थित हैं। ये धर्म, अधर्म आदि छहों द्रव्य कभी अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते। (छह संख्या को नहीं छोड़ते), न तो कभी सात होते हैं और न कभी पाँच, अतः अवस्थित हैं। अथवा धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव में तुल्य असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश के अनन्त और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश बताये गये हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, वैसे ही अवस्थित रहते हैं इसलिए अवस्थित कहे जाते हैं।

3. अरूपी-‘अरूप’ पद का ग्रहण द्रव्य के स्वतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए है। ‘अरूप’ पद, रूप और स्पर्श, रस, गंधादि का निषेध करके धर्मादिक का जो ‘अमूर्तत्व’ स्वभाव है, उसकी सूचना करता है। नहीं है रूप जिसके वह अरूप कहलाता है। रूप के निषेध से रूप से अविनाभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए। अरूपी का अर्थ अमूर्तिक है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव अमूर्तिक हैं।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। (38)

Substance is possessed of attributes and modifications.

गुण और पर्याय वाला द्रव्य है।

द्रव्य, गुण और पर्यायों का एक अखंड पिण्ड स्वरूप है। गुण को सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय भी कहते हैं, पर्याय को विशेष, भेद भी कहते हैं। ऐसे सामान्य और विशेष से सहित द्रव्य होता है। पंचास्तिकाय में कहा भी है-

पञ्जयविजुदं द्रव्यं द्रव्यविजुत्तं व पञ्जया णत्थि।

दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परुवित्ति।।(12)

पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायों नहीं होती हैं। दोनों का अनन्यभाव श्रमण प्ररूपित करते हैं।

जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि से रहित गोरस नहीं होता है उसी प्रकार पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता, जिस प्रकार गोरस से रहित दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य से रहित पर्यायों नहीं होती। इसीलिए, यद्यपि द्रव्य और पर्यायों का आदेशवशात्-विवक्षावश कथंचित् भेद है तथापि, वे अस्तित्व में नियत (दृढ-रूप से स्थित) होने के कारण अन्योऽन्यवृत्ति नहीं छोड़ती इसलिए वस्तुरूप में उनका अभेद है।

दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।

अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।। (13)

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता है, इसलिए द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव अनन्यभाव है।

जिस प्रकार पुद्गल के पृथक् स्पर्श-रस-गंध-वर्ण नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, जिस प्रकार स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से पृथक् पुद्गल नहीं होता उसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिए, यद्यपि द्रव्य और गुणों का आदेशवशात् कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अव्यतिरिक्तत्व में नियत होने के कारण अन्योऽन्यवृत्ति नहीं छोड़ते इसलिए वस्तुरूप से उनका भी अभेद है।

द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते तथा गुणों के बिना द्रव्य संभव नहीं है इसलिए द्रव्य और गुणों का अभिन्न भाव होता है।

जैसे पुद्गल द्रव्य की सत्ता के बिना उसमें स्पर्श-रस, गंध, वर्ण नहीं पाये जा सकते वैसे द्रव्य के बिना गुण नहीं होते तथा जैसे वर्णादि गुणों को छोड़कर पुद्गल द्रव्य नहीं मिलता वैसे गुणों के बिना द्रव्य नहीं प्राप्त हो सकता है। द्रव्य और गुणों की सत्ता अभिन्न है-एक है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा वे अभिन्न हैं। द्रव्य और गुणों के प्रदेश अभिन्न हैं-एक है क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा एकता है। द्रव्य और गुणों का एक ही काल उत्पाद-व्यय का अविनाभाव है, क्योंकि काल की अपेक्षा दोनों एक हैं। द्रव्य और गुण दोनों एक स्वरूप हैं क्योंकि उनका स्वभाव एक है। अतः द्रव्य और गुणों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा अभेद है इसलिए द्रव्य और गुण अभिन्न हैं, एक है।

अथवा दूसरा व्याख्यान करते हैं कि भाव जो पदार्थ वह द्रव्य और गुणों से अभिन्न हैं अर्थात् द्रव्य गुण रूप ही पदार्थ कहा गया है।

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणां क्षीणकल्मषाः।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः॥ (5) (तत्त्वार्थ)

वीतराग जिनेन्द्र भगवान् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त अथवा गुण और पर्यायों से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

गुण और पर्याय का लक्षण

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायों द्रव्यविक्रिया।

द्रव्य ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्धयोः॥ (9)

द्रव्य की जो विशेषता है उसे गुण कहते हैं और द्रव्य का जो विकास है वह पर्याय कहलाता है। द्रव्य उन दोनों-गुणपर्यायों का अपृथक् सिद्ध समुदाय है।

गुण और पर्याय का पर्यायवाचक शब्द

सामान्यमन्वयोत्सर्गो शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः।

व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः॥ (10)

सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं तथा व्यतिरेक, विशेष और भेद ये पर्याय शब्द कहे गये हैं।

गुण और द्रव्य में अभेद है

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः।

द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तताः॥ (11)

गुणों के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुणों में अभेदता है।

द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः।

वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः॥ (12)

पर्याय के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, इसलिये महर्षि दोनों में अभिन्नता कहते हैं।

पर्याय ही उत्पाद और व्यय के करने वाले हैं

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भवः।

भावाः कुर्यर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च॥ (13)

सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये पर्याय ही पर्यायों और गुणों में व्यय और उत्पाद को करते हैं।

द्रव्यदृष्टि से किसी पदार्थ का न नाश होता है और न किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, सिर्फ पर्याय ही नष्ट होती तथा उत्पन्न होती है, इस तरह उत्पाद और व्यय का कर्ता पर्याय ही है।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। (41)

Gunas or attributes depend upon substance and are never without it. An attribute as such cannot be the substratum of another attributes, although of course, many attributes can co exist in one and the same substances at one and the same time and place. There can not be an attribute of an attribute.

जो निरन्तर द्रव्य में रहते और गुणरहित हैं वे गुण हैं।

जिसमें गुण आश्रय लेते हैं अर्थात् जिसमें गुण रहते हैं वह आश्रय है। गुणों को कोई न कोई आश्रय चाहिए, गुण आश्रय के बिना नहीं रह सकते और द्रव्य को छोड़कर अन्य आधार हो नहीं सकता।

जो नित्य द्रव्य के आश्रय से रहता है वह गुणा है। यद्यपि पर्यायों भी द्रव्य में रहती हैं, परन्तु पर्यायों कादाचित्क है अतः 'द्रव्याश्रयाः' इस पद से पर्यायों का ग्रहण नहीं होता है। अतः 'द्रव्याश्रयाः' इस पद से अन्वयी धर्म गुण है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि, जीव के अस्तित्वादि और ज्ञान, दर्शन आदि गुण है और पुद्गल के अचेतनत्व आदि रूप-रसादि गुण हैं।

जदि हवदि द्रव्यमण्णं गुणदो य गुणा व द्रव्यदो अण्णे।

द्रव्याणंति यमधवा द्रव्याभावं पकुव्वंति॥ (44) (पंचास्तिकाय)

प्रदेशों की अपेक्षा भी यदि द्रव्य से गुण अलग-अलग हो तो जो अनन्तगुण

द्रव्य में एक साथ रहते हैं वे अलग-अलग होकर अनन्त द्रव्य हो जावेंगे और द्रव्य से जब सब गुण भिन्न हो गए तब द्रव्य का नाश हो जावेगा। यहाँ पूछते हैं कि गुण किसी के आश्रय या आधार से रहते या वे आश्रय बिना होते हैं? यदि वे आश्रय से रहते हैं ऐसा कोई माने और उसको और कोई दोष दे तो यह कहना होगा कि, जो अनन्त ज्ञान आदि गुण जिस किसी एक शुद्ध आत्म द्रव्य में आश्रय रूप है उस आत्म द्रव्य से यदि वे गुण भिन्न-भिन्न हो जावें, इसी तरह दूसरे शुद्ध जीव द्रव्य में भी जो अनन्त गुण हैं वे भी जुदे-जुदे हो जावे तब यह फल होगा कि शुद्धात्मा द्रव्यों से अनन्तगुणों के जुदा होने पर शुद्ध आत्म द्रव्य अनन्त हो जायेंगे। जैसे ग्रहण करने योग्य परमात्म द्रव्य में गुण और गुणी का भेद होने पर द्रव्य की अनन्तता कही गई वैसी ही त्यागने योग्य अशुद्ध जीव द्रव्य में तथा पुद्गलादि द्रव्यों में भी समझ लेनी चाहिए अर्थात् गुण और गुणी का भेद होते हुए मुख्य या गौण रूप एक-एक गुण का मुख्य या गौण एक-एक द्रव्य आधार होते हुए द्रव्य अनन्त हो जावेगा तथा द्रव्य के पास से जब गुणों का समुदाय द्रव्य है। यदि ऐसे गुण समुदाय रूप द्रव्य से गुणों का एकांत से सर्वथा भेद माना जाएगा तो गुण समुदाय स्वरूप का अस्तित्व द्रव्य कहाँ रहेगा ? किसी भी तरह नहीं रह सकता है।

अविभक्तमणणात्तं द्रव्यगुणाणां विभक्तमणणात्तं

णिच्छति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं। (45)

जैसे-परमाणु का वर्णादि गुणों के साथ अभिन्नपना है अर्थात् उनमें परस्पर प्रदेशों का भेद नहीं है तैसे शुद्ध जीव द्रव्य का केवलज्ञानादि प्रगटरूप स्वाभाविक गुणों के साथ और अशुद्ध जीव का मतिज्ञान आदि प्रगट रूप विभाव गुणों के साथ तथा शेष द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ यथासम्भव एकपना है अर्थात् द्रव्य और गुणों के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का अभाव जानना चाहिए। निश्चय स्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जैसे हिमाचल और विंध्याचल पर्वत में भिन्नपना है अथवा एक क्षेत्र में रहते हुए जल और दूध का भिन्न प्रदेशपना है ऐसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों का नहीं मानते हैं तो भी एकांत से द्रव्य और गुणों का अन्यपने से विपरीत एकपना भी नहीं मानते हैं अर्थात् द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा अभिन्नपना है तैसे संज्ञा आदि की अपेक्षा से भी एकपना है ऐसा नहीं मानते हैं अर्थात् एकांत से द्रव्य और गुणों का न

एकपना मानते हैं न भिन्नपना मानते हैं। बिना अपेक्षा के एकत्व व अन्यत्व दोनों को नहीं मानते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भेदाभेद दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की एकता भी एकपना है। संज्ञादिकी अपेक्षा द्रव्य और गुणों का अन्यपना है ऐसा आचार्य मानते हैं।

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।

तेसिमण्णत्ते अण्णत्ते चावि विजते।। (46)

कथन या संज्ञा के भेद आकार के भेद संख्या या गणना और विषय या आधार ये बहुत प्रकार के होते हैं। ये चारों उन द्रव्य और गुणों की एकता में तैसे ही उसकी भिन्नता में होते हैं।

णाणं घणं कुव्वदि घणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।

भण्णांति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू।। (47)

जैसे धन का अस्तित्व भिन्न है और धनी पुरुष का अस्तित्व भिन्न है इसलिये धन और धनी का नाम भिन्न है, धन का आकार भिन्न है, धनी पुरुष का आकार भिन्न है, धन की संख्या भिन्न है, धनी पुरुष की संख्या भिन्न है, धन का आधार भिन्न है धनी का आधार भिन्न है तो भी धन को रखने वाला धनी है ऐसा जो कहता है सो भेद या पृथक्त्व व्यवहार है। तैसे ही ज्ञान का अस्तित्व ज्ञानी से अभिन्न है ऐसे ज्ञान का अभिन्न अस्तित्व रखने वाले ज्ञानी आत्मा के साथ अभेद कथन है। ज्ञान का नाम ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञानी का नाम ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान का संस्थान ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञान का आधार ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञानी का आधार ज्ञान से अभिन्न है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानी में अपृथक्त्व या अभेद कथन है इन दोनों दृष्टान्तों के अनुसार द्राष्टान्त विचार लेना चाहिए जहाँ भिन्न-भिन्न द्रव्य हो उनके नामादि भिन्न जानना चाहिए।

णाणी णाणं च सदा अत्यंतरिदा दु अण्णमण्णस्स।

दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।। (48)

जैसे यदि अग्नि गुणी अपने गुण उष्णपने से अत्यन्त भिन्न हो जाये तो अग्नि दग्ध करने के कार्य को न कर सकने से निश्चय से शीतल हो जावे। उसी प्रकार जीव गुणी अपने ज्ञान गुण से भिन्न हो जावे तो पदार्थ को जानने में असमर्थ होने से जड़ हो जावे। जैसे उष्ण गुण से अग्नि अत्यन्त भिन्न यदि मानी जावे तो दहन क्रिया के प्रति

असमर्थ होने से शीतल हो जावे तैसे ही ज्ञान गुण से अत्यन्त भिन्न यदि ज्ञानी जीव माना जावे तो वह पदार्थ के जानने को असमर्थता को होता हुआ अचेतन जड़ हो जावे तब ऐसा हो जावे जैसे देवदत्त घसियारे से उसका घास काटने का दतीला भिन्न है वैसे ज्ञान से ज्ञानी भिन्न हो जाये तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दतीला तो छेदने के कार्य में मात्र बाहरी उपकरण है परन्तु भीतरी उपकरण तो वीर्यातराय के क्षयोपशम से उत्पन्न पुरुष का वीर्य विशेष है। यदि भीतर शक्ति न हो तो दतीला हाथ में होते हुए भी छेदने का काम नहीं हो सकता है। तैसे ही प्रकाश, गुरु आदि बाहरी सहकारी कारणों के होते हुए यदि पुरुष में भीतर ज्ञान का उपकरण न हो तो वह पदार्थ को जानने रूप कार्य नहीं कर सकता है।

समवत्ती समवाओ अपुधबभूदो य अजुदसिद्धो य।

तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धिन्ति णिदिट्ठु।। (50)

जैनमत में समवाय उसी को कहते हैं जो साथ-साथ रहते हो अर्थात् जो किसी अपेक्षा एकरूप से अनादिकाल से तादात्म्य सम्बन्ध या न छूटने वाला सम्बन्ध रखते हों ऐसा साथ वर्तन गुण और गुणी का होता है इससे दूसरा कोई अन्य से कल्पित समवाय नहीं है। यद्यपि गुण और गुणी में संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद है तथापि प्रदेशों का भेद नहीं है इससे वे अभिन्न हैं तथा जैसे दण्ड व दण्डी पुरुष का भिन्न-भिन्न प्रदेशपनारूप भेद है तथा वे दोनों मिल जाते हैं ऐसा भेद गुण और गुणी में नहीं है। इससे इनमें अयुतसिद्धापना (अभेदपना) या एकपना कहा जाता है। इस कारण द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना सदा से सिद्ध है। इस व्याख्यान में यह अभिप्राय है कि जैसे जीव के साथ ज्ञान गुण का अनादि तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है तथा वह श्रद्धान करने योग्य है वैसे ही जो अव्याबाध, अप्रमाण, अविनाशी व स्वाभाविक रागादि दोष रहित परमानन्दमई एक स्वभाव रूप पारमार्थिक सुख है इसको आदि लेकर जो अनन्त गुण केवलज्ञान में अन्तर्भूत हैं उनके साथ ही जीव का तादात्म्य सम्बन्ध जानना योग्य है तथा उसी ही जीव को रागादि विकल्पों को त्यागकर निरन्तर ध्याना चाहिए।

वण्णरसगंधफासा परमाणुरूविदा विसेसेहिं ।

दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होत्ति।। (51)

दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि पण्णभूदाणि।

ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो।। (52)

निश्चय से वर्ण, रस, गंध, स्पर्श परमाणु में कहे हुए गुण पुद्गल द्रव्य से अभिन्न है तो भी व्यवहार से संज्ञादि की अपेक्षा भेदपने के प्रकाशक है तैसे जीव से तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले दर्शन और ज्ञान गुण जीव से अभिन्न है सो संज्ञा आदि से परस्पर भिन्नपना करते है। निश्चय से स्वभाव से पृथक्पना नहीं करते है। क्योंकि द्रव्य और गुणों का अभिन्न अन्वय रूप से सम्बन्ध है।

एक आत्मा की ही सामर्थ्यरूप हैं, यह आत्मा ध्यान के बल से अचिन्त्य सामर्थ्यरूप हो चेष्टा करता है, इस आत्मा के अतिरिक्त अन्य कल्पना है सो सब मिथ्या है; इस कारण आत्मा का सामर्थ्य वर्णन करते हैं-

अयमात्मा स्वयं साक्षाद्गुणरत्नमहार्णवः।

सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः।। (1) ज्ञानार्णव.

यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुणरूपी रत्नों का भरा हुआ समुद्र है तथा यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबके हितरूप है, समस्त पदार्थों में व्याप्त है, परमेष्ठी (परमपद में स्थित) है और निरंजन है अर्थात् जिसके किसी प्रकार की कालिमा नहीं है। शुद्ध नय का विषयभूत आत्मा ऐसा ही है।

तत्स्वरूपमजानानो जनोऽयं विधिवञ्चितः।

विषयेषु सुखं वेत्ति यत्स्यात्पाके विषान्नवत्।। (2)

उस आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता हुआ यह मनुष्य कर्मों से वंचित हो इन्द्रियों के विषयों में सुख जानता है सो बड़ा कुज्ञान है क्योंकि इन्द्रियों का विषय विपाकसमय में विषमिश्रित अन्न के समान होता है।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम्।

न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः।। (3)

जो सुख वीतराग मुनि के प्रशमरूप (मंदकषायरूप) विशुद्धतापूर्वक है उसका अनन्तवाँ भाग भी इन्द्र को प्राप्त नहीं है।

अनन्तबोधवीर्यादिनिर्मला गुणिभिर्गुणाः।

स्वस्मिन्नेव स्वयं मृग्या अपास्य करणान्तरम्।। (4)

अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्यादि गुण गुणी पुरुषों के द्वारा अपने आत्मा में ही अन्य इन्द्रियादि की सहायता को छोड़ अपने आप ही खोजने चाहिए।

अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः।

त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः॥ (5)

अहो देखो, यह आत्मा अनन्त वीर्यवान् है तथा समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाला है तथा ध्यानशक्ति प्रभाव से तीनों लोकों को भी चलायमान कर सकता है। **भावार्थ**—मुनि जब ध्यान करते हैं तब तीनों लोकों के इन्द्रों के आसन कम्पायमान होते हैं अथवा ध्यान के फल से जो कोई जीव तीर्थकरपद प्राप्त करता है उसका जन्म होने के समय तीनों लोकों में क्षोभ होता है।

अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम्।

यत्समाधिप्रयोगेण स्फुरत्यव्याहृतं क्षणे॥ (6)

आचार्य कहते हैं कि इस आत्मा की शक्तिको मैं ऐसा समझता हूँ कि वह योगियों के भी अगोचर है, क्योंकि वह समाधि ध्यान में लय स्वरूप के प्रयोग से क्षणमात्र में अव्याहृत प्रकाश होती है।

भावार्थ—अनन्त पदार्थों के देखने जानने की शक्ति प्रगट होती है।

अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः।

विशुद्धध्याननिर्धूत-कर्मन्धनसमुत्करः॥ (7)

जिस समय विशुद्ध ध्यान के बल से कर्मरूपी ईन्धनों को भस्म कर देता है उस समय यह आत्मा ही स्वयं साक्षात्परमात्मा हो जाता है; यह निश्चय है।

ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेषं स्फुटी भवेत्।

क्षीयते च तथानादिसंभवा कर्मसन्ततिः॥ (8)

इस आत्मा के गुणों का समस्त समूह ध्यान से ही प्रगट होता है तथा ध्यान से ही अनादिकाल की संचित की हुई कर्मसन्तति नष्ट होती है।

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः।

अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः॥ (9)

विद्वानों ने इस आत्मा को ही शिव, गरुड और काम कहा है, क्योंकि यह

आत्मा ही अणिमा महिमादि अनर्घ्य (अमूल्य) गुणरूपी रत्नों का समुद्र है। **भावार्थ-** शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व जो अन्यमती ध्यान के लिये स्थापन करते हैं सो आचार्य देव कहते हैं कि यह आत्मा की ही चेष्टा है, आत्मा से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

“आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान्।

परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः॥” (1)

अहो! आत्मा का माहात्म्य कैसा है कि आत्यन्तिक कहिये अन्तरहित अविनश्वर स्वभाव से उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान अनन्त सुखवाला ऐसा परमात्मस्वरूप शिव तथा गरुड और काम यह आत्मा ही है।

**यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव॥ (18)**

हे भव्य जीवों! इस जगत् में जो कुछ अधोलोक में भवनवासी देवों की, मध्यलोक के मनुष्यों की और ऊर्ध्वलोक में देवों की सामर्थ्य विस्मय उत्पन्न करने का कारण है सो सब ही सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्मा में ही है; इस कारण हम उपदेश करते हैं कि निश्चलचित्त होकर, तुम एक आत्मा को ही निरन्तर भजो। **भावार्थ-**आत्मा अनंत शक्ति का धारक है, सो इसको जिस प्रकार वा जिस रीति से प्रकट किया जावे उसी प्रकार से यह आत्मा व्यक्तरूप (प्रगट) होता है।

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत्।

तच्च नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठति॥ (19)

इस आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है। उसको प्रगट करने को कोई समर्थ नहीं है। यह शक्ति (सामर्थ्य) नाना प्रकार के ध्यान की पदवी के आश्रय से होती है अर्थात् नाना प्रकार के ध्यान से ही आत्मा की अचिन्त्य शक्तियाँ प्रगट होती हैं।

तदस्य कर्तुं जगदंघ्रिलीनं तिरोहिताऽऽस्ते सहजैव शक्तिः।

प्रबोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः॥ (20)

पूर्वोक्त आत्मा की सामर्थ्य इस जगत् को अपने पद में (प्रभाव में) लीन करने को स्वभाव स्वरूप ही है, परन्तु वह कर्मों से आच्छादित है। विज्ञानरूप उत्कृष्ट दीपक को प्रज्वलित करने से वह उस शक्ति को प्रगट (स्वानुभवगोचररूप)

करता है। **भावार्थ**-आत्मा की शक्तियाँ सब स्वाभाविक हैं। सो अनादिकाल से कर्मों के द्वारा ढँकी हुई हैं। वे ध्यानादिक करने से प्रगट होती हैं। सब उत्पन्न हुई दिखती है, सो ज्ञान रूपी दीपक से प्रकाशित होने पर प्रकट होती है। परकी की हुई वस्तु में कोई भी शक्ति नहीं होती, अन्य निमित्त से उत्पन्न होने पर जो अन्य से हुई मानते हैं सो भ्रम है। वे पर्यायबुद्धि हैं। जब वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायरूप जानें तब भ्रम नहीं रहता।

अयं त्रिजगतीभर्ता विश्वज्ञोऽनन्तशक्तिमान्।

नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युतः॥ (21)

यह आत्मा तीन जगत् का भर्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिवाला है, परंतु अनादिकाल से अपने स्वरूप से च्युत होकर अपने आपको नहीं जानता। **भावार्थ**-यह अपनी ही विपरीतता है अर्थात् कर्म के पक्ष से यह दूसरा अज्ञान पक्ष बताया गया है।

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः।

स्वेच्छयार्थान्समादत्ते स्वतोऽत्यन्तविलक्षणान्॥ (22)

यह आत्मा अनादि से उत्पन्न हुए कलंक से मलिन किया हुआ अत्यन्त विलक्षण अपने से भिन्न पदार्थों को स्वेच्छा से ग्रहण करता है। **भावार्थ**-पदार्थों में रागद्वेष मोह से अहंकार ममकार इष्टानिष्ट आदि बुद्धि करता है।

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति॥ (23)

यह आत्मा दर्शन ज्ञान नेत्रवाला है, परंतु अज्ञानरूपी अंधकार से व्याप्त हो रहा है; इस कारण जानता हुआ भी नहीं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता।

अविद्योद्भूतरागादिगर्वग्रहीकृताशयः।

पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीप्ते जन्मदुर्गमे॥ (24)

अविद्या (मोह) से उत्पन्न रागादिकरूपी विष के विकार से व्यग्रचित्त होने से यह आत्मा दुःखरूपी अग्नि से जलते हुए दुर्गम संसार में पड़ता है।

लोष्ट्रेष्वपि यथोन्मतः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्तते।

अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयाऽयं तथा भ्रमात्॥ (25)

जैसे धतूरा खाया उन्मत्त पुरुष पत्थरादि में सुवर्णबुद्धि से प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से अपने स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थों में स्वेच्छाचाररूप प्रवृत्ति करता है। भावार्थ-उनसे रागद्वेष मोह करता है।

वासनाजनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम्।

अनिष्टमपि येनायमिष्टमिथ्याभिमन्यते॥ (26)

जीवों के जो सुखदुःख हैं वे अनादि अविद्या की वासना से उत्पन्न हुए हैं इसी कारण यह आत्मा अज्ञान से अनिष्ट को भी इष्ट मानता है। भावार्थ-संसारसंबंधी सुख दुःख हैं, वे कर्मजनित होने के कारण अनिष्ट ही हैं तथापि यह आत्मा उनको इष्ट मानता है।

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः।

विद्यतेऽत्र यदि स्वार्थं तथा किं न विमुच्यते॥ (27)

यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थ के लिये अविश्रान्त परिश्रम करता है उस प्रकार यदि अपने स्वार्थं मोक्ष व मोक्षमार्ग में लालसासहित प्रवृत्ति करे तो क्या यह कर्मों से मुक्त न होगा? अवश्य ही होगा।

इस प्रकार इस त्रितत्त्व के प्रकरण में तात्पर्य यह है कि इन तीन तत्त्वों की जो चेष्टा कही गई है सो सब इस आत्मा की ही चेष्टा है और वे सब ध्यान करने से प्रगट होती हैं। इस कारण आत्मा के ध्यान करने का विधान है। सो ऐसा ही करना चाहिये। मिथ्याकल्पना किसलिये करनी? मिथ्याकल्पनाओं से कुछ लौकिक चमत्कार ही तो हो सकता है परंतु उससे मोक्ष का साधन नहीं होता। इस कारण ऐसा ध्यान ही करना उत्तम है कि जिससे मोक्ष और सांसारिक अभ्युदय प्रगटे। इस प्रकार उपदेश है।

मम आध्यात्मिक रहस्य

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.तुम दिल की... 2.देहाची तिजोरी... 3.भातुकली...)

मैं अपावन आप पावन जाना हूँ व्यवहार नय से।

किन्तु जाना दोनों एक समान निश्चय द्रव्य दृष्टि से॥

आप परमात्मा मैं अशुद्धात्मा/(जीवात्मा), कर्मनिरपेक्ष-सापेक्ष से।
नयातीत द्रव्य दृष्टि से एक सम 'सर्व्वेसुद्धाहुसुद्धणया' से॥ (1)
मैं हूँ भव्य आप हो भगवान् मेरी भावी पर्यायमय आप हो।
आप की भूतपर्यायमय मैं हूँ तथाहि मैं भक्त आप भगवान् हो।
मैं हूँ छद्मस्थ आप सर्व्वज्ञ, कर्म के क्षयोपशम व क्षय से।
पारिणामिक भावमय जीवत्व गुण से, दोनों एक सम अभेदनय से॥ (2)
शुभ-अशुभभाव मय हूँ मैं, आप दोनों से परे शुद्धभावमय।
पाप-पुण्यमय अभी मैं हूँ, आप दोनों से परे स्वरूपमय॥
अतः मैं पूजक आप पूज्य हो, मैं पूजूँ "तद्गुणलब्धये"।
तव स्वरूप तव उपदेश से जाना हूँ अनेकान्त दृष्टि से॥ (3)
ऐसा जानना मानना तथा आचरण ही मोक्षमार्ग है।
तव स्वरूप बनना ही मोक्ष, यह ही धर्म का सुफल है॥
अन्यथा सभी अनात्म स्वरूप, जो विभाव परद्रव्यमय।
यह ही अधर्म, कुधर्म, विधर्म, जो "वस्तु स्वरूप धर्म" से भिन्न॥ (4)
मेरी वस्तु ही मेरा स्वरूप जो तव सम "सच्चिदानन्दमय"।
"सत् चित् आनन्द" ही मम स्वधर्म, अन्य सभी मुझसे परे है॥
यह ही भेदविज्ञान यह ही मोक्षमार्ग से ले मोक्ष तक है।
इस हेतु ही धर्म साधना है, 'कनक' का लक्ष्य स्वात्मोपलब्धि॥ (5)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-18-1-2021 रात्रि-12.16

संदर्भ-

"जैसा भावै सो तैसा हो जावै" अविनाशी अनंत अतींद्रिय सुख का निरंतर लाभ आत्मा की शुद्ध अवस्था में होता है। उस अवस्था की प्राप्ति का उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोग में तन्मय होकर निर्विकल्प समाधि में वर्तन करना है। तथापि परम्परा से उसका उपाय अरहंत और सिद्ध आदि परमेष्ठी उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है।

जो अरिहन्त के माध्यम से स्वयं को जानता है उसका मोह नाश होता

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (80) प्र.सार

He, who knows the Arihanta with respect to substantaility, quality, and modification, realizes himself, and his delusion, in fact, dwindles into destruction.

अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं परम औदारिक शरीर के आकार जो आत्मा के प्रदेशों का होना सो व्यंजन पर्याय है। अगुरुलघु गुण द्वारा षट् प्रकार वृद्धि हानि से वर्तन करने वाली अर्थपर्याय है। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायों के आधाररूप, अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमई अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्मा को पहले जानकर फिर निश्चयनय से उसी द्रव्यगुण पर्याय को आगम का सारभूत जो आध्यात्मिक भाषा है उसके द्वारा शुद्ध आत्मा की भावना के संमुख होकर अर्थात् विकल्प सहित स्वसंवेदन ज्ञान में परिणमन करते हुए तैसे ही आगम की भाषा से अधःकरण, अनिवृत्तिकरण नाम के परिणामविशेषों के बल से जो विशेष भाव दर्शन मोह के अभाव करने में समर्थ है, अपने आत्मा से जोड़ता है। उसके बाद निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति के लिए जैसे पर्याय रूप से मोती के दाने, गुण रूप से सफेदी आदि अभेद नय से एक हार रूप ही मालूम होते हैं तैसे ही पूर्व में कहे हुए द्रव्यगुण पर्याय अभेद-नय से आत्मा ही है, इस तरह भावना करते करते दर्शनमोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य रूप से गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों (अरहंत और अपनी आत्मा) में निश्चय से अन्तर नहीं है। अरहंत का रूप भी अन्तिम ताप को प्राप्त सोने के स्वरूप की भांति परिस्पष्ट (शुद्ध) आत्मा का रूप ही है, इस कारण से उनका (अरहन्त का) ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ (अरहंत में) अन्वय रूप द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण हैं, और अन्वय के व्यक्तिकेक (भिन्न-भिन्न, क्रम से होने वाली) पर्यायें हैं। वहाँ सर्वतः विशुद्ध भगवान् अरहन्त में (जीव)

तीनों प्रकार युक्त समय को भी (द्रव्य गुण पर्याय मय निज आत्मा को भी) अपने मन से देख लेता है। जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है, जो अन्वय के आश्रय रहने वाला चैतन्य है, यह विशेषण है, वह गुण है, और जो एक समय मात्र मर्यादित काल परिणाम के कारण से परस्पर भिन्न-भिन्न अन्वय के व्यक्तिकेक हैं वे पर्यायें हैं- जो कि चिदावर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गांठें) हैं। इस प्रकार अरहंत के द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है।

अब (1) इस प्रकार त्रैकालिक को भी (त्रिकाल इसी स्वभाव को धारण करने वाले अपने आत्मा को भी) एक काल में समझ लेने वाले, (2) झूलते हुए हार में मोतियों की तरह (जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अन्तर्गत) माना जाता है उसी प्रकार चिदावर्तों को (चैतन्य पर्यायों को) चेतन में ही अन्तर्गत करके तथा विशेषण विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से, हार में सफेदी की तरह (जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार) चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके केवल हार की तरह (जैसे मोती व सफेदी आदि के विकल्प को छोड़कर मात्र हार को जानता है, उसी प्रकार) केवल आत्मा को जानने वाले, (3) उसके उत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग नाश को प्राप्त हो जाने से निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होने वाले, (4) उत्तम मणि की भांति अकम्परूप से प्रवर्त रहा है निर्मल प्रकाश जिसका, ऐसे उस जीव के अवश्य ही निराश्रयता के कारण से मोहांधकार नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है तो मेरे द्वारा मोह की सेना को जीतने के लिये उपाय प्राप्त कर लिया गया।

समीक्षा-जीव एक द्रव्य है। जीव द्रव्य होने के कारण उसमें गुण भी है और पर्याय भी है। शुद्ध जीव का स्वरूप एक समान होते हुए भी संसारी जीव की अवस्थायें कर्मसापेक्ष होने से विभिन्न प्रकार की हैं। गुणस्थान की अपेक्षा मध्यम प्रतिपत्ति से इसके 14 भेद हैं। संक्षिप्त रूप से अन्य प्रकार से देखने पर इसके 3 भेद भी हैं यथा-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥ (14) समाधि.

सर्वप्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार है।

परमात्मा के उन तीन भेदों में से अन्तरात्मा के उपाय द्वारा परमात्मा को अंगीकर करें-
अपनावें और बहिरात्मा को छोड़ें।

बहिरातम अन्तरआतम परमातम जीव त्रिधा है।

देह जीव को एक गिनै बहिरातम तत्त्व मुधा है।।

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।

परमातम को ध्याय निरन्तर, ज्यो नित आनंद पूजै।। छ.ढा.

अरिहंत भगवान् भी एक चैतन्य द्रव्य है उनके अनंत ज्ञानादि अनंत गुण हैं एवं 13 वें गुणस्थानवर्ती शुद्धावस्थारूप पर्याय भी है। जो व्यक्ति अरिहंत भगवान् को द्रव्यदृष्टि, गुणदृष्टि एवं पर्यायदृष्टि से अवलोकन करते हुए स्वयं के स्वरूप का अवलोकन करता है वह स्वस्वरूप को भी जान लेता है। इसीलिए आचार्य स्वामी पूज्यपाद ने कहा है-

“श्री मुखालोकन देव श्री मुखावलोकनं भवेत्।”

अर्थात् जो भगवान् के श्री मुख का दर्शन करता है वह श्री अर्थात् मोक्षलक्ष्मी का दर्शन करता है। इसीलिए जिनदर्शन निजदर्शन है।

भक्त जब भगवान् के पास जाता है तब वह भगवान् के स्वरूप रूपी दर्पण से अपने स्वरूप का दर्शन करता है। जब वह दिव्यदृष्टि से स्वयं को एवं भगवान् को देखता है तब दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि पूज्य भी जीवद्रव्य है तथा पूजक भी जीवद्रव्य है। गुणदृष्टि से भी कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता है किन्तु जब पर्यायदृष्टि से अवलोकन करता है तब दोनों से महान् अन्तर परिलक्षित होता है क्योंकि भगवान् पर्यायदृष्टि से अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुखवीर्य के अक्षय भण्डार हैं एवं पूजक स्वयं अनन्त अज्ञान, दुःखादि को भोगने वाला है। अंग्रेजी में एक नीति वाक्य है-

There is no difference between God and us.

But there is no difference between God and us.

अर्थात् दिव्य दृष्टि से भगवान् और हमारे में कोई अन्तर नहीं है किन्तु अवस्था दृष्टि (पर्यायदृष्टि) से भगवान् और हमारे में महान् अन्तर है। भक्त भगवान् के पास एक अलौकिक उपादेय प्रशस्त स्वार्थ को लेकर जाता है। उसका स्वार्थ यह है कि

मेरा स्वरूप भगवान् स्वरूप होते हुए भी मैं अभी दीन-हीन भिखारी के समान हूँ। मैं भगवान् के पास में उनसे वही शिक्षा प्राप्त करूँ जिस मार्ग पर चलते हुए भगवान् ने इस परमोत्कृष्ट नित्यानन्द अवस्था को प्राप्त किया है। इसीलिए भक्त की आद्यन्त भावना एवं परिणति निम्न प्रकार की होती है-

दासोऽहं रटता प्रभो! आया जब तुम पास।

“द” दर्शत हट गयो, सोऽहं रहो प्रकाश।।

सोऽहं सोऽहं ध्यावतो रह न सको सकार।

दीप “अहं” मय हो गयो अविनाशी अविकार

जब भक्त भगवान् के पास आता है तब वह स्वयं को दास (पूजक) एवं भगवान् को प्रभु (पूज्य) मानता है। जब भगवान् का दर्शन करके भगवान् के स्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण करता है तदनन्तर जब वह पूज्य के गुणों को अनुकरण करके आध्यात्मिक साधना करता है तो उस साधना के फलस्वरूप निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करता है तब सोऽहं रूप विकल्प भी विलय हो जाता है। तब अहं रूप अविनाशी, अविकार स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही पूजा का परमोत्कृष्ट फल है। आचार्यप्रवर उमास्वामी ने कहा है-“**वंदे तद्गुण लब्धये**” अर्थात् मैं वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान् को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

वीरसेन स्वामी ने कहा है कि जो अरहंत की प्रतिमा के भी दर्शन करता है उसका मोहनीयकर्म क्षय होता है जिससे जिनबिंब दर्शन से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कहा है।

जैसे-अंकुर की मूल पर्याय बीज है और भविष्यत् पर्याय वृक्ष है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भूत पर्याय मिथ्यात्वावस्था और भविष्यत् पर्याय भगवान् अवस्था है। भव्यभावी भगवान् है तो भगवान् भूत भव्य है जैसे-बालक भावी प्रौढ़ मानव है और प्रौढ़ मानव भूत बालक है। इसलिये जो आत्मा है वही परमात्मा है। समाधितंत्र में पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।। (31)

अन्तरात्मा विचारता है कि जो परमशुद्ध परमात्मा है वही ही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वह परमात्मा है, इस कारण मेरे द्वारा मुझसे मैं ही उपासना ध्यान करने योग्य हूँ, कोई अन्य पदार्थ उपासना करने योग्य नहीं है ऐसी परिस्थिति व्यवस्था है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।

वत्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥ (97)

अपने आत्मा से भिन्न अरहंत, सिद्ध भगवान् की उपासना आराधना करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाता है। जैसे-दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानी साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।

मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्रिर्यथा तरुः॥ (98)

अथवा अपना आत्मा अपने आत्मस्वरूप को ही आराधना-चिन्तन करके परमात्मा हो जाता है जैसे अपने आप को ही रगड़कर बांस का पेड़ स्वयं ही अग्नि हो जाता है।

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।

तेहउ णिवसइ बंभु परू देहहँ मं करि भेउ॥ (26) प.प्र.

जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूपी मल से रहित केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकर शक्तिरूप परमात्मा शरीर में तिष्ठता है, इसलिए हे प्रभाकर भट्ट!, तू सिद्ध भगवान् में और अपने में भेद मत कर।

जँ दिट्ठं तुट्ठंति लहु कम्मइँ पुव्व कियाइँ।

सो परू जाणाहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ॥ (27)

जिस आत्मा को सदा आनंद रूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रों कर देखने से शीघ्र ही निर्वाण को रोकने वाले पूर्वजीवोपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान के अभाव से जो पहले शुभ अशुभ कर्म कमाये थे वे निजस्वरूप के देखने से ही नाश हो जाते हैं, उस सदानन्दरूप परमात्मा को देह में बसते हुए भी हे योगी! तू क्यों नहीं जानता।

देहादेवाले जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु।

केवल-गाण-फुरंत-तणु जो परमणु णिभंतु।। (33)

जो व्यवहारनयकर देहरूपी देवालय में बसता है, निश्चयनयकर देह से भिन्न है, देह की तरह मूर्तिक तथा अशुचिमय नहीं है, महापवित्र है, आराधने योग्य है, पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है, जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है, तथा देह आदि अंतकर सहित है, जो आत्मा निश्चयकर लोक अलोक को प्रकाशने वाले केवलज्ञान स्वरूप है, अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह जड़ है, वही परमात्मा निःसदेह है, इसमें कुछ संशय नहीं समझना।

बुज्जंतहं परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोई।

जीवा सयल वि बंधु परू जेण वियाणइ सोइ।। (94)

हे जीव! परमार्थ को समझने वालों के कोई जीव बड़ा छोटा नहीं है, सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप है, क्योंकि निश्चयनय से वह सम्यग्दृष्टि एक भी जीव सबको जानता है।

जो भत्तउ-रयणत्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ।

अच्छउ कहिं वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ।। (95)

जो मुनि रत्नत्रय की आराधना करने वाला है, उसके यह लक्षण जानना कि किसी शरीर में जीव रहे, वह ज्ञानी उस जीव का भेद नहीं करता अर्थात् देह के भेद से गुरुता लघुता का भेद करता है, परन्तु ज्ञानदृष्टि से सबको समान देखता है।

जीवहं तिहुयण संठियहं मूढा भेउ करंति।

केवल-गाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणांति।। (96)

तीन भुवन में रहने वाले जीवों का मूर्ख ही भेद करते हैं, और ज्ञानी जीव केवलज्ञान से प्रकट सब जीवों को समान जानते हैं।

जीवा सयल वि णाणमय जम्मण-मरण विमुक्क।

जीव-पएसहिं सयल सम सयल वि सगुणांहिं एक्क।। (97)

सभी जीव ज्ञानमयी है, और अपने-अपने प्रदेशों से सब समान हैं, सब जीव अपने केवल ज्ञानादि गुणों से समान हैं।

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु।

तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु।। (98)

जीवों का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने दर्शन और ज्ञान कहा है, इसीलिए उन जीवों में भेद मत कर, अगर तेरे मन में ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है, अर्थात् हे शिष्य, ! तू सबको समान जान।

बंभहँ भुवणि बसंताहँ जे णवि भेउ करंति।

ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति।। (99)

इस लोक में रहने वाले जीवों का भेद नहीं करते हैं, वे परमात्मा के प्रकाश करने वाले योगी, अपने निर्मल आत्मा को जानते हैं।

देह-विभेयहँ जो कुणइ जीवइँ भेउ विचित्तु।

सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु।। (102)

जो शरीरों के भेद से जीवों का नानारूप भेद करता है, वह उन जीवों का दर्शन ज्ञान चरित्र लक्षण नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणों की परीक्षा पहचान नहीं है।

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।

तेण सरूविं परिणवइ जह-फलिहउ-मणि मंतु।। (173)

यह प्रत्यक्षरूप अविनाशी आत्मा जिस स्वरूप से ध्याया जाता है, उसी स्वरूप परिणमता है, जैसे एक स्फटिक मणि और गरुड़ी मंत्र है।

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसँ जायउ जप्पा।

जामइँ जाणइ अप्पँ अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा।। (174)

यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञान कर प्रत्यक्ष जो आत्मा वही शुद्धनिश्चयनयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहारनयकर अनादि कर्मबंध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है, परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कर अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मा देव है।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।

जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु।। (175)

जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मैं ही हूँ, जो कि अविनाशी देवस्वरूप हूँ जो मैं हूँ वही उत्कृष्ट परमात्मा है। निस्सन्देह तू भावना कर।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहँ सारू।

इउ जाणेविण जोइयहो छंडहु मायाचारू॥ (21) योगसार

जो जिन भगवान् है वही आत्मा है-यहीं सिद्धान्त का सार समझो, इसे समझकर हे योगीजनों! मायाचार को छोड़ो।

जो परमप्पा सो जि हउँ जो हउँ सो परमप्पु।

इह जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु॥ (22)

जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है, यह समझकर हे योगिन्! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो।

जो तइलोयहँ झेउ जिणु सो अप्पा णिरू वुत्तु।

णिच्छय-णइँ एमइ भणित एहउ जाणि विभंतु॥ (28)

जो तीन लोकों के ध्येय भगवान् हैं, निश्चय से उन्हें ही आत्मा कहा है-यह कथन निश्चयनय से है। इसमें भ्रान्ति न करनी चाहिए।

जं वडमज्झहँ बीउ फुडु बीयहं वडु वि हु जाणु।

तं देहहँ देउ वि मुणहि, जो तइलोय पहाणु॥ (74)

जैसे बड़ के वृक्ष में बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही बीज में भी बड़ वृक्ष रहता है। इसी तरह देव भी उस देह में जो विराजमान समझो, जो तीनों लोकों में मुख्य है।

जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहए भाउ णिभंतु।

मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु॥ (75)

जो जिनदेव है वह मैं हूँ-इसकी भ्रान्ति रहित होकर भावना कर। हे यागिन्! मोक्ष का कारण कोई अन्य मंत्र तंत्र नहीं है।

रागद्वेष मोह त्याग से शुद्धात्मोपलब्धि-

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।

जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ (81)

The soul, being free from delusion and having grasped well the reality of the self, realizes the pure self, if it abandons attachment and aversion.

इस जगत् में प्रमाद को उत्पन्न करने वाला चरित्रमोहनाम का चोर है, ऐसा मानकर आप्त श्री अरहन्त भगवान् के स्वरूप के ज्ञान से जो शुद्धात्मा रूपी चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ है उसकी रक्षा के लिए ज्ञानी जीव जागता रहता है।

सिद्धों का सुख-

णिरुवम-रूवा णिट्टियकज्जा णिच्चा णिरंजणा णिरुजा।

णिम्मल-बोधा सिद्धा, णिरवज्जा णिवक्कला सगाधारा।। (17) ति.प.

लोयालोय-विभागं, तम्मिट्टिय सव्व-दव्व पज्जायं।

तिय-काल-गदं सव्वं, जाणंति हु एक्क-समएण।। (18)

अनुपम स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, नीरोग, निर्वद्य, निष्पाप, स्व आधार और निर्मलज्ञान से युक्त सिद्ध परमेष्ठी लोक और परलोक के विभाग को, लोक स्थित सर्व द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायों को एक ही समय में जानते हैं।

जाइ-जरा-मरणेहिं, णिम्मुका णिम्मला अणक्खयरा।

अवगद-वेदा सव्वे, अणंत-बोहा अणंत-सुहा।। (19)

किदकिच्चा सव्वण्ह, सत्ताधादा सदा-सिवा सुद्धा।

परमेष्ठी परम-सुही, सव्वगया सव्व-दरिसीय।। (20)

अव्वावाहमणंतं, अक्खयमणुवमणिंदियं सोक्खं।

अप्पुट्टुं भुंजंति हु, सिद्धा सदा-सदा सव्वे।। (21)

जन्म, जरा और मरण से विनिर्मुक्त, निर्मल, अनक्षर (शब्दातीत), वेद से रहित, अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी, कृतकृत्य, सर्वज्ञ, स्व-सत्ता से सब कर्मों का घात करनेवाले, सदाशिव, शुद्ध, परम पद में स्थित, परम सुखी, सर्वगत, सर्वदर्शी, ऐसे सर्व सिद्ध अव्याबाध, अनन्त, अक्षय, अनुपम और अतीन्द्रिय सुख का निरन्तर भोग करते हैं।

सिद्धत्व के कारण-

जह चिर-संचिदमिंधणमणलो पवणाहदो लहुं दहइ।

तह कम्मिंधणमहियं, खणेण झाणाणलो वहइ।। (22)

जिस प्रकार चिर-सञ्चित ईंधन को पवन से आहत अग्नि शीघ्र ही जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि बहुतभारी कर्मरूपी ईंधन को क्षण-मात्र में जला देती है।

जो खवदि-मोह-कलुसो, विसय-विरतो मणो णिरुंभित्ता।

समवट्टिदो सहावे, सो पावइ णिव्वुदिं सोक्खं।। (23)

जो दर्शनमोह और चारित्रमोह को नष्ट कर विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोककर (आत्म) स्वभाव में स्थित होता है वह मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

जस्स णि विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोग-परिकम्मो।

तस्स सुहासुह-दहणज्झाणमओ जायदे अगणी।। (24)

जिसके राग, द्वेष, मोह और योग-परिकर्म (योग-परिणति) नहीं है उसके शुभाशुभ (पुण्य-पाप) को जलानेवाली ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है।

दंसण-णाण-समग्गं, झाणं णो अण्ण-दव्व-संसत्तं।

जायदि णिज्जर-हेदू, सभाव-सहिदस्स साहुस्स।। (25)

(शुद्ध) स्वभाव युक्त साधु का दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान निर्जरा का कारण होता है, अन्य द्रव्यों से संसक्त वह (ध्यान) निर्जरा का कारण नहीं होता।

जो सव्व-संग-मुक्को, अणण्ण-मणो अप्पणो सहावेण।

जाणदि पस्सदि आदं, सो सग-चरियं चरदि जीवो।। (26)

जो (अन्तरङ्ग बहिरङ्ग) सर्व सङ्ग से रहित और अनन्यमन (एकाग्रचित्त) होता हुआ अपने चैतन्य स्वभाव से आत्मा को जानता एवं देखता है, वह जीव आत्मीय चारित्र का आचरण करता है।

णाणम्मि भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य।

ते पुण आदा तिण्णि वि, तम्हा कुण भावणं आदे।। (27)

ज्ञान, दर्शन और चारित्र में भावना करनी चाहिए। यद्यपि ये तीनों (दर्शन, ज्ञान और चारित्र) आत्मस्वरूप हैं अतः आत्मा में ही भावना करो।

अहमेक्को खलु सुद्धो, दंसण-णाणप्पणो सदासूवी।

ण वि अत्थि मज्झि किंचि वि, अण्णं परमाणुमेत्तं पि।। (28)

मैं निश्चय से सदा एक, शुद्ध, दर्शन, ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ। परमाणु मात्र (प्रमाण भी) अन्य कुछ मेरा नहीं है।

णत्थि मम कोइ मोहो, बुज्झो उवजोगमेवमहमेगो।

इह भावणाहि जुत्तो, खवेइ दुट्ठ-कम्माणिं।। (29)

मोह मेरा कुछ भी नहीं है, एक ज्ञान दर्शनोपयोगरूप ही मैं जानने योग्य हूँ; ऐसी भावना से युक्त दुष्ट-कर्मों को नष्ट करता है।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।

इदि जो झायदि झाणे, सो मुच्चइ अट्ट-कम्मेहिं।। (30)

न मैं पर पदार्थों का हूँ न पर पदार्थ मेरे हैं मैं तो ज्ञान स्वरूप एकला ही हूँ; इस प्रकार जो ध्यान में चिन्तन करता है वह आठ कर्मों से मुक्त होता है।

चित्त-विरामे विरमंति, इंदिया इंदियासु विरदेसु।

आद-सहावम्मि रदी, होदि पुढं तस्स णिव्वाणं।। (31)

चित्त के शान्त होने पर इन्द्रियाँ शान्त होती हैं और इन्द्रियों के शान्त होने पर आत्म स्वभाव में रति होती है, फिर उसका स्पष्टतया निर्वाण होता है।

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।

एवं खलु जो भाओ, सो पावइ सासयं ठाणं।। (32)

न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ। इस प्रकार का जो भाव है (उसे भाने वाला) वह शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है।

देहो व मणो वाणी, पोग्गल-दव्वं परोत्ति णिद्धिं।

पोग्गल-दव्वं पि पुणो, पिंडो परमाणु-दव्वाणं।। (33)

देह के सदृश मन और वाणी पुद्गल-द्रव्यात्मक पर हैं ऐसा कहा गया है। पुनः पुद्गल द्रव्य भी परमाणु-द्रव्यों का पिण्ड है।

णाहं पुग्गलमइओ, ण दे मया पुग्गला कदा पिंडं।

तम्हा हि ण देहो हं, कत्ता वा तस्स देहस्स।। (34)

न मैं पुद्गलमय हूँ और न मैंने उन पुद्गलों को पिण्ड (स्कन्ध) रूप किया है, इसलिए न मैं देह हूँ और न इस देह का कर्ता ही हूँ।

एवं णाणप्पाणं, दंसण-भूदं अदिंदियमहत्थं।

धुवममलमणालंबं, भावेमं अप्पयं सुद्धं।। (35)

इस प्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महार्थ, नित्य, निर्मल और निरालम्ब शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।

इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादो।। (36)

न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं मैं तो ज्ञानमय एकला हूँ, इस प्रकार जो ध्यान में आत्मा का चिन्तन करता है वही ध्याता है।

जो एवं जाणित्ता, झादि परं अप्पयं विसुद्धप्पा।

अणुवममपारमदिसय, सोक्खं पावेदि सो जीओ।। (37)

जो विशुद्ध आत्मा इस प्रकार जानकर उत्कृष्ट आत्मा का ध्यान करता है वह जीव अनुपम, अपार और अतिशय सुख प्राप्त करता है।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।

एवं खलु जो भावइ, सो पावइ सव्व-कल्लणं।। (38)

न मैं पर पदार्थ का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं, यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है; जो इस प्रकार भावना पाता है वह सब कल्याण पाता है।

उद्धोध-मज्झ-लोए, ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।

इह भावणाहि जुत्तो, सो पावइ अक्खयं सोक्खं।। (39)

यहाँ ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में पर पदार्थ मेरे कुछ भी नहीं है, यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की भावनाओं से युक्त जीव अक्षय-सुख पाता है।

मद-माण-माय-रहिदो, लोहेण विवज्जिदो य जो जीवो।

णिम्मल-सहाव-जुत्तो, सो पावइ अक्खयं-ठाणं।। (40)

जो जीव मद, मान एवं माया से रहित; लोभ से वर्जित और निर्मल स्वभाव से युक्त होता है वह अक्षय स्थान को पाता है।

परमाणु-पमाणं वा, मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।

सो ण विजाणदि समयं-सगस्स सव्वागम-धरो वि।। (41)

जिसके परमाणु प्रमाण भी देहादिक में राग है, वह समस्त आगम का धारी होकर भी अपने समय (आत्मा) को नहीं जानता है।

**तम्हा णिव्वुदि-कामो, रागं देहेसु कुणदु मा किंचि।
देह-विभिण्णो अप्पा, भायव्वो इंदियादीदो।। (42)**

इसलिए हे मोक्षाभिलाषी! देह में कुछ भी राग मत करो। (तुम्हारे द्वारा) देह से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा का ध्यान किया जाना चाहिए।

**देहत्यो देहादो, किंचूणो देह-वज्जिओ सुब्बो।
देहायारो अप्पा, झायव्वो इंदियातीदो।। (43)**

देह में स्थित, देह से कुछ कम, देह से रहित, शुद्ध, देहाकार और इन्द्रियातीत आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

**झाणे जदि णिय-आदा, णाणादो णावभासदे जस्स।
झाणं होदि ण तं पुण, जाण पमादो हु मोह-मुच्छा वा।। (44)**

जिस जीव के ध्यान में यदि ज्ञान से निज आत्मा का प्रतिभास नहीं होता है तो फिर वह ध्यान नहीं है। उसे (तुम) प्रमाद, मोह अथवा मूर्च्छा ही जानो।

**गयसिस्थ-मूस-गब्भायारो रयणत्तयादि-गुण-जुत्तो।
णिय-आदा झायव्वो, खय-रहिदो जीव-घण-देसो।। (45)**

मोम से रहित मूसक के (अभ्यन्तर) आकाश के आकार, रत्नत्रयादि गुणों से युक्त अविनश्वर और अखण्ड-प्रदेशी निज आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

**जो आद-भाव-णमिणं, णिच्चुव-जुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं, पावइ अचिरेण कालेण।। (46)**

जो साधु नित्य उद्योगशील होकर उस आत्म-भावना का आचरण करता है वह थोड़े समय में ही सब दुःखों से छुटकारा पा लेता है।

**कम्मे णोकम्मम्मि य, अहमिदि अहयं च कम्म-णोकम्मं।
जायदि सा खलु बुद्धी, सो हिंडइ गरुव-संसारं।। (47)**

कर्म और नोकर्म में “मैं हूँ” तथा मैं कर्म-नोकर्मरूप हूँ; इस प्रकार जो बुद्धि होती है उससे यह प्राणी गहन संसार में घूमता है।

जो खविद-मोह-कम्मो, विसय-विरत्तो मणो णिरुभित्ता।

समट्टिदो सहावे, सो मुच्चइ कम्म-णिलेहिं॥ (48)

जो मोहकर्म (दर्शनमोह और चारित्रमोह) को नष्टकर विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोककर स्वभाव में स्थित होता है, वह कर्मरूपी साँकलों से छूट जाता है।

पयडिडिदि-अणुभागप्पदेस-बंधेहि वज्जिओ अप्पा।

सोहं इदि चित्तेज्जो, तत्थेव य कुणह थिर-भावं॥ (49)

जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश और बन्ध रहित आत्मा है वही मैं हूँ, इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये और उसमें ही स्थिरता करनी चाहिये।

केवलणाण-सहाओ, केवलदंसण-सहाओ सुहमइयो।

केवल-विरिय-सहाओ, सोहं इदि चिंतए णाणी॥ (50)

जो केवलज्ञान एवं केवलदर्शन स्वभाव से युक्त, सुख-स्वरूप और केवल-वीर्य-स्वभाव है वही मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिए।

जो सव्व-संग-मुक्को, झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।

सो सव्व दुक्ख-मोक्खं, पावइ अचिरेण कालेण॥ (51)

सर्व सङ्ग (परिग्रह) से रहित जो जीव अपने आत्मा का आत्मा के द्वारा ध्यान करता है वह थोड़े ही समय में समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है।

जो इच्छदि णिस्सरिदुं, संसार-महण्णवस्स रुंदस्स।

सो एवं जाणित्ता, परिझायदि अप्पयं सुद्धं॥ (52)

जो गहरे संसाररूपी समुद्र से निकलने की इच्छा करता है वह इस प्रकार जानकर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

पडिकमणं पडिसरणं, पडिहरणं धारणा णियत्ती य।

णिंदण-गरहण-सोही, लब्भंति णियाद-भावणए॥ (53)

निजात्म-भावना से (जीव) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन, गर्हण और शुद्धि को प्राप्त करते हैं।

जो णिहद-मोह-गंठी, राय-पदोसे वि खविय सामणो।

होज्जं सम-सुह-दुक्खो, सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥ (54)

जो मोह रूप ग्रन्थि को नष्टकर श्रमण अवस्था में राग-द्वेष का क्षपण करता हुआ सुख-दुःख में समान हो जाता है, वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

ण जहदि जो दु ममत्तं, अहं ममेदं ति देह-दविणेसु।

सो मूढो अण्णाणी, बज्झदि दुडुडु-कम्मोहिं॥ (55)

जो देह में 'अहम्' (मैं पना) और धन में 'ममेदं' (यह मेरा) इस दो प्रकार के ममत्व को नहीं छोड़ता है, वह मूर्ख अज्ञानी दुष्ट कर्मों से बँधता है।

पुण्णेण होइ विहओ, विहवेण मओ मएण मह-मोहो।

मइ-मोहेण य पावं, तम्हा पुण्णो विवज्जेज्जो॥ (56)

पुण्य से वैभव, वैभव से मद, मद से मति-मोह और मति-मोह से पाप होता है, अतः पुण्य को छोड़ना चाहिए।

परमट्ट-बाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।

संसार-गमण-हेदुं, विमोक्ख-हेदुं अयाणंता॥ (57)

जो परमार्थ से बाहर हैं वे संसार-गमन और मोक्ष के हेतु को न जानते हुए अज्ञान से पुण्य की इच्छा करते हैं।

ण हु मण्णवि जो एवं, णत्थि विसेसो त्ति पुण्ण-पावाणं।

हिंडदि घोरमपारं, संसार मोह-संछण्णो॥ (58)

पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, इस प्रकार जो नहीं मानता है, वह मोह से युक्त होता हुआ घोर एवं अपार संसार में भ्रमण करता है।

मिच्छत्तं अण्णाणं, पावं पुण्णं चएवि तिविहेणं।

सो णिच्चयेण जोई, ज्ञायव्वो अप्पयं सुद्धं॥ (59)

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य इनका (मन, वचन, काय) तीन प्रकार से त्याग करके योगी को निश्चय से शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।

सुद्धेण तहा सुद्धो, हवदि हु परिणाम-सब्भावो॥ (60)

परिणाम-स्वभावरूप जीव जब शुभ अथवा अशुभ परिणाम से परिणमता है तब शुभ अथवा अशुभ (रूप) होता है और जब शुद्ध परिणाम से परिणमता है तब शुद्ध होता है।

धम्मणेण परिणदप्पा, अप्पा जइ सुद्ध-संपजोग-जुदो।

पावइ-णिव्वाण-सुहं, सुहोवजुत्तो य सग्ग-सुहं॥ (61)

धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्ध उपयोग से युक्त होता है तो निर्वाण-सुख को और शुभोपयोग से युक्त होता है तो स्वर्ग-सुख को प्राप्त करता है।

असुहोदएण आदा, कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।

दुक्ख-सहस्सेहिं सदा, अभिंधुदो भमदि अच्चंतं॥ (62)

अशुभोदय से यह आत्मा कुमानुष, तिर्यञ्च और नारकी होकर सदा अचिन्त्य हजारों दुःखों से पीड़ित होकर संसार में अत्यन्त (दीर्घकाल तक) परिभ्रमण करता है।

अदिसयमाद-समेत्तं, विसयातीदं अणोवममणंतं।

अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुध्दुवजोगप्प-सिद्धाणं॥ (63)

शुद्धोपयोग से उत्पन्न सिद्धों को अतिशय, आत्मोत्थ, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और विच्छेद रहित सुख प्राप्त होता है।

रागादि-संग-मुक्को, दहइ मुणी सेय-झाण-झाणेणं।

कम्मिंधण-संघायं, अणोय-भव-संचियं खिप्पं॥ (64)

रागादि परिग्रह से रहित मुनि शुक्लध्यान नामक ध्यान से अनेक भवों से संचित किये हुए कर्मरूपी ईंधन के समूह को शीघ्र जला देता है।

जो संकप्प-वियप्पो, तं कम्मं कुणदि असुह-सुह-जणणं।

अप्पा-सभाव-लद्धी, जाव ण हियये परिफुरइ॥ (65)

जब तक हृदय में आत्म-स्वभाव की उपलब्धि प्रकाशमान नहीं होती तब तक जीव संकल्प-विकल्परूप शुभ-अशुभ को उत्पन्न करने वाला कर्म करता है।

बंधाणं च सहावं, विजाणिदुं अप्पणो सहावं च।

बंधेसु जो ण रज्जदि, सो कम्म-विमोक्खणं कुणइ॥ (66)

जो बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों में अनुरञ्जायमान नहीं होता है, वह कर्मों का मोक्ष (क्षय) करता है।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोणहं पि।

अण्णाणो ताव दु सो, विसयादिसु वट्टते जीवो॥ (67)

जब तक जीव आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेष अन्तर को नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी विषयादिकों में प्रवृत्त रहता है।

ण वि परिणमदि ण गेणहदि, उप्पज्जदि ण परदव्व-पज्जाए।

णाणी जाणतो वि हु, पोग्गल-दव्वं अणेय-विहं।। (68)

ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुद्गल द्रव्य को जानता हुआ भी परद्रव्य-पर्याय से न परिणमता है, न (उसे) ग्रहण करता है और न (उस रूप) उत्पन्न होता है।

जो परदव्वं तु सुहं, असुहं वा मण्णदे विमूढ-मई।

सो मूढो अण्णाणी, बज्जदि दुड्ढ-कम्महिं।। (69)

जो मूढ-मति पर द्रव्य को शुभ अथवा अशुभ मानता है, वह मूढ अज्ञानी दुष्ट आठ कर्मों से बँधता है।

अभी हूँ अपूर्ण/(अल्पज्ञ) बनना है सम्पूर्ण (सर्वज्ञ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: पायोजी मैंने...)

जाना है मैंने श्रद्धा-प्रज्ञा आगम से,

मैं हूँ सर्वज्ञ अभी हूँ अल्पज्ञ अनेकान्त दृष्टि से॥

द्रव्यदृष्टि से या शुद्धनय से मैं हूँ सर्वज्ञ सर्वदर्शी,

किन्तु कर्मबन्ध से अभी हूँ असर्वज्ञ असर्वदर्शी॥ (1)

सर्वज्ञ बनना अतः मेरा धर्म, इस हेतु करूँ साधना,

इस हेतु मैं अभी स्वयं को जानूँ मुझमें अभी अपूर्णता।

यदि मैं अभी स्वयं को पूर्ण मानूँ पूर्णता हेतु न करूँगा पुरुषार्थ,

संकीर्ण क्षुद्रता में ही अहंकारी बन करूँगा आत्मपतन॥ (2)

राजा महाराजा सेठ साहुकार से ले इन्द्र चक्रवर्ती,

नहीं होते हैं सम्पूर्ण आचार्य उपाध्याय साधु गणधर तक भी।

चार ज्ञान व चौसठ ऋद्धि सम्पन्न गणधर भी होते छद्मस्थ

इसलिए तो पूर्णता हेतु करते साधना पूछते साठ हजार प्रश्न॥ (3)

तीन कल्याण व चौसठ ऋद्धिधारी तीर्थंकर मुनि भी छद्मस्थ।

सर्वज्ञ बनने हेतु करते वे आत्मा को शुद्ध समर्थ॥
 समता शान्ति व आत्मविशुद्धि से करते वे आत्म साधना,
 ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि परे करते आत्म आराधना॥ (4)
 ऐसा ही मेरा लक्ष्य अतः मैं सतत कर रहा हूँ आत्मसाधना।
 इस हेतु ही ध्यान-अध्ययन करूँ प्राप्त हेतु सर्वज्ञपना॥
 सर्वज्ञत्व ही मेरा शुद्धस्वरूप इसे प्राप्त करना ही मेरा धर्म।
 स्वधर्म अतिरिक्त अन्य सभी विधर्म 'कनक' चाहे आत्मधर्म॥ (5)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा, दि-25/01/2021, रात्रि-8.57

(यह कविता वीरेन्द्र जैन के कारण बनी)

संदर्भ-

बादरसांपराये सर्वे। (12) मोक्षशा.

All the afflictions arise in the case of the ascetic with grass passions.

बादर साम्पराय में सब परीषह सम्भव हैं।

यहाँ बादर साम्पराय कहने से गुणस्थान विशेष (नवम्) गुणस्थान (मात्र) का ग्रहण नहीं है अपितु अर्थ निर्देश है कि प्रमत्तादि संयतों का सामान्य ग्रहण है। बादर (स्थूल) साम्पराय (कषाय) जिनके हैं वे बादर साम्पराय है।

निमित्त विशेष का सद्भाव होने से सर्व परीषहों का बादर साम्पराय में सद्भाव पाया जाता है क्षुधादि परीषह में ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय निमित्त विशेष है। उन ज्ञानावरणादि सारे निमित्तों का सद्भाव रहने पर बादर साम्पराय अर्थात् प्रमत्तसंयत से लेकर नवम् गुणस्थान तक के साधुओं के क्षुधा आदि सभी परीषह होती है।

प्रश्न-किस-किस चारित्र में सर्व परीषहों की संभावना है?

उत्तर-सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि, इन तीन चारित्रों में क्षुधादि सर्व परीषहों की संभावना है, अर्थात् इनके सर्व परीषह होते हैं।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। (13)

प्रज्ञा Conceit and; अज्ञान Lack of knowledge, sufferings are

caused by the operation of ज्ञानावरणीय , Knowledge obscuring karmas.

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं, प्रज्ञा क्षयोपशमिकी है, अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है, अन्य ज्ञानावरण के उदय के सद्भाव में प्रज्ञा का सद्भाव है अतः क्षयोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के उदय में मद उत्पन्न करती है, सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने पर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं अर्थात् इन दोनों परीषहों की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म का उदय ही कारण है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर केवलज्ञान होता है केवलज्ञान होने पर किसी प्रकार अहंकार नहीं होता है। जो अत्यंत अज्ञानी है, जैसे-एकेन्द्रिय आदि जीव; इनके विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होने से तथा तीव्र ज्ञानावरणीय का उदय होने पर विशेष ज्ञान न होने के कारण इनके भी प्रज्ञा और अज्ञान परीषह विशेष नहीं होते हैं। लोकोक्ति भी है-“रिक्त चना बाजे घना।”

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।। (13) (नीतिशतक)

नासमझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है परन्तु जो न समझदार है, न नासमझ है, ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते।

इसीलिये इंग्लिश में कहावत है- A half mind is always dangerous.

जो अल्पज्ञ होते हैं वे भयंकर होते हैं।

"The little mind is proud of own condition." संकीर्ण मन एवं कम बुद्धि वाले अधिक अहंकारी होते हैं। अल्पज्ञ लोग अहंकार से स्वयं को सर्वज्ञ मानकर सत्य को नकारते करते हैं।

मूर्खस्य पंच चिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा।

हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते।। (चाणक्य)

मूर्खों के निम्नलिखित पाँच चिह्न हैं।

(1) अहंकारी होना (2) अपशब्द बोलना (3) हठग्राही (4) अप्रिय बोलना (5) दूसरों के द्वारा कहा हुआ हित सत्य नहीं मानना।

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ। (14)

अदर्शन Slack belief by; दर्शनमोहनीय right belief deluding, and failure to get alms by अन्तराय, Obstructive, karma.

दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

इस सूत्र में अन्तराय ऐसा सामान्य निर्देश है फिर भी सामर्थ्य से विशेष का संप्रत्यय होता है। यद्यपि इस सूत्र में अन्तराय यह सामान्य निर्देश है तथापि यहाँ सामर्थ्य से (अलाभ के ग्रहण से) लाभान्तराय विशेष का ही ज्ञान होता है। अर्थात् अदर्शन परीषह दर्शनमोह के उदय से अलाभ परीषह लाभान्तराय के उदय से होती है; ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि सूत्र में अलाभ का ग्रहण है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः। (15)

Nakedness; Ennui; woman; Sitting or posture; Abuse; Begging; Respect and disrespect sufferings are due to; चारित्रमोहनीय right Conduct deluding karmas.

चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं-

प्रश्न-पुरुषवेद-स्त्रीवेद के उदय निमित्त से होने वाली नाग्न्य, अरति, स्त्री, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार परीषहों को चारित्रमोहनीय के उदय से मानना ठीक भी है परन्तु निषद्या परीषह भी मोहनीय कर्म के उदय में कैसे हो सकता है?

उत्तर-निषद्या परीषह भी मोहनीय कर्म के उदय से होती है, प्राणी पीड़ा कारण होने से। मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी-हिंसा के परिणाम होते हैं अतः प्राणी-हिंसा की परिपालना कारण होने से निषद्या परीषह को भी मोहोदयहेतुक ही समझना चाहिये। अर्थात् अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से निषद्या परीषह होती है।

वेदनीये शेषाः। (16)

The rest are caused by वेदनीय Vedaniya Karmas. They are 11 and given in the 11th sutra above.

बाकी के सब परीषह वेदनीय के सद्भाव में होते हैं।

उपर्युक्त प्रज्ञादि परीषहों से अतिरिक्त क्षुत्पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, ये ग्यारह परीषह शेष शब्द से निर्दिष्ट हैं अतः ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होते हैं।

एक साथ होने वाले परीषहों की संख्या

एकादयो भाज्य युगपदेकस्मिन्नैकोत्रविंशतेः। (17)

From 1 to 19 at one and the same time can be possible to a saint (but not more than 19).

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्प से हो सकते हैं।

शीत, उष्ण, शय्या, निषद्या और चर्या, ये पाँचों एक साथ नहीं होती हैं, अतः एक साथ उन्नीस परीषह होते हैं। अर्थात् शीत-उष्ण में से एक शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों में से एक परीषह एक आत्मा में होते हैं। क्योंकि ये तीनों एक साथ नहीं रहते अतः शीत और उष्ण में से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या में से कोई एक परीषह होने से और शेष तीन का अभाव होने से एक आत्मा में एक साथ उन्नीस परीषह ही होते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे,

लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गो गतिर्निवृते।

येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहङ्कारा श्रुतेर्गोचराः,

चित्रं संप्रति लेशितोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः॥ (218) आत्मानु.

इस लोक में पहले अनेक महापुरुष हुए हैं, वे वचनों में सत्य, शास्त्रों में बुद्धि, हृदय में दया, भुजाओं में शौर्य युक्त पराक्रम, लक्ष्मी के याचकों को पूर्ण दान और निवृत्ति मार्ग में गमन आदि अनेक गुण युक्त होने पर भी अहंकार रहित थे-ऐसा शास्त्रों में कहा है। लेकिन इस कलि-काल में लेशमात्र गुण नहीं होने पर भी लोग सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं, अतः गर्व करना व्यर्थ है। अत्यन्त उद्धत होकर महागर्व से चूर हो रहे हैं-यह बड़े आश्चर्य का विषय है।

सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं, अतः गर्व करना व्यर्थ है।

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः।

उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य।

तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं

वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु॥ (219)

गर्व करना झूठा है, क्योंकि गर्व करना तो तब उचित है, जब कोई अपने से अधिक न हो, परन्तु सब एक से बढ़ कर एक हैं (फिर क्या गर्व करना?) प्रत्यक्ष में देखो! सब पदार्थ पृथ्वी पर रहते हैं, इसलिए सबका आधार पृथ्वी है। लेकिन यह त्रैलोक्य की भूमि घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयों के आधार से है। यह पृथ्वी और ये वातवलय आकाश के उदर में हैं। तथा अनन्त आकाश केवली के ज्ञान के अंश में लीन हैं। सब एक से बढ़ कर एक हैं, इसलिए अपने से बहुतों को अधिक जान कर कौन गर्व करेगा? विवेकी तो कदापि गर्व नहीं करेंगे।

माया से होने वाली हानि

यशो मारीचीयं कनकमृगयामलिनितं

हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः

सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबटुवेषेण नितरा-

मपि सद्बाल्यं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः॥ (220) आत्मा.शा.

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।

यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः॥ (221) आ.शा.

जैसे अत्यधिक दूध को विष का कण भी दूषित कर देता है, वैसे थोड़ा भी कपट महान गुणों को नष्ट कर देता है। देखो! रावण के मन्त्री मारीचि का यश कपट द्वारा स्वर्ग-मृग का रूप धरने से मलिन हुआ। राजा युधिष्ठिर का अति-निर्मल यश उनके मुख से निकले हुए 'अश्वत्थामा हतः नरो व कुंजरो वा न जानामि' (अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया, नर या पशु, नहीं मालूम)-इस मायाचाररूप वचन से मलिन हुआ, उन्हें अपने मित्रों में नीचा देखना पड़ा; इसलिए थोड़ा भी मायाचार बहुत गुणों का घात करता है।

प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि न वेत्ति धीमान्,
 ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मोति मंस्थाः।
 कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहं,
 गूढोऽप्यबोधि न विधुं स विधुन्तुदः कैः॥ (222)

हे जीव! तू ऐसा भ्रम मत कर, कि मेरा गुप्त पाप कोई नहीं जानेगा। बुद्धिमान् भी नहीं जान सकते, तो अन्य लोग कैसे जानेगे। यह पाप मेरे महान् गुणों को कैसे ढकेगा? तू ऐसा बिल्कुल मत मान। प्रत्यक्ष देख! अपनी उज्ज्वल किरणों से जगत् के आताप को दूर करनेवाले चन्द्रमा को भी गुप्तरूप से राहु ग्रस लेता है, लेकिन इस विषय को कौन नहीं जानता? अर्थात् सभी जानते हैं।

लोभ से होने वाली हानि

वनचरभयाद् धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः,
 किल जडतया लोला बालव्रजेऽविचलं स्थितः।
 वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,
 परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः॥ (223)

देखो! लोक में प्रसिद्ध है कि वन में घूमने वाले शिकारी भील अथवा व्याघ्र के भय से भागती हुई चमर या सुरई गाय की पूँछ झाड़ियों में उलझ जाने पर वह मूढ़ता से पूँछ के बालों के लोभ में खड़ी रहती है, और शिकारी के द्वारा मारी जाती है। इसलिए जानना चाहिए कि तृष्णा करनेवालों पर अधिकतया ऐसी अनेक विपत्तियाँ आती हैं।

निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः,
 शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
 नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
 भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटेनिकटे सति॥ (224)

विवेकी जीवों को संसार-समुद्र का किनारा निकट आने पर विषयों से विरक्तता, परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, शम (शान्ति अर्थात् रागादि का त्याग) दम (मन और इन्द्रियों का निरोध) और यम (जीवन पर्यन्त हिंसादि पापों का

त्याग)-इनका धारण, तत्त्व का अभ्यास, तपश्चरण का उद्यम, मन की वृत्तियों का निरोध, जिनेन्द्र भक्ति और जीवों की दया इत्यादि सामग्री प्राप्त होती है।

**यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥ (225)**

यम और नियम योग के मूल हैं, यम अर्थात् अयोग्य क्रियाओं का आजीवन त्याग और नियम अर्थात् घड़ी, पल, प्रहर, पक्ष, मास, चातुर्मास आदि की मर्यादा में संवर या त्याग। इनके पालन में साधु सदैव तत्पर रहते हैं। वे महा-शान्त चित्तवाले होते हैं। उनके भावों में देहादि बाह्य पदार्थों से निर्वृत्ति हो जाती है। समाधि अर्थात् निर्विकल्प दशा रूप परिणमित होते हैं। सभी जीवों के प्रति दया भाव रखते हैं। विहित अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से योग्य अल्प आहार लेते हैं। निद्राजयी होते हैं। आध्यात्म के सारभूत आत्म स्वभाव का निश्चय करनेवाले होते हैं। निरंतर आत्मानुभव में मग्न होते हैं।

**गुणों से मण्डित मुनिराज ही मुक्ति के पात्र
समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचिन्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः॥ (226)**

अर्थः-जो समस्त त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का स्वरूप भलीभाँति जानते हैं, हिंसादि सभी पापों से दूर हैं, जिनका चित्त आत्म-कल्याण के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य में स्थित है, सर्व इन्द्रियों के विषयों से निर्वृत्त हो गए हैं, जिनके वचन स्व और पर का कल्याण करनेवाले हैं और जो समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित हैं-वे महापुरुष सर्व प्रपञ्चों से रहित होते हुए मुक्ति के भाजन (पात्र) क्यों न होंगे? अर्थात् वे निःसंदेह शिव-सुख के पात्र होंगे।

अनन्तशक्ति प्राप्ति हेतु करूँ पुरुषार्थ

(शक्ति से दुरुपयोग से आत्म पतन न करूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1.अपनी आजादी को हम... 2.आत्मशक्ति...)

मेरी शक्तियों को मैं सतत बढ़ाता ही जाऊँ,
दुरुपयोग न करूँ कभी सदुपयोग ही करूँ।
अनादिकाल से न कर पाया...स्व शक्तियों की वृद्धि...
किन्तु दुरुपयोग प्रमाद से स्वशक्तियों की क्षति॥ (1)
इसलिए जो संसार में बना रहा मैं दीन-हीन,
चौरासीलक्षयोनियों में पाया हूँ दुःख व दैन्य।
राजा महाराजा व देव विद्याधर बनकर भी;
न कर पाया स्वशक्तियों की अनन्त वृद्धि॥ (2)
रागद्वेष काम क्रोध विषय...वासना में हो आसक्त...
प्राप्त शक्तियों का भी किया हूँ दुरुपयोग अनन्त।
जिससे मैं न बन पाया हूँ परमात्मा अभी तक,
धर्मसाधना भी किया था क्योंकि संसार हेतुक॥ (3)
धर्म करते भी न त्यागा था रागद्वेषमोहमद,
ख्यातिपूजालाभप्रसिद्धि वर्चस्व कामभोग।
जिससे प्राप्त शक्ति भी होती रही क्षीण से क्षीण,
अभी इस से विपरीत करूँ...जिससे बढ़े आत्मगुण॥ (4)
इस हेतु ही कर रहा हूँ, साधना मैं सतत,
समता शान्ति अप्रमाद से ज्ञान-ध्यान पुरुषार्थ।
पंचपरमेष्ठी आदर्श उनका करूँ गुणग्रहण,
अनादर्श का न करूँ अनुकरण, न करूँ उनसे विद्वेष॥ (5)
प्रमादी-आलसी-रूढ़िवादी-संकीर्ण स्वार्थी सम न बनूँ,
ढोंगी-पाखण्डी-आडम्बरी-क्रूर-कठोर सम न बनूँ।

निस्पृह निराडम्बर से करूँ शोध-बोध प्रयोग
 आत्मशक्ति को सतत बढ़ाऊँ आत्मशुद्धि के माध्यम॥ (6)
 भले मेरी कुछ शक्तियाँ अन्य से हो कुछ अधिक,
 तथापि उन शक्तियों को बढ़ाता जाऊँ अनन्त तक।
शक्तिः तप त्याग करूँ न करूँ शक्ति का दुरुपयोग,
 अनन्तशक्ति प्राप्त करने हेतु 'कनक' करो पुरुषार्थ॥ (7)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-29/1/2021, रात्रि-9.03 व प्रातः 7.04

संदर्भ-

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता

(आत्मा को ही अपना मानने वाला ही आत्मज्ञानी)

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।

पर अप्पा जइ मुणहि तुहुं तहु संसार भमेहि॥(12) यो.सा.

पद्य- आत्मा को ही जो आत्मा माने, वे ही निर्वाण को पाते।

पर को जो आत्मा माने है, तो तू संसार में भ्रमण करे॥

समीक्षा-स्व को ही स्व, पर को ही पर मानना होते सम्यक्त्व व सही ज्ञान।

यही भेद विज्ञान या वीतराग ज्ञान, अन्यथा मिथ्यात्व व कुज्ञान॥

इस हेतु ही देव शास्त्र गुरु श्रद्धान, ध्यान अध्ययन व तप त्याग।

इससे होता आत्मा का क्रम विकास, गुणस्थान आरोहण से मिले निर्वाण॥

अन्यथा होता मिथ्या श्रद्धान ज्ञान, जिससे श्रावक साधु धर्म होता कुधर्म।

तप त्याग संयमादि होते हैं मिथ्या, जिससे संसार में होता भ्रमण॥

सन्दर्भ- हे अन्तरात्मन्! तुमने अनन्त दुःख के कारण मूलभूत बहिरात्मपना को त्यागकर परमात्मपना के साधकस्वरूप परम पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, समतारूप, सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य-रत्नत्रय दश धर्म के जीवन्त/प्रायोगिक रूप जो साधु को प्राप्त किया है उसमें मनसा-वचसा-कर्मणा एकनिष्ठ होकर समस्त कल्याण के मूलभूत आत्मकल्याण में सतत, समग्रता से प्रयत्न करो क्योंकि ये ही एक कार्य है जो कि तुमने अनन्त काल से अनन्त जन्म में भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त

और समस्त कार्य यथा-जन्म, मरण, भोग-उपभोग, शत्रुता, मित्रता, युद्ध-कलह, मान-अपमान, मरना-मारना, सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि-बुद्धि, वैभव, राज-पाट, अमीरी-गरीबी, रोग-शोक, भय-उद्वेग, क्लेश-संक्लेश, तनाव-उदास, आदि समस्त कार्य अवस्थाओं को तुमने किया, करवाया, अनुभव किया है। इन सब कार्यों से तुमने अनन्तज दुःख भी भोगे हैं अतः एव हे सुखेच्छु, संवेग-वैराग्य युक्त आत्मन्! अभी तो कम से कम एक बार भी स्वयं के लिए मरकर भी देखो कि स्वयं के लिए मरण से तुम कैसे अमृत बन जाते हो, अजर-अमर, शाश्वतक, “सच्चिदानंद” “सत्यं शिवं सुदरम्” बन जाते हो। यथा:-अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वाकौतूहली सन् अनुभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्। पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥ (अमृत कलश)

हे शान्ति के इच्छुक आत्मन्! तत्त्व कौतूहल आदि किसी भी प्रकार से मरकर भी स्व-विज्ञानघनस्वरूप आत्म तत्त्व को मोह, माया, शोक-दुःख से मुहूर्तमात्र के लिए अलग अनुभव करो और जब ऐसा अनुभव करो तो तत्काल स्वशुद्धात्मा से भिन्न भौतिक/अनात्म/विकारभूत मोहादि को हठात् त्याग कर दो। इससे तुम निर्मल/पवित्र आनन्द घनस्वरूप हो जाओगे।

विरम किमपरेणकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्। हृदयसरसि पुंसः पुद्गलदिभन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भायाति किं चोपलब्धिः।

हे आत्मन्! संसार के अकार्य कोलाहल से विराम लो। स्वयं ही समस्त संकल्प-विकल्पों से अवकाश प्राप्त करके स्व-आत्मस्वरूप का अवलोकन/अनुभव करो। तब स्वयं को अनुभव हो जाएगा कि तुम्हारा चैतन्य शुद्ध-स्वरूप समस्त भौतिक स्वरूप से भिन्न है या नहीं? अर्थात् निश्चय से भिन्न है।

अतएव हे आत्मन्! आत्मविश्वास, आत्मज्ञान, आत्म अनुसंधान, आत्म परीक्षण-निरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्मानुचरण से ही स्वात्मोपलब्धि रूप सुख-शान्ति, संवर, निर्जरा, मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अन्य सब धार्मिक क्रिया-काण्ड, व्रत-नियम-उपनियम, तप-त्याग, परीषह-उपसर्ग सहन, पूजा-पाठ, जप-तप, मंत्र-ध्यान आदि इसके लिए साधन/निमित्त/कारण/उपाय हैं।

हे साधकात्मन्! तुम्हारा निज आत्मवैभव अक्षय अनन्त है। वर्तमान

पंचमकाल के समस्त देश-विदेश के सामान्य जन से लेकर उद्योगपति, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, वैज्ञानिक, साधु-संत के वैभव सीमित हैं, क्षायोपशमिक, कर्मसापेक्ष हैं। अतएव आत्मवैभव की अपेक्षा वर्तमान के स्व-पर के वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं/हेय हैं, इसलिए वर्तमान के स्व-पर वैभव से न राग करो, न ईर्ष्या करो, न अहंभाव करो, न दीनभाव करो। जो कुछ तुम्हारी वर्तमान की उपलब्धि है उसका सतत सदुपयोग निज आत्मवैभव की उपलब्धि के लिए ही करो। वर्तमान की उपलब्धि का उपयोग ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, संक्लेश-तनाव, ईर्ष्या-द्वेष, लन्द-फन्द में करके इह-परलोक में दुःखी मत हो। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि प्राचीनकाल के तीर्थकर, गणधर आदि चार ज्ञान एवं चौसठ ऋद्धियों के स्वामी होते हुए भी उन सब का उपयोग ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि या यहाँ तक कि उनके ऊपर उपसर्ग-परीषह करने वालों के निवारण के लिए नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से उपलब्धि का (1) सम्यक् सदुपयोग नहीं होता (2) प्राप्त उपलब्धि में मन्दता आती है (3) आत्मोत्थ अक्षय उपलब्धि में बाधा होती है। अतः हे आत्मन्! “वन्दे तद्गुण लब्धये” के अनुसार तुम्हारी पंचपरमेष्ठी में जो पूजा/भक्ति/प्रार्थना तब यथार्थ होगी जब तुम उनके गुणों को स्वीकार करोगे क्योंकि गुणानुस्मरण, गुणानुवादन तथा गुणानुकरण ही यथार्थ भक्ति है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य है। हे आत्मन् “आदहिदं कादव्वं यदि चेत् परहिदं कादव्वं, आदहिदं परहिदादं आदहिदं सुट्ठू कादव्वं। उत्तमा स्वात्मचिन्तास्यान्मोहाचिन्ता च मध्यमा, अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा।।” अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम स्वयं स्वउपकार करते हुए परोपकार करो। इसके बिना अन्य समस्त प्रपंच, ढोंग-पाखण्ड, संक्लेश त्याग करो।

सिद्धि एवं श्रेय मार्ग

कुबोध रागादि विचेष्टितैः फलं, त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम्।

प्रतीहि भव्य प्रतीलोम वर्तिभि, ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्।। (आत्मानुशासनम्)

हे भव्य! तूने बार-बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों सम्यग्ज्ञान एवं

वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।

नयत्यवश्यं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥(10)

हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रिय दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित हैं।

दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठम् नय प्रमाण प्रकृताङ् ज्ञसाऽर्थम्।

अधृत्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः, जिन! त्वदियं मतद्वितीयम्॥(6) युक्त्यानुशासनम्

हे वीर जिन! आपका यह अनेकान्त रूप शासन अद्वितीय है। इसमें दया, दम, त्याग और समाधि में तपाता है। नयों एवं प्रमाणों द्वारा इसमें द्रव्य पर्याय स्वरूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोध रूप से, सुनिश्चित असंभव बोधकरूप से निर्णय किया गया है एवं इसमें समस्त एकान्त प्रवादों दर्शनमोहनीय के उदय से सर्वथा एकान्तवादियों की कल्पित मान्यताओं द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।

हे आत्मन्! मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है। अनन्त अनंतदर्शियों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। वे अनंतज्ञान को प्राप्त करके पूर्णरूप प्रत्यक्ष से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे अतिरिक्त कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्यप्रवर समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है:-

सदृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

यदिय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति॥(3)

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है, ऐसा धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताया है। आचार्य उमास्वामी भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताते हैं कि :-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः॥ “तत्त्वार्थ सूत्र”

Right belief, Right knowledge, Right conduct, these
(Together contribute) the path to liberation

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र्य इन तीनों का सम्यक्, संयोग रूप
त्रयात्मक मोक्ष का मार्ग है।

"Self reverence, self knowledge and self control, these
three alone lead life to sovereign power".

‘खुद की कद्र करना सीखिए, अपनी खुशी के लिए लड़ लीजिए’

—आयन रैंड

रशियन-अमेरिकन, नॉवलिस्ट, फिलॉसफर, स्क्रीन राइटर थीं। ‘एटलस
श्रग्ड’ और ‘द फाउंटैनहेड’ उनके बेस्ट-सेलिंग नॉवल हैं।

1. जो भविष्य के लिए लड़ई कर रहा है, जो आज भी भविष्य में जी रहा है।
2. बुराई और भलाई में यदि कोई समझौता होता है तो फायदा बुराई का होगा।
3. आदमी की सोचने की क्षमता का परिणाम है उसका धन।
4. महान लोगों पर कभी शासन नहीं किया जा सकता।
5. भ्रष्ट लोगों के जीने का कोई निर्धारित लक्ष्य नहीं होता।
6. अन्य किसी बात की कोई अहमियत नहीं सिवाए इसके कि आप अपना काम कितने अच्छे से करते हैं।

7. तर्कसंगत व्यक्ति अपनी सोच और समझ से आगे बढ़ता है न कि
भावनाओं और अरमानों की वजह से।

8. समाज के गुण नापने का यंत्र है पैसा।

खुद की आलोचना करने से बचें अपने विचारों को नियंत्रित करने के लिए पॉजिटिव होकर रणनीति बनाएं

अतीत में लिए गए अपने किसी कमजोर निर्णय की वजह से बेचैन
होकर खुद को बुरा-भला बोलने की बजाय स्वयं के प्रति दया भाव बनाए

रखें और सकारात्मक सोच के साथ, बिल्कुल नए अंदाज में खुद से बातचीत शुरू करें।

स्वयं के प्रति संवेदनशील बने रहने के चार असरदार तरीके

1. खुद के प्रति भी करुणा भाव होना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि आपको यह पता हो कि आप कब और कैसे खुद को बड़ा नुकसान पहुंचा सकते हैं। जब कभी आप बेचैन होते हैं, परेशान होते हैं या तनाव में होते हैं, जो ज्यादा काम करने लगते हैं। साथ ही आप यह भी उम्मीद करते हैं कि आपके सहयोगी भी आप ही की तरह देर तक काम करते रहें, जो कि सही नहीं है। इस तरह आप सहयोगियों के साथ अपने संबंध ही खराब करते हैं।

2. जब आप तनाव में होते हैं, परेशान होते हैं और अचानक ही किसी साथी की कही हुई कोई बात आपको बेहतर महसूस करवाती है तो उस बात को नजरअंदाज ना करें, अपने दिमाग में बैठा लें। वो आपके काम की तारीफ भी हो सकती है या किसी महापुरुष का लिखा कोई दोहा हो सकता है। इस अच्छी बात को तब जरूर याद करें जब आप खुद से बातचीत करते हैं। ऐसा करने से आप शांत महसूस करेंगे और बेहतर निर्णय ले सकेंगे।

3. चिंता और तनाव से बचने के लिए आमतौर पर जो आधा-दर्जन नुस्खे अपनाए जाते हैं उनके साथ भी प्रयोग करके देख लें। इससे आप यह जान पाएंगे कि कैसे मन में दया भाव रखते हुए स्वयं से बातचीत करने से आप बेहतर निर्णय से पाते हैं। अलग-अलग समस्याओं पर तनाव से बचने के लिए आप खुद से क्या बातचीत करेंगे वह एक नोटबुक में लिख लें। इस तरह आपके पास हमेशा से लिए सेल्फ-टॉक फ्लेबुक हो जाएगी।

4. वैसे तो आपकी समस्याएं केवल आप तक ही सीमित होनी चाहिए, लेकिन यदि आप कहीं अटक जाएं तो जरूर किसी थैरेपिस्ट, मेंटर या दोस्त की मदद से सकते हैं। जिन बातों से आपका तनाव शुरू होता है उनकी एक लिस्ट बनाकर किसी थैरेपी या कोचिंग सेशन में साथ लेकर जा सकते हैं। इस तरह लोगों के साथ काम करके भी अपनी समस्याओं का हल निकाल सकते हैं और खुद के प्रति प्रभावशाली और संवेदनशील रह सकते हैं।

सेल्फ-हेल्थ। आत्मसम्मान और जिम्मेदारी के महत्व को समझिए सुखी और सेहतमंद जीवन चाहते हैं तो वही करिए जो आपके मन को पसंद हो

लंबी उम्र और मनपसंद कार्य में सीधा संबंध होता है

हर साल हम नए रिकॉर्ड बनाते हैं कि हमने विशेष आहार, दवाइयाँ, जॉगिंग, हेल्थ क्लब की फीस पर इतना रुपया खर्च किया। छुट्टियों पर, सुंदर दिखने पर, हेल्थ पर इतना खर्च किया। दरअसल सेहतमंद जीवन की खोज में हमने अनजाने ही सेहतमंद तथा सुखी जीवन के लिए आवश्यक सबसे महत्वपूर्ण तथ्या को खो दिया है। ये तथ्य है वह काम जिसको करके खुशी मिलती है। शोध बताते हैं कि लंबी उम्र और मनपसंद काम में सीधा संबंध है। आपको जिस काम में मज़ा आ रहा है, उसे करते रहिए।

लोगों को बताएं हर बात के लिए वे खुद जिम्मेदार हैं

जब आप जिम्मेदारियां लेना शुरू करते हैं तो अपने मित्रों और सहयोगियों को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जब लोग आपको अपनी समस्याएं और परेशानियां बताएं तो उनके साथ सहानुभूति रखें और उन्हें याद दिलाएं कि हर बात के लिए वे स्वयं ही जिम्मेदार हैं। अपने मित्र के लिए आप सबसे अच्छा काम यही कर सकते हैं कि उन्हें बताएं कि अपने जीवन की हर परिस्थिति के लिए वो खुद जिम्मेदार हैं। सलाह देने की कोशिश ना करें। सलाह कोई नहीं चाहता। केवल सुनें और सहानुभूति रखें।

दूसरों को प्रेरित करके बेहतर काम करवा सकते हैं

लोगों को जितना प्रोत्साहित करेंगे, आपको उतना ही प्रोत्साहन मिलेगा। आपको जितना ज्यादा प्रोत्साहन मिलेगा आप उतना बेहतर काम करेंगे। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण है कि आप में दूसरों को प्रेरित करने की योग्यता हो। जब आप लोगों का उत्साह बढ़ाकर उन्हें प्रेरित करते हैं तो लोग बेहतर काम करते हैं। आपका मूल्यांकन भी इस बात से नहीं होता कि आप क्या करते हैं बल्कि इस बात से ज्यादा होता है कि आप अपने सहयोगियों से कम समय में कितना अच्छा काम करवा पाते हैं।

आत्मविश्वास कम है तो आत्मसम्मान भी कम होगा

आप खुद को फर्स्ट क्लास मानते हैं तो दूसरे भी आपको फर्स्ट क्लास ही मानेंगे। लेकिन आपकी खुद के बारे में राय कमजोर है तो लोग भी आपको कमजोर ही मानेंगे। समाज में आत्मसम्मान की कमी बड़े पैमाने पर फैली रही सार्वजनिक मंच पर बोलते हैं उनमें खूब आत्मसम्मान होता है। भले आप उनकी बात से सहमत ना हों, लेकिन आप उनका सम्मान जरूर करेंगे कि उनमें सबके सामने बोलने की हिम्मत है।

लौकिक जन सम स्व उपकार करूँ

(लौकिक मोही संकीर्ण स्वार्थ युक्त स्व उपकार के कार्य करते हैं वैसा ही मैं निर्माही होकर आध्यात्मिक परमार्थ युक्त स्व उपकार के कार्य करूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1.मन रे... 2.सायोनारा...)

परोपकृति मुत्सृज्य स्वोपकारो भव।

उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्॥ (इष्टो. 32)

आत्मन्! (कनक) तू स्व उपकार करो SSS

देहादि पर उपकार छोड़कर, आत्म उपकार करो॥ (लौकिक जनसम)

लौकिक जन यथा स्वार्थ के वशवर्ती, स्व उपकार करते पर उपकार त्यजकर तथाहि स्वउपकार करो मोह त्यजकर, लौकिक जन करते मोह के बल पर

दोनों में यह महान् अन्तर SSS (1)

यदि मोही रागी द्वेषी कामी व क्रोधी, करते स्वउपकार त्यजकर परोपकार

तू मोह रागद्वेष काम क्रोध रहित, क्यों न करो स्व उपकार त्यजकर परोपकार

पर हेतु न करो स्व आत्म उपकार (2)

लौकिक जन न करते आत्महित, शरीर सत्ता सम्पत्ति में हो आसक्त SSS

उन्हें तो चाहिए काम भोग वर्चस्व, पर निन्दा अपमान लन्द फन्द द्वन्द्व

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि प्रमाद SSS (3)

इनसे ले शिक्षा आत्माहित हेतु, मोही यदि करते मोह से स्वार्थसिद्ध SS

तू तो निर्मोही ज्ञानी वीतरागी सन्त, क्यों न करोगे स्वहित हेतु पुरुषार्थ ॥५॥

करना निश्चय से आत्महित अनिवार्य (4)

लौकिक जनों से होकर अप्रभावित, करो तू आत्महित सदा अविरल
त्याग के पर अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा, संकल्प विकल्प संक्लेश आशा ॥५॥

स्वानुशासित स्वावलम्बी निर्विकल्प (5)

तेरा उपकार तेरे द्वारा ही संभव, अतः त्यागो हे ! धन जन संग ॥५॥
पर हेतु न करो स्वात्मा का अपकार, आत्महित सह करो परोपकार

किन्तु प्राथमिक है स्व उपकार ॥५॥ (6)

आत्म प्रभावना करो रत्नत्रय तेज से, स्व पर प्रकाशी ज्ञान दीपक द्वारा
लौकिक जन हेतु न करो ज्योति मलीन, ज्योति से ज्योति जलाते चलो।

कनक शुद्ध बुद्ध आनन्द बनो ॥५॥ (7)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा 3/02/2021 रात्रि-8.46

(यह कविता ब्र. संध्या के कारण बनी)

संदर्भ-

आदा कम्म मिलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं।

तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।। (121) प्रवचन सार

“संसार” नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का परिणाम है)
वही द्रव्यकर्म के चिपकने का बंध हेतु है, अब इस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन
है? इसके उत्तर में कहते हैं कि द्रव्यकर्म उसका हेतु है क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्तता
से ही वह भाव कर्म है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आणा क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ
संबद्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका
कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से वह उपचार से द्रव्य कर्म ही
है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता भी उपचार से है।

जीव परिणाम हेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमत्ति।

पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदिं।।

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।

अण्णोण्णं णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि।।

यद्यपि जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता किंतु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।

पुग्गल कम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावगं।। (82) समयसार

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है। व्यवहार नय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष का निमित्त पाकर कर्मपरमाणु, द्रव्यकर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं परंतु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं होने से जीव के परिणाम का हेतु पुद्गल नहीं है एवं पुद्गल के परिणाम का हेतु जीव नहीं है। पंचास्तिकाय में कहा है-

“निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वाकर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूप कर्तृत्वमुक्तम्।।”

निश्चय से अभिन्नकारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के अपने-अपने रूप के कर्ता हैं। निश्चय से जीव, पुद्गल का कर्ता नहीं होने पर भी व्यवहार नय से कर्ता है।

स्व-हित करणीय

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।

अपकुर्वन्परस्याज्ञोदृश्यमानस्य लोकवत्।। (32)

O Witless one! thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce dowing good to others and take to dowing good to thine own self!

हे भव्य! अविद्या अर्थात् मोह के कारण जो तुमने देहादि पर द्रव्यों का उपकार किया है, अभी विद्या के बल पर उस परोपकार को त्याग करके आत्मानुग्रह प्रधान बनो। शरीर आदि परद्रव्य हैं, क्योंकि शरीर पुद्गल से निर्मित हैं। जिस प्रकार कि

लोक में अज्ञान अवस्था में लोग दूसरों के उपकार करते हैं, परन्तु ज्ञान होने के बाद दूसरों का उपकार त्याग करके स्व का उपकार करते हैं।

समीक्षा—इस श्लोक में आचार्यश्री ने लौकिक उदाहरण देकर यह समझाया कि जिस प्रकार लोक में बिना जाने शत्रु का भी उपकार कर लेते हैं परन्तु जब पता चल जाता है कि ये मेरा शत्रु है तब उसका उपकार छोड़कर आत्म-उपकार करते हैं, उसी प्रकार शरीर, धन-सम्पत्ति आदि जो परद्रव्य है, उसको मोही जीव अपना मानकर उसका संरक्षण संवर्द्धन करता है, परन्तु स्व-आत्म-द्रव्य को न जानता है, न मानता है, न उसका उपकार करता है। इसलिये दयालु परोपकारी आचार्य गुरुदेव भव्य को संबोधित करते हुये कहते हैं कि हे भव्य! तुम अनादिकाल से मोह से मोहित होकर स्व-उपकार को भूलकर दूसरों के उपकार में ही लगे हुये हो। तुम अभी तक धोबी का काम, गधे का काम, गुलामी का काम करते आ रहे हो। जिस प्रकार धोबी दूसरों के गदे कपड़े धोता रहता है उसी प्रकार तुम भी दूसरों की गलती को देखकर उसको दूर करने में लगे हुये हो परन्तु स्वयं की गलती का भान तक तुम्हें नहीं है जिस प्रकार गधा दूसरों का बोझ ढोता है उसी प्रकार तुम भी शरीर का, कुटुम्ब का, धन का, अभिमान ढो रहे हो, गधा अपने पीठ पर चन्दन की लकड़ी का भार केवल ढोता रहता है परन्तु चन्दन की सुगंधी तथा शीतलता का अनुभव नहीं करता है। इसी प्रकार जीव, शरीर, सम्पत्ति कुटुम्ब का भार ढोता रहता है। परन्तु आत्मा का आनन्द अनुभव नहीं करता है। वह उस भार को ही अपना सर्वस्व, गौरव, बड़प्पन मान लेता है। जो अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि से धन कमाता है। उस धन के कारण वह स्वयं को बड़ा मान लेता है और दूसरे लोग भी उसको बड़ा मान लेते हैं। गुलाम जिस प्रकार मालिक के आधीन होकर उसके निर्देश के अनुसार दीन-हीन होकर मालिक की सेवा करता है उसी प्रकार मोहीजीव शरीर, कुटुम्ब धन, संपत्ति तथा राग द्वेष के गुलाम बनकर उसकी नौकरी करता है और यह सब करता हुआ भी स्वयं को श्रेष्ठ मान लेता है। जो ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न होकर परिवार तथा वैभवादि त्यागकर स्व-आत्म-कल्याण करना चाहता है, उसे भी ऐसे मोही जीव दीन-हीन असहाय गरीब मान लेते हैं।

इसलिए आचार्यश्री ने यहाँ कहा कि हे मोही! तुमने अनंत संसार में दूसरों के

लिए इतना रोया इतना आँसु बहाया कि यदि उस आँसु को इकट्ठा किया जाये तो अनेक समुद्र की जल-राशि से अधिक हो जायेगा अनंत बार तुम दूसरों के गुलाम, भाई, पिता, पुत्र, स्त्री आदि बने और दूसरे भी तुम्हारे अनंत बार बने। इन सबके उपकार के लिए तुमने जितना परिश्रम किया उसका अनंतवाँ भाग भी स्वोपकार में लगाओगे तो तुम तीन लोक के स्वामी अर्थात् सिद्ध भगवान् बन जाओगे। इसलिए कुंदकुंदचार्य देव ने कहा है-“आदहिदं कादव्वं” अर्थात् आत्महित अच्छी तरह से समग्रता से करना चाहिए। कहा भी है-

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराडं जणणीणं।

अण्णण्णण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं।। (18)

हे महाशय के धारक मुनि! तुने अनंत जन्मों में अन्य-अन्य माताओं के स्तन का इतना दूध पिया है जो समुद्र के जल से भी अत्यंत अधिक है-अनंतगुणित है।

तुह मरणे दुवरेणं अण्णणं अणेय जणणीणं।

रूण्णणण णयणीरं सायरसलिलादु अहिययरं।। (19)

हे जीव! तेरा मरण होने पर दुःख से रोती हुई अन्य-अन्य अनेक माताओं का अश्रुजल समुद्र के जल से अत्यन्त अधिक है।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।

पुंजेइ जइ को वि जार हवदि य गिरिसमधिया रासी।। (20)

हे जीव! तुने अनंत संसार सागर में जिन केश, नख, नाभिनाल और हड्डियों को काटने के पश्चात् छोड़ा है यदि कोई यक्ष उन्हें इकट्ठा कर तो उनकी राशि पर्वत से भी अधिक हो जाये।

मादुपिदुसजणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णो।

इह तोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेक्षि।। (720) (मू.चा.)

माता-पिता और स्वजन संबंधी लोग ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। वे इस लोक में तो बांधव है किन्तु परलोक में तेरे साथ नहीं जाते हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो।

अत्ताणं ण दु सोवदि संसारमहण्णवे बुड्ढं।। (703)

यह जो मर गया, मेरा स्वामी है वैसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य का शोक करता है किन्तु संसार-रूपी महासमुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का शोक नहीं करता है।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।

पाणं दंसणमादात्ति एवं चिंतेह अण्णतं॥ (704)

यह शरीर आदि भी अन्य है पुनः जो बाह्य द्रव्य हैं वे तो अन्य हैं ही। आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप है इस तरह अन्यत्व का चिंतन करो।

अप्पा नई वेरयणी, अप्पा मे कूडसामली।

अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥ (36)

“मेरा अपना आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शालमलि वृक्ष है, काम-दुधा-धेनु है और नंदनवन है।”

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्टिय-सुपट्टिओ॥ (37)

“आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता-भोक्ता है। सत् प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही शत्रु है।”

मोक्ष के ज्ञाता गुरु

गुरुपदेशाभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।

जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्॥

He who has acquired the discrimination between the self and the not-self, through the teaching of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner self perception, that great soulenjoyous the happiness appearing to salvation constantly!

“त्वमेवानुभवश्चामेकाग्रं परमृच्छति।

तथात्मधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्”॥

जो स्वयं को पर से भिन्न देखता और वह संवित्ति लक्षण स्वरूप स्वलक्षण अनुभव से जानता है, यह इसका तात्पर्य है। यह अभ्यास से भावना के बल पर संभव होता है और यह सुदृढ़ स्वपर विवेक ज्ञान उत्पादक आध्यात्मिक गुरु के

उपदेश के माध्यम से संभव होता है। इन प्रक्रियाओं से युक्त वह साधक दूसरों के अनुभव से रहित स्व-अनुभव से भावित निरंतर अर्थात् अकिंचन्य रूप से अपनी आत्मा की भावना से जायमान होती है और कर्म से मुक्त वह अवस्था रहती है। तत्त्वानुशासन में कहा भी है-

उस कर्म से भिन्न निर्मल आत्मा के ध्यान से परम एकाग्रता की प्राप्ति होती है और वचन से परे आत्मा अधिक आनंद का भी अनुभव करता है।

समीक्षा-इस श्लोक में आचार्यश्री ने मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत सदगुरु का उपदेश सुनकर उस उपदेश से शिष्य में उत्पन्न हुआ भेद विज्ञान और भेद विज्ञान से प्राप्त हुआ मोक्षसुख का व्यवस्थित क्रमबद्ध वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए अनेक बहिरंग कारण में गुरु-उपदेश भी एक कारण है और अंतरंग कारण भी एक भाव की निर्मलता है। सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तथापि आध्यात्मिक अनुभावात्मक सूक्ष्म रहस्य का परिज्ञान भी गुरु से प्राप्त।

आत्मस्थिरता की आवश्यकता

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।

अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥ (45) इष्टो.

The not-self are suely never the self, only sorrow accures to the soul from them; the self ever remains the self; it is therefore the cause of happiness; because of this, great persanages exerted themselved for the realiation of the self!

पर देह धनादि पर ही है। उसे कभी भी आत्मा का, स्वयं का नहीं कर सकते हैं। इसलिए उसमें आत्मा का आरोपण करना दुखों को निमंत्रण देना है। क्योंकि वे पर द्रव्य दुःखों के द्वार है, दुःखों के निमित्त है। उसी प्रकार आत्मा आत्मा का ही है। उसे कभी भी देहादि रूप में परिणमन नहीं कर सकते हैं अथवा आत्मा देहादि का उपादान नहीं है। इसलिए आत्मा से सुख है, दुःख के निमित्त उसके अविषय है। इसके लिए ही तीर्थकरादि महात्मा आत्मा के निमित्त तपानुष्ठान रूपी उद्योग किया है।

समीक्षा-आचार्य श्री ने इस श्लोक में सुख का आधार तथा उसे प्राप्त करने

का संक्षिप्त किन्तु सार गर्भित उपाय बताया है। उन्होंने यह बताया कि दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है तथा सुख दुसरो से प्राप्त नहीं होता है वरन् दुःख पर का स्वभाव है तथा सुख स्व-स्वभाव है। जो सुख के लिए दूसरो को अनात्म स्वरूप को अपनाता है वह सुख के परिवर्तन में दुःखों को गले लगाता है। इसके विपरीत जो पर संयोग को त्याग करके आत्मा का ही आश्रय लेता है आलम्बन लेता है वह सुख को प्राप्त करता है। इसका रहस्य यह है कि शुद्ध, स्वतंत्र आत्मा का स्वरूप ही अक्षय अनन्त सुख स्वरूप है तथा शरीरादि पौद्गलिक द्रव्य है, जिसमें सुख का सर्वथा अभाव है। उसको स्वीकार रूप में जो मोह, राग है वह दुःख के निमित्त है। क्योंकि उसके कारण जो कर्म बन्ध होता है, उससे आत्मा परतंत्र हो जाता है और सुखादि गुण भी दुःख रूप में परिणमन कर लेते हैं परन्तु भेद विज्ञान तथा भेद क्रिया रूप वीतराग चारित्र से पर सम्बन्ध रूप बन्धन कट जाता है। तब आत्मा के सुखादि गुण प्रगट हो जाते हैं। इसे ही स्वतंत्रता/निःसंगत्व/स्वाधीन मोक्ष कहते हैं। कहा भी है-

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।

जादो अणिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिमणदि।। (19)।।

He develops knowledge and happiness after heving exhausted the destructive karmas.being endowed with excelent infinite strength and excessive lustre and after becoming supersensuous.

इस व्याख्यान में यह कहा है कि आत्मा यद्यपि निश्चय से अनंतज्ञान और अनंतसुख के स्वभाव को रखने वाला है तो भी व्यवहार से संसार की अवस्थान में पड़ा हुआ है, जब इसका केवलज्ञान और अनंतसुख स्वभाव कर्मों से ढका हुआ है, तब तक पांच इन्द्रियों के आधार से कुछ अल्पज्ञान व कुछ अल्पसुख में परिणमन करता है। फिर जब कभी विकल्प रहित स्वसंवेदन या निश्चल आत्मानुभव के बल से कर्मों का अभाव होता है, तब क्षयोपशम ज्ञान के अभाव होने पर इन्द्रियों के व्यापार नहीं होते हैं, उस समय अपने ही अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख को अनुभव करता है, क्योंकि स्वभाव के प्रगट होने में पर की अपेक्षा नहीं है, ऐसा अभिप्राय है।

स्वभावतः प्रत्येक जीव अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्यादि अनंत गुणों का

अखण्ड पिण्ड है तथापि कर्मों के आवरण के कारण वे गुण आत्मा में ही सुप्तरूप में छिपे हुए हैं। कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा भी है-

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छणो।

संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं॥ (67)

वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जीव कर्मरज से आवृत होकर संसार में पतित हुआ है और सर्वदा सबको नहीं जानता है परन्तु जब वही कर्मरज रूपी आवरण हट जाता है तब वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतसुख एवं अनंतवीर्य सम्पन्न बन जाता है। इसलिए वस्तुतः ज्ञान या सुख पर से प्राप्त नहीं होता है परन्तु सहज आत्मोत्थ है।

प्रशान्तमसं हयेनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकलमषम्॥ (27 गीता)

जिसका मन भलीभांति शांत हुआ है, जिसके विकार शांत हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

युञ्जत्रेवं सदात्मानं योगी विगतकलमषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (28)

आत्मा के साथ निरन्तर अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्मप्राप्ति-रूप अनंत सुख का अनुभव करता है।

सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्॥ (11)

(प्रमेयरत्नमाला)

सामग्री की विशेषता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु।

आत्यान्तिकं सुखमनावरणा च शक्ति ज्ञानं च सर्वविषयं भगवस्तथैवा॥

तथा सन्यासियों के गुरु अवधूत के भी वचन उसके विषय में इस प्रकार है- “हे भगवान्! आपका ऐश्वर्य अप्रतिहत (अखण्ड) है, वैराग्य स्वाभाविक है, तृप्ति नैसर्गिक है, इन्द्रियों में वशिता है अर्थात् आप जितेन्द्रिय हैं, आपका सुख आत्यान्तिक अर्थात् चरम सीमा को प्राप्त है, शक्ति आवरण रहित है और सर्व विषयों को साक्षात् करने वाला ज्ञान भी आपका ही है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरमृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (पातञ्जली योगदर्शन)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेशरूप क्लेशों से, शुभाशुभ कृतियों से जन्य पुण्य पाप रूप कर्मों से, पुण्य-पाप के फल-जाति, आयु तथा भोग प्रतिनिधि सुख-दुख रूप विपाक से और सुख-दुखात्मक भोग से जन्य विविध वासनाओं से अस्पृष्टः जीवरूप अन्य पुरुषों से विशिष्ट चेतन ईश्वर है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। (49)

पुरुष (आत्मा) एवं प्रकृति (कर्म) के भेदज्ञान से सम्पन्न योगी को सम्पूर्ण पदार्थों के अधिष्ठातृत्व का (अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को नियन्त्रित करने के सामर्थ्य का) और समस्त पदार्थों के ज्ञातृत्व का (अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को ठीक-ठीक जान लेने की शक्ति का) लाभ होता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (50)

विवेक ख्याति की निष्ठा द्वारा, विवेकख्यातिजन्य सिद्धिविषयक परम वैराग्य की प्राप्ति हो जाने से, पर-वैराग्य जन्य असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा, रागादि दोषों के मूल कारण अविद्या के समाप्त हो जाने पर योगी पुरुष को कैवल्य भी प्राप्त हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (55)

बुद्धि एवं पुरुष की शुद्धि के समान रूप से हो जाने पर मोक्ष हो जाता है।

जिघ्रच्छापरमारोगा, संखारा परमा दुखा।

एवं जत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं।। (धम्मप)

भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़े दुःख है, इसे यथार्थ (रूप से) जानकर निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।

राग का फल

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।

न जातु जंतोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुञ्चति।। (46)

Matter which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four gatis.

वर्तमान में पर द्रव्य में अनुराग रखना दोषकारक है इसे प्रदर्शित करते हैं। जो हेय उपादेय तत्व में अनभिज्ञ है ऐसे अविद्वान देहादिक पुद्गल द्रव्य को स्व आत्मा स्वरूप से श्रद्धान करता है, अभिनन्दन करता है तब उस जीव को नरकादि गति को प्राप्त कराने योग्य पुद्गल द्रव्य उसका सामीप्य नहीं छोड़ता है।

समीक्षा:- यहाँ पर आचार्य श्री ने नाटकीय एवम् साहित्यिक पद्धति से कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार जीव मोही होकर अज्ञान भाव से राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्म का आस्रव करता है और बन्ध करता है और वह कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश रूप में बंधकर जीव के साथ रहता है और विभिन्न प्रकार के सुख-दुख को देता रहता है। जब तक जीव को वह फल नहीं देता है तब तक वह जीव से पृथक नहीं होता है। इस अवस्था को स्थिति बन्ध कहते हैं। स्थिति बंध पूर्ण होने के बाद जब कर्म फल देता है उसे उदय कहते हैं।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं।

मं सवसारूहिरादिभावे उदयरग्गि संजुत्तो।।

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ, अनेक प्रकार मांस, रूधिर आदि भावों के रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

भोजन से पहले खाद्य सामग्री, रोटी, भात, दाल आदि रूप में रहती है। भोजन करने से वही खाद्य सामग्री खाने वाले के चर्वण, लार पाचन शक्ति आदि के निमित्त से रस, रूधिर, मांस, मेद (चर्बी), अस्थि मज्जा, वीर्य, ओज आदि रूप परिणमन हो जाती है। इसी प्रकार कर्मवर्गणा जब तक जीव के योग और उपयोग का निमित्त प्राप्त करके आस्रव एवं बन्धरूप परिणमन नहीं करता है तब तक वह वर्गणा केवल भौतिक पुद्गल स्वरूप ही रहती है। जीव के योग्य एवं उपयोग को प्राप्त करके वही कर्मवर्गणा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्मरूप से परिणमन कर लेती है। जीव के योग एव उपयोग को प्राप्त करने से पहले कर्मवर्गणा जड़ रूप में रहती है एवं योग उपयोग रूपी जीव के शुभाशुभ निमित्त

को प्राप्त करके दैव रूप में परिणमन कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दैव भी पुरुषार्थ से जयमान उत्पन्न है। जैसे अण्डा से पक्षी। उसी प्रकार शुभाशुभ पुरुषार्थ भी पूर्वर्जित दैव के कारण होता है। इसलिये कर्थाञ्चित पुरुषार्थ भी देव से जायमान है। जैसे अण्डा से पक्षी जायमान है और पक्षी से अण्डा जायमान है। जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कर्थाञ्चित कर्म (दैव) से पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीव के दैव एवं पुरुषार्थ की परम्परा अनादि अनन्त होते हुये भी मोक्ष जाने वाले भव्यों की यह परम्परा अनादि शान्त है।

आत्मध्यान का फल-स्वरूप

आत्मानुष्ठानतिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थितेः।

जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः॥(47)

He who is firmly established in his own self and keeps away from the wordly intercourse supreme kind of happiness is produced in the being of such a yogi !

देहादि से निवृत्त होकर जो स्व आत्मा में ही लीन होकर प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार से दूर होकर ध्यान करता है ऐसे योगी को स्व आत्मा ध्यान से एक अनिर्वचनीय परम आनन्द उत्पन्न होता है जो आनन्द अन्य में असंभव है।

समीक्षा-प्रत्येक आत्मा अनन्त अक्षय-ज्ञान-घन या परमानन्द स्वरूप है परंतु जिस प्रकार घने बादल के कारण सूर्य रश्मि प्रकट नहीं होती है उसी प्रकार घने कर्म के कारण राग द्वेष-संकल्प विकल्प के कारण वह स्वभाव लुप्त प्रायः है। तथापि जिस प्रकार बादल हटने पर, घटने पर सूर्य रश्मि प्रगट हो जाती है उसी प्रकार साधना के बल पर कर्मादि क्षीण होने पर, विलीन होने पर स्व में निहित आनन्द प्रकट हो जाता है। यह आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण या आनन्द है। इस आनन्द को प्राप्त योगी के लिये संसार के समस्त सुख, वैभव तुच्छ प्रायः प्रतिभासित होता है, दुःख रूप में दिखाई देता है। इसे ही सच्चिदानन्द, आत्मनन्द, परमानन्द, अनंत सुख, अलौकिक आनन्द, इन्द्रियातित आनन्द, ब्रह्मानन्द आदि नाम से अभिहित किया जाता है। इस आनन्द को ही प्राप्त करने के लिये समस्त

धार्मिक विधियाँ की जाती है। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि भी इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए समस्त वैभव त्याग कर सर्व सन्यास लेकर ध्यान करते हैं। हर सम्प्रदाय के महापुरुष साधु संत इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये साधना तथा ध्यानरत रहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार महर्षि कपिल, पताञ्जली यहाँ तक कि हिंदू धर्म के सर्वश्रेष्ठ देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये समस्त, कार्यकलाप गतिविधियों को छोड़कर ध्यान लीन रहते हैं। जैन धर्म के अनुसार शांतिनाथ, कुन्धुनाथ, अरहनाथ जो स्वयं गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती, कामदेव थे तथा जिनके दो कल्याणक हो गए थे, और तीन ज्ञान के भी धारी थे वे भी इस परम् आनन्द को प्राप्त करने के लिये समस्त वैभव त्यागकर, साधु बनकर आत्म ध्यान में लीन हो गए।

गीता में महामानव नारायण श्री कृष्ण ने अर्जुन के लिए ध्यान का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार विवेचन किया है-

यत्रो परमते चित्तं निरूद्धं योग सेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्चन्मात्मानि तुष्यति॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राहयामतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चेवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचारल्यते।।

तं विद्याददुःखसंयोग वियोगं योग संज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।

योग के सेवन से अंकुश में आया हुआ मन जहाँ शांति पाता है, आत्मा से ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में जहाँ मन संतोष पाता है और इन्द्रियों से परे और बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख का जहाँ अनुभव होता है, जहाँ रहकर मनुष्य मूल वस्तु से चलायमान नहीं होता और जिसे पाने पर दूसरे किसी लाभ को वह उससे अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःख से भी डगमगाता नहीं, उस दुःख के प्रसंग से रहित स्थिति का नाम योग की स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़ता पूर्वक साधने योग्य है।

प्रशान्तमनस हयेनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शांत रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।

जिसका मन भली-भाँति शांत हुआ है जिसके विकार शांत हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी विगत कल्मषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमनन्तं सुखमश्नुते॥

आत्मा के साथ निरन्तर अनुसंधान करते हुए पापरहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्म प्राप्तिरूप अनन्त सुख का अनुभव करता है।

आत्मानन्द से कर्म-नष्ट

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मन्धनमनारतम्।

न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्यचेतनः॥ (48)

कृतकृत्य प्रभु बनने हेतु-आत्मशुद्धि-शान्ति-शक्ति
की पूर्णता करूँ

-आचार्य कनकनन्दीजी

(चाल: छोटी-छोटी गैया...)

आत्मिक शुद्धि से आत्म शान्ति बढ़ाऊँ, जिससे आत्मशक्ति बढ़ाता जाऊँ।

जिससे आत्मकार्य बढ़ाता जाऊँ, जिससे श्रेणी आरोहण से सिद्ध हो जाऊँ॥ (1)

इस हेतु ही ध्यान-अध्ययन भी करूँ, तप त्याग भी इस हेतु ही करूँ।

मनन-चिन्तन-अनुप्रेक्षा करूँ समता-निस्पृहता-वीतरागता पाऊँ॥ (2)

इस हेतु दशधा धर्म बढ़ाऊँ, मैत्री प्रमोद करुणा साम्य बढ़ाऊँ॥

पंच महाव्रत पंच समिति बढ़ाऊँ, इस हेतु रागद्वेष मोह को नाशूँ॥ (3)

इस हेतु ईर्ष्या तृष्णा घृणा नाशूँ, पर निन्दा अपमान वैरत्व नाशूँ।

इस हेतु ख्याति पूजा लाभ छोड़ूँ, धनजन मान सम्मान छोड़ूँ॥ (4)

संकीर्ण पंथमत दुराग्रह त्यजूँ, सनम्र सत्यग्राही उदार बनूँ।

स्व पर विश्व कल्याण ही चाहूँ, अपना-पराया भेदभाव मिटाऊँ॥ (5)

स्वावलम्बी स्वतन्त्र निर्द्वन्द्व बन्नूँ, अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा त्यागूँ॥
 संकल्प-विकल्प संक्लेश त्यागूँ, आशा-निराशा दुराशा त्यागूँ॥ (6)
 ढोंग आड़म्बर-पाखण्ड त्यागूँ, माया-मिथ्यात्व-निदान नाशूँ॥
 आत्मिक श्रद्धा-प्रज्ञा चर्या बढाऊँ, स्वयं का ही कर्ता भोक्ता बन्नूँ॥ (7)
 आत्मिक शुद्धि की पूर्णता करूँ, जिससे आत्मशक्ति से पूर्ण हो जाऊँ॥
 इससे शुद्ध-बुद्ध आनन्द बन्नूँ, 'कनक' कृतकृत्य प्रभु मैं बन्नूँ॥ (8)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा 05/02/2021 रात्रि-5.18

(यह कविता आचार्य श्री के 41 वे दीक्षा दिवस के उपलक्ष्य में बनी।)
 (गुरु शिष्य गौरव महोत्सव स्वाध्याय वेबिनार से प्राप्त शिक्षा का अनुभव)

गुणी पूजनीय न कि निन्दनीय

गुणगौरव-व्यवहारेशिता-अवध्यता-अदण्डयता आदि

(चाल: यमुना किनारे...)

सुदृष्टि धार्मिक के गुण अनेक, उनमें से कुछ गुण करूँ वर्णन।
 विस्तार से जानने योग्य ग्रन्थों से, गुणों में वृद्धि होती गुणगौरव से॥ (1)
 गुणों को जानना मानना श्रेय, लेखन पठन वर्णन विधेय।
 इससे होता गुणों में विकास, दुर्गुणों का शनैः शनैः होता विनाश॥ (2)
 नवकोटि से धर्म सदा पालनीय, मन-वचन-काय से होता पालनीय।
 कृत-कारित-अनुमोदना योग्य, इहपरलोक हित हेतु पालनीय॥ (3)
 सदगुणों से ही आती पात्रता, जिससे मिले मान्यता से पूज्यता।
 जिससे स्व-पर का होता उपकार, यह गुण प्रायश्चित्त या व्यवहारेशिता॥ (4)
 इससे गुणी सदा होते अवध्य, सभी जीव अवध्य किन्तु गुणी विशेष।
 अतः धर्म पालनीय प्रयत्न से, धर्मः रक्षितः रक्षितः सदा ही॥ (5)
 आरंभी उद्योगी विरोधी हिंसा, श्रावकों से भी आनुशंगिक हिंसा।
 किन्तु संकल्पी हिंसा घोरतम पाप, इससे भी घोर पाप अवध्य हिंसा॥ (6)
 ऐसा ही गुणी सदा होते अदण्डनीय, गुणीषु प्रमोद न कि अनादरणीय।
 कीर्तिनाश प्राणनाश सम पाप, अतएव गुणी की निन्दा भी पाप॥ (7)

सद्वृत्तानां गुणगुणी कथा करणीय, अलौकिक विनय न कि दण्डनीय।
 श्रीपाल कुष्ठी बने मुनि निन्दा से, साठहजार पापी मरे मुनि निन्दा से॥ (8)
 राम पाण्डव गये स्वर्ग मोक्ष, विरोधी हिंसा से मारे लाखों।
 किन्तु मुनि निन्दा मात्र से ही नरक, इससे ज्ञेय है अवध्य व वध्य॥ (9)
 अतः गुणी सदा सम्मानीय व मान्य, गुण सर्वत्र पूज्यते न वपु आयु।
 देवों से भी पूजित गुणी चाण्डाल, चाण्डाल से भी वध्य पापी नर॥ (10)
 अश्वेरी नगरी चौपट राजा सम, न्याय न होता मत्स्यन्याय सम।
 पूज्यपूजा व्यतिक्रम घोर पाप, अधमाधम नराधम सम पाप॥ (11)
 पूजनीय को भी दण्डित करते पापी, तीर्थकर सुकरात सम को कष्ट देते।
 इनसे बचाने हेतु विष्णुकुमार श्रेय, गुणगुणी प्रमोद 'कनकसूरी' को प्रिय॥ (12)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-19/2/2021, रात्रि-9.03

(यह कविता मुनि सुविज्ञसागर जी के कारण बनी। सुविज्ञसागर जी
 सैकड़ों बार बोले गुरुदेव! आपकी कविताओं से अधिक ज्ञान होता है,
 इतना ज्ञान मुझे ग्रन्थों से भी नहीं होता, इस कारण यह कविता बनी।)

संदर्भ-

उन दश अधिकारों में पहला अतिबाल विद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्ट्यधि कारिता, छठा व्यवहारेशिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्ड्यता, नौवाँ मानार्हता और दशवाँ प्रजासम्बन्धान्तर है। उपासक संग्रह में अनुक्रमसे ये दश अधिकार वस्तुएँ बतलायी गयी हैं। उन्हीं अधिकार वस्तुओं का उनके नामके अनुसार यहाँ संक्षेप से कुछ विवरण करता हूँ। द्विजों को जो बाल्य अवस्था से ही लेकर विद्या सिखलाने का उद्योग किया जाता है उसे अतिबालविद्या कहते हैं, वह विद्या द्विजोंको अत्यन्त इष्ट है। इस अति बाल विद्या के अभाव में द्विज मूर्ख रह जाता है उसे हेय उपादेय का ज्ञान नहीं हो पाता और वह अपनेको झूठमूठ द्विज मानने वाले पुरुषों के द्वारा ठगाया जाकर मिथ्या शास्त्र के अध्ययन में लग जाता है। इसलिए द्विजों को उचित है कि वे बाल्य अवस्था में ही श्रावकाचार के शास्त्रों का अभ्यास करें क्योंकि उपासकाचार के शास्त्रों के द्वारा जिसे अच्छे संस्कार प्राप्त हो जाते हैं वह निज और पर को

तारनेवाला हो जाता है। अपने कुल के आचार की रक्षा करना द्विजों की कुलावधि क्रिया कहलाती है। कुल के आचार की रक्षा न होने पर पुरुष की समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुल को प्राप्त हो जाता है। समस्त वर्णों में श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है, इस वर्णोत्तम क्रिया से ही यह प्रशंसा को प्राप्त होता है और निज तथा परका उद्धार करने में समर्थ होता है। यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नहीं है अर्थात् इसका वर्ण उत्तम नहीं है तो इसके उत्कृष्टता नहीं हो सकती और जो उत्कृष्ट नहीं है वह न तो अपने-आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरे को ही शुद्ध कर सकता है। जो स्वयं उत्कृष्ट नहीं है ऐसे द्विज को अपनी शुद्धि की इच्छासे अन्य कुलिगियों अथवा कुब्रह्म की सेवा करनी पड़ती है और ऐसी दशा में वह निःसन्देह उन लोगोमें उत्पन्न हुए दोषोंको प्राप्त होता है। **भावार्थ**—सदा ऐसे ही कार्य करना चाहिए जिससे वर्ण की उत्तमता में बाधा न आवे।

प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात्।

गुणाधिकोऽहि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्याल्लोकपूजितेः॥ (185)

गुणों का गौरव होने से दान देने के योग्य पात्रता भी इन्हीं द्विजों में होती है क्योंकि जो गुणों से अधिक होता है वह संसार में सब लोगों के द्वारा पूजित होनेवाले लोगों के द्वारा भी पूजा जाता है।

ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां द्रढयेद्विजः।

तदभावे विमान्यत्वाद् ह्यितेऽस्य धनं नृपैः॥ (186)

इसलिए द्विजों को चाहिए कि वे अपने आपमें गुणों के द्वारा की हुई पात्रता को दृढ़ कर अर्थात् गुणी पात्र बने क्योंकि पात्रता के अभाव में मान्यता नहीं रहती और मान्यता के न होने से राजा लोग भी धन हरण कर लेते हैं।

रक्ष्यः सृष्ट्याधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः।

असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः॥ (187)

जिनकी सृष्टि उत्तम है ऐसे द्विजों को मिथ्यादृष्टियों के द्वारा की हुई सृष्टि को दूर से ही छोड़कर अपनी सृष्टि के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए।

अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्हृष्टेन कुदृष्टयः।

लोकं नृपांश्च संमोह्य नयन्त्युत्थपथगमिताम्॥ (188)

अन्यथा मिथ्यादष्टि लोग अपने दुषित सृष्टिवाद से लोगों को और राजाओं को मोहित कर कुमार्गगामी बना देंगे।

सृष्ट्यन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित्।

अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत्॥ (189)

इसलिए नय और तत्त्वों को जाननेवाले द्विज को चाहिए कि मिथ्याष्टियों की अन्यसृष्टि को दूर से ही छोड़कर अनादिक्षत्रियों के द्वारा रची हुई धर्मसृष्टि की ही प्रभावना करे।

तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी।

तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतुन् प्रकाशयेत्॥ (190)

तथा इस धर्मसृष्टि का आश्रय लेनेवाले राजाओं से ऐसा कहे कि तीर्थकरों के द्वारा रचि हुई यह सृष्टि अनादिकाल से चली आयी है। **भावार्थ**—यह धर्मसृष्टि तीर्थकरों के द्वारा रचि हुई है और अनादि काल से चली आ रही है इसलिए आप भी इसकी रक्षा कीजिए।

अन्यथाऽन्यकृता सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः।

ततो नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हताः॥ (191)

यदि द्विज राजाओं ऐसा नहीं कहेंगे तो वे अन्य लोगों के द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेंगे जिससे उनका ऐश्वर्य नहीं रह सकेगा तथा अरहन्त के मतको माननेवाले लोग भी उसी धर्म को मानने लगेंगे।

व्यवहारेशितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि।

स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम्॥ (192)

परमागम का आश्रय लेनेवाले द्विजों को जो प्रायश्चित्त आदि कार्यों में स्वतन्त्रता है उसे ही व्यवहारेशिता कहते हैं।

तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति।

अशुद्धः परतः शुद्धिमभीप्ससन्नयवकृतो भवेत्॥ (193)

व्यवहारेशिता के अभाव में द्विज न अपने आपको शुद्ध कर सकेगा और न दूसरे को ही शुद्ध कर सकेगा तथा स्वयं अशुद्ध होने पर यदि दूसरे से अपनी शुद्धि करना चाहे तो वह कभी कृती नहीं हो सकेगा।

स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः।

ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो वधमर्हति॥ (194)

जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज अबध्याधिकार में भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि बाह्यगुणों की अधिकता के कारण किसी दूसरे के द्वारा वध करने योग्य नहीं होता।

सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः।

गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्व्यात्मता मता॥ (195)

सब प्राणियों को नहीं मारना चाहिए और विशेषकर ब्राह्मणों को नहीं मारना चाहिए। इस प्रकार गुणों की अधिकता और हीनता से हिंसा में भी दो भेद माने गये हैं।

तस्मादवध्यतामेष पोषयेद् धार्मिक जने।

धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्यो यन्नाभिभूयते॥ (196)

इसलिए यह धार्मिक जनों में अपनी अवध्यता को पुष्ट करे। यथार्थ में वह धर्म का ही माहात्म्य है कि जो इस धर्म में स्थित रहकर किसी से तिरस्कृत नहीं हो पाता।

तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः।

एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम्॥ (197)

यदि वह अपनी अवध्यता को पुष्ट न करेगा तो सब लोगों से वध्य हो जावेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेंगे और ऐसा होने पर अर्हन्तदेव के धर्म की प्रामाणिकता नष्ट हो जायेगी।

नतः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः।

स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे॥ (198)

इसलिए सब प्रकार को प्रयत्नों से सनातन धर्मकी रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थों से भरे हुए संसार में उसकी रक्षा कर सकता है।

स्यादण्ड्यत्वमप्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः।

धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः॥ (199)

इसी प्रकार धर्ममें जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसे इस द्विज को अपने

अदण्डयत्व का भी अधिकार है क्योंकि धर्म में स्थिर रहनेवाला मनुष्य ही दूसरे के लिए दंड देने में समर्थ हो सकता है।

तद्धर्मस्थी यमात्रायं भावयन् धर्मदर्शिभिः।

अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः॥ (200)

इसलिए धर्मदर्शी लोगों के द्वारा दिखलायी हुई धर्मात्मा जनों की आम्नाय का विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधर्मी जनों को दण्ड देता है।

परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः।

ब्रह्मस्वं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः॥ (201)

जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा देवद्रव्य और गुरुद्रव्य त्याग करने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मण का घन भी त्याग करने योग्य है। इसलिए ही द्विज दण्ड देने के योग्य नहीं है।

युक्त्यानया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी।

अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेदण्डधारिणाम्॥ (202)

इस युक्ति से अपने में अधिक गुणों का आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको अदण्ड्य अर्थात् दण्ड न देने योग्य पक्ष में ही स्थापित करता है। भावार्थ-वह अपने आपमें इतने अधिक गुण प्राप्त कर लेता है कि जिससे उसे कोई दण्ड नहीं दे सकते।

अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्यादण्ड्योऽयं यथेतरः।

ततश्च निस्स्वतां प्राप्तो नेहामुत्र च नन्दति॥ (203)

इस अधिकार के अभाव में अन्य पुरुषों के समान ब्राह्मण भी दण्डित किया जाने लगेगा जिससे वह दरिद्र हो जायेगा और दरिद्र होने से न तो इस लोक में सुखी हो सकेगा और न परलोक में ही।

भान्यत्वमस्य संधत्ते मानार्हत्वं सुभाविताम्।

गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः॥ (204)

यह ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मान के योग्य होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जो गुणों से अधिक होता है अर्थात् जिसमें अधिक

गुण पाये जाते हैं वही पुरुषों के द्वारा सन्मान करने योग्य, वन्दना करने योग्य और पूजा करने योग्य होता है।

असत्यस्मिन्नमान्यत्वमस्य स्यात् संमतेर्जनेः।

ततश्च स्थानमानादिलाभाभावत् पदच्युतिः॥ (205)

तस्मादयं गुणैर्यत्नादात्मन्यारोप्यतां द्विजैः।

यत्तश्च ज्ञानवृत्तादिसंपत्तिः सोऽर्च्यता नृपैः॥ (206)

इस अधिकारके न होने से उत्तम पुरुष इसका सन्मान नहीं करेंगे और उसके स्थान मान लाभ आदि का अभाव होने के कारण वह अपने पद से च्युत हो जावेगा। इसलिए द्विज को चाहिए कि वह यह गुण (मान्यत्व गुण) बड़े यत्न से अपने आपमें आरोपित करे क्योंकि ज्ञान चारित्र आदि सम्पदाएँ ही उसका यत्न है इसलिए राजाओं को उसकी पूजा करनी चाहिए।

स्यात् प्रजान्तरसंबन्धे स्वोन्नतेरपरिच्युतिः।

याऽस्य सोक्ता प्रजासंबन्धान्तरं नामतो गुणः॥ (207)

प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जो अपनी उन्नति से च्युत नहीं होना है वह इसका प्रजासम्बन्धान्तर नाम का गुण है।

यथा कालायसाविद्धं स्वर्णं याति विवर्णताम्।

न तथाऽस्यान्यसंबन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लवः॥ (208)

जिस प्रकार काले लोह के साथ मिला हुआ सुवर्ण विवर्णता को प्राप्त हो जाता है उस प्रकार अन्यः पुरुषों के साथ सम्बन्ध होने पर इस ब्राह्मण के अपने गुणों के उत्कर्ष में कुछ बाधा नहीं आती है। भावार्थ—लोहे के सम्बन्ध से सुवर्ण में तो खराबी आ जाती है परन्तु उत्तम द्विज में अन्य लोगों के सम्बन्ध से खराबी नहीं आती।

किन्तु प्रजान्तरं स्वेन संबद्धं स्वगुणानयम्।

प्रापयत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रसः॥ (209)

किन्तु जिस प्रकार रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहे को शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों को शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है।

ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः।

येनायं स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति॥ (210)

इसलिए कहना चाहिए कि यह प्रजासम्बन्धान्तर गुण, धर्म की प्रभावना को बढ़ानेवाला सबसे बड़ा गुण है क्योंकि इसी के द्वारा यह द्विज अपने गुणों से अन्य लोगों को अपने आधीन कर सकता है।

असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्युतिम्।

सत्येवंगुणवत्तास्य निष्कृष्येत द्विजन्मनः॥ (211)

इस गुण के न रहने पर ब्राह्मण अन्य लोगों के सम्बन्ध से अपने गुणों की हानि कर सकता है और ऐसा होने पर इसकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जावेगी। इसलिए जो अतिबाल विद्या आदि दश प्रकार के नियोग निरूपण किये हैं उन्हें यथायोग्य रीति से स्वीकार करनेवाला द्विज ही सब लोगों को मान्य हो सकता है। इन गुणों में अन्य विशेष गुण बहुत विस्तार के साथ विवेचन करने के योग्य है उन्हें उपासकाध्ययन शास्त्र से विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिए। इस प्रकार व्रतचर्या क्रिया की विधि का वर्णन करते समय उस क्रिया के योग्य मन्त्रों के प्रसंग से उत्तम आचरणवाले द्विजों के द्वारा माननीय दश अधिकारों का निरूपण किया। इस प्रकरण में जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं उन्हें क्रियामन्त्र जानना चाहिए और जो सात पीठिकामन्त्र इस नामसे प्रसिद्ध है उन्हें सामान्य विषयक समझना चाहिए अर्थात् वे मन्त्र सभी क्रियाओं में काम आते हैं। वे साधारण मन्त्र सभी क्रियाओं में काम आते हैं इसलिए मन्त्रों के जाननेवाले विद्वान उन्हें औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य मन्त्र कहते हैं। इनके सिवाय जो विशेष मन्त्र हैं वे उपर कही हुई क्रियाओं में दिखला दिये गये हैं। अब व्रतचर्या से आगे के जो मन्त्र हैं वे द्विजों को अपनी आम्नाय (शास्त्र परम्परा) के अनुसार समझ लेना चाहिए। जो इन मन्त्रों को क्रियाओं में यथायोग्य रूप से काम में लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोक में सन्मान को प्राप्त होता है। जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र धारण कर तैयार हुए मुख्य-मुख्य योद्धा सेनापति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते उसी प्रकार मन्त्रों से रहित क्रियाएँ भी प्रयोग करने वाले पुरुषों की कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकती। इसलिए शास्त्रों का अभ्यास करनेवाले द्विजों को यह सब विधि अच्छी तरह जानकर

मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ सब क्रियाएँ विधि पूर्वक करनी चाहिए। इस प्रकार जिसने धर्म के द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओं में निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भरतक्षेत्र के अधिपति महाराज भरत ने राजा लोगों की साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजों को अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्ण की सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की। इस प्रकार महाराज भरत से जिन्हें सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतों के परिचय से जिनका चारित्र सुन्दर और उदार हो गया है, जो शास्त्रों के अर्थों को जाननेवाले हैं, और श्री वृषभ जिनेन्द्र के मतानुसार धारण की हुई दीक्षा से जो पूजित हो रहे हैं ऐसे वे ब्राह्मण संसार में बहुत ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुए और खूब ही उनका आदर-सन्मान किया गया।

वृत्तस्थान थ तान् विधाय सभवानिक्ष्वाकुचूडामणिः।

जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् संभानयन् प्रत्यहम्।

स्वं मेने कृतिनं मुदा परिगतां स्वां सृष्टिमुच्चैः कृतां

पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत्॥ (223)

तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलचूडामणि महाराज भरत जैनमार्ग में अच्छी तरह स्थित रहनेवाले उन ब्राह्मणों को सदाचार में स्थिर कर प्रतिदिन उनका सन्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे सो ठीक ही है क्योंकि आनन्द से युक्त तथा उत्कृष्टता को प्राप्त हुई अपनी सृष्टि को देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने आपको कृतकृत्य न माने।

कुदृष्टि की धर्मप्रभावना V/S सुदृष्टि की धर्म प्रभावना

दंभी की धर्मप्रभावना अष्टमद वृद्धि के हेतु

सुदृष्टि की धर्मप्रभावना स्व-पर-आत्मविशुद्धि के हेतु

(चालः 1. क्या मिलिए... 2. सुनो-सुनो ऐ दुनिया...)

ज्ञान पूजा कुल जाति धन बल तप देह में/(से)

जो करते हैं घमण्ड (गर्व) वे होते हैं मिथ्यात्वी

आत्मस्वभाव से परे जो ज्ञान पूजा कुल जाति,

धन बल तप देह को स्वरूप माने हैं वे हैं मिथ्यात्वी॥ (1)

आत्मस्वरूप से परे विभाव व परद्रव्य में,
जो करते “ममकार” “अहंकार” वे होते हैं मिथ्यात्वी॥

मिथ्यात्वी में होती अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व
अप्रत्याखान से ले संज्वलन क्रोधमानमायालोभ॥ (2)

हास्यरति अरति भय शोक जुगुप्सा व,
स्रीपुंनंपुसक वेद जिससे वे सत्य से अज्ञेय।
जिससे व कर्मज व विभाव व परद्रव्य को,
स्वरूप मानकर करते वे उस में अष्टमद को॥ (3)

प्राप्तज्ञान में (से) करता गर्व न जाने आत्मज्ञान को,
आत्मज्ञान होता सम्यक्त्व से जिससे पंचविध विनय भी।

आत्मज्ञान होते हैं ज्ञान-ज्ञानी आदि पंचविनय,
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ व ज्ञानवैराग्य॥ (4)

स्व आत्मा के अनन्तज्ञान का करते गौरव सुदृष्टि,
उसे प्राप्त करने हेतु करते हैं आत्म-विशुद्धि॥

ख्याति पूजा प्रसिद्धि हेतु करते मिथ्यात्वी धर्म कर्म
इस से परे सुदृष्टि के लक्ष्य होती हैं आत्मसिद्धि॥ (5)

इस हेतु ही करते व धर्म जिससे हो आत्मविशुद्धि।
तथाहि कुल जाति धन बल तप देह में ज्ञेय,

इस में करते घमण्डी दंभ, सुदृष्टि इस से निवृत्त।
घमण्डी में न होती हैं श्रद्धा-प्रज्ञा-समता॥ (6)

जिससे उनसे न होती हैं धर्म की सही प्रभावना।
धर्म की प्रभावना भी मिथ्यात्वी करते अष्टमद हेतु।

अतएव कुदृष्टि की धर्मप्रभावना होती अप्रभावना हेतु॥
धर्म प्रभावनीय अतः रत्नत्रयतेजसा सततमेव।

अतएव ‘कनकनन्दी’ आत्मसाधना करे सततमेव॥ (7)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा- 13/1/2020 रात्रि-10.33

गुरु मूढता का लक्षण

सग्रन्थारम्भ हिंसानां, संसारावर्त वर्तिनाम्।

पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥ (24)

परिग्रह आरम्भ और हिंसा सहित संसार रूपी चक्र में भटकने वाले पाखण्डी साधुओं का आदर, सम्मान, पूजा आदि करना गुरु मूढता जानना चाहिए।

मद का लक्षण और भेद

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मय माहर्गतस्मयाः॥ (25)

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठों का आश्रय लेकर जो गर्व करता है मद रहित पुरुष (सर्वज्ञ भगवान्) उसे मद कहते हैं।

मद से हानि

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थान गर्विताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्बिना॥ (26)

जो घमण्डी घमण्ड से दूसरे रत्नत्रय के धारक धर्मात्मा जनों को अपमानित करता है, वह व्यक्ति अपने धर्म को ही अपमानित करता है, क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है।

सम्पदा से क्या प्रयोजन

यदि पापनिरोधोऽन्य, संपदा किं प्रयोजनम्।

अथ पापस्रवोऽस्त्यन्य, संपदा किं प्रयोजनम्॥ (27)

यदि पाप का निरोध हो गया है तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है, यदि पाप का आस्रव है तो दूसरी सम्पदाओं से क्या प्रयोजन है।

सम्यग्दर्शन की विशेषता

सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातङ्ग देहजम्।

देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्त रौजसम्॥ (28)

जिनेन्द्र देव सम्यग्दर्शन सहित भंगी (जमादार) को भी राख के भीतर ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान पूज्य (श्रेष्ठ) कहते हैं।

धर्म और पाप का फल

श्रापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्बिषात्।

कापि नाम भवेदन्या, संपद्धर्माच्छरीरिणाम्॥ (29)

धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है धर्म के प्रभाव से जीवों को अन्य भी अनिर्वचनीय (अहमन्द्रि, मोक्षादि) सम्पदा प्राप्त होती है।

कुदेवादि की विनयादि का निषेध

भयाशास्नेह लोभाच्च कुदेवागम लिङ्गिनाम्।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥ (30)

शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, प्रेम और लोभ के वशीभूत होकर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुओं को नमस्कार विनय आदि भी नहीं करें।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमान मुपाश्रुते।

दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गं प्रचक्षते॥ (31)

सम्यग्ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा गया है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता के कारण

विद्यावृत्तस्य संभूति, स्थितिवृद्धि फलोदयाः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव॥ (32)

जिस तरह बीज के न होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की सम्पत्ति नहीं बनती उसी प्रकार सम्यग् दर्शन के न होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और फलों की सम्पत्ति नहीं बनती।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ (33)

अर्थः—दर्शन मोह रहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है किन्तु दर्शन

मोह सहित द्रव्यलिङ्गी मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है इस कारण से द्रव्यलिङ्गी मुनि से दर्शन मोह रहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।

सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट क्यों है?

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व, समं नान्यत्तनूभृताम्॥ (34)

तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीवों को सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा उपकारक नहीं है। और मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा अनुपकारक (अहित रूप) नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति का निषेध

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारक तिर्यङ् नपुंसकस्त्रीत्वानि।

दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ (35)

व्रत रहित भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नारकी, तिर्यच, नपुंसक और स्त्रीपने को प्राप्त नहीं होते हैं और निन्द्य कुल, विकलांगता, अल्पायु और दरिद्रता को भी प्राप्त नहीं होते।

सम्यक् दृष्टि का समस्त सधर्मी में परम उत्कृष्ट वात्सल्य प्रीति भाव होता है। यह व्यवहारनय की अपेक्षा है। निश्चय से शिवसुख रूपी लक्ष्मी अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी को देने वाला धर्म अर्थात् जिनधर्म में उत्कृष्ट स्नेह होता है। पुनः अहिंसादि लक्षण स्वरूप धर्म में भी वात्सल्य भाव होता है। गुणानुरागी होने के कारण सम्यक्दृष्टि को वात्सल्य भाव निश्चय से होता ही है जो कि सप्तम् अंग है।

प्रभावना अंग का लक्षण

आत्मा प्रभावनीयो, रत्नत्रय तेजसा सततमेव।

दान-तपो-जिनपूजा-विद्याऽतिशयैश्च जिनधर्मः॥ (30)

One should ever make his own self radiant by the light of three jewels, and should add to the glory of Jainism by exceptional charity, custerity, worship of Jina, the conqueror, and by learning.

व्यवहारनय से सम्यक् दृष्टि भव्यों के द्वारा दान, तप, जिनपूजा अतिशय विद्या के द्वारा स्याद्वाद से अंकित जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये अर्थात् अतिशय से उसको बढ़ाना चाहिये। पुनः रत्नत्रय रूपी तेजी से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक आत्मा को सतत् उद्योतन करना चाहिये। प्रभावना का अर्थ है (प्र+भावना) अर्थात् प्रकृष्ट/निर्मल भावना/सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तपों से जिनशासन का उद्योतन करना, आत्म प्रकाशन करना प्रभावना है।

आत्महित के लिए सम्यग्ज्ञान की उपासना

इत्याश्रित-सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।

आम्नाय युक्ति-योगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः॥ (31)

Those who have thus attained right belief, mastered the system of Jain philosophy and the rules of logic, and are ever intent on self-evolution, should devote themselves to the acquisition of right knowledge, after having understood it with diligence through scriptures, arguments, and contemplation.

सम्यक्त्व का ज्ञान करके यहाँ पर ज्ञान स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। पुनः आत्मा के हित के लिए आत्महिताकांक्षियों को सदैव सम्यग्ज्ञान का सम्यक् रूप से सेवन करना चाहिए। प्रयत्न रूप से अष्टांग लक्षण सहित सम्यक्त्व से युक्त होकर आत्महित के लिए आम्नाय अर्थात् सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की परम्परा तथा युक्ति से सहित होकर सम्यग्ज्ञान की सेवा अर्थात् प्राप्ति करनी चाहिए।

समीक्षा:-कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार में कहा भी है-

जेण रागा विरजेज्ज जेण सेएसु रज्जादि।

जेण मित्तीं पभविज्ज तं णाणं जिणसासणे॥ (268)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिन शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

न्याय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्री माणिकनंदी ने इसी सत्य को ज्ञान रूप से उजागर किया है।

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्॥

जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है।

“अज्ञान निवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्” (परीक्षामुख)

अज्ञान की निवृत्ति, अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप, निरपेक्षरूप समता भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

दर्शन और ज्ञान में भेद

पृथगाराधनमिष्टं, दर्शन-सहभाविनोऽपि बोधस्य।

लक्षण-भेदेन यतो, नानात्वं संभावत्यनयोः॥ (32)

सम्यग्दर्शन सहभावि अर्थात् सह-उत्पादन ज्ञान होते हुए भी ज्ञान की आराधना अर्थात् सेवन पृथक् से करना इष्ट है। जब सम्यग्दर्शन होता है तभी सम्यग्ज्ञान होता है। अतः व्यवहार अपेक्षा से लक्षण भेद से दोनों सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में भिन्नत्व संभव होता है, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के लक्षण में भिन्नता पाई जाती है। इसलिए सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान दोनों भिन्न हैं।

दोनों में कार्य-कारण का भाव

सम्यग्ज्ञानं कार्य, सम्यक्त्वकारणं वदन्ति जिनाः।

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥ (33)

सर्वज्ञ भगवान् ने बताया है कि सम्यक्त्व कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है क्योंकि पूर्व भावि कारण है पश्चात् भावि कार्य है। इसलिए सम्यग्दर्शन को कारण कहा गया है तथा सम्यग्ज्ञान को कार्य कहा गया है। अतएव सम्यक्त्व के बाद ज्ञान की आराधना वांछनीय है। इस रहस्य को प्रकट करने के लिये यहाँ पर कार्य कारण सिद्धान्त का कथन किया गया है।

भावलिङ्गी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त होकर ममता बुद्धि को छोड़ता हूँ और आत्मा ही मेरा आलंबन है, इसलिए अन्य समस्त पदार्थों को छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे संवरे जोगे।

आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे॥ (58) अष्ट पा.

निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन और चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर और योग में आत्मा है।

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।। (59)

नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है, उसके सिवाय परद्रव्य के संयोग से होने वाले समस्त भाव बाह्य हैं- मुझसे पृथक् हैं।

भावेह भावसुद्धं, अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।

लहु चउगइ चइऊणं, जइ इच्छसि सासयं सुक्खं।। (60)

हे भव्य जीवों! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा अत्यंत पवित्र और निर्मल आत्मा की भावना करो।

जो जीवो भावंतो, जीवसहावं सुझावसंजुत्तो।

जो जरमरणविणासं, कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। (61)

जो जीव अच्छे भावों से सहित होकर आत्मा के स्वभाव का चिंतन करता है वह जरामरणका विनाश करता है और निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

जीवो जिणपण्णत्तो, णाणसहाओ य चेयणासहिओ।

सो जीवो णायव्वो, कम्मक्खयकारणणिमित्तो।। (62)

जीव ज्ञानस्वभाववाला तथा चेतना सहित है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। वह जीव ही कर्मक्षय का कारण जानना चाहिए।

जेसिं जीवसहावो, णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।

ते होंति भिण्णदेहा, सिद्धा वचिगोयरमतीदा।। (63)

जिसके मन में जीव का सद्भाव है उसका सर्वथा अभाव नहीं है। वे शरीर से भिन्न तथा वचन के विजय से परे होते हैं।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेयणागुणमसद्धं।

जाणमलिंगगहणं, जीवमणिद्धिसंठाणं।। (64)

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से युक्त है, शब्दरहित है, इंद्रियों के द्वारा अग्राह्य है और आकाररहित है उसे जीव जान।

भावहि पंचपयारं, णाणं अण्णाणणासंण सिग्घं।

भावणभावियसहिओ, दिवसिवसुहभायणो होइ।। (65)

हे जीव! तू अज्ञान का नाश करनेवाले पाँच प्रकार के ज्ञान का शीघ्र ही भावना कर। क्योंकि ज्ञानभावना से सहित जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र होता है।

पढ्दिण्णवि किं कीरइ, किंवा सुणिएण भावरहिण्ण।

भावो कारणभूदो, सायारणयारभूदाणं।। (66)

भावरहित पढ़ने अथवा भावरहित सुनने से क्या होता है? यथार्थ में भाव ही गृहस्थपने और मुनिपने का कारण है।

दव्वेण सयलणग्गा, सारयतिरिया य सयलसधाया।

परिणामेण असुद्धा, ण भावसवणत्तणं पत्ता।। (67)

द्रव्य सभी रूप से नग्न रहते हैं। नारकी और तिर्यंचों का समुदाय भी नग्न रहता है, परंतु परिणामों से अशुद्ध रहने के कारण भाव मुनिपने को प्राप्त नहीं होते।

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमई।

णग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावणवज्जियं सुइरं।। (68)

जो नग्न जिनभावना की भावना से रहित है वह दीर्घकालतक दुःख पाता है, संसारसागर में भ्रमण करता है और रत्नत्रय को नहीं प्राप्त करता है।

अयसाण भायणेण य, किंते णग्गेण पावमलिगेण।

पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।। (69)

हे जीव! तुझे उस नग्न मुनिपने से क्या प्रयोजन? जो कि अपशय का पात्र है, पाप से मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से परिपूर्ण है।

पयडहिं जिणवरलिंगं, अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।

भावमलेण य जीवो बाहिरसंगमि मयलियई।। (70)

हे जीव! तू अंतरंग भाव के दोषों से शुद्ध होकर जिनमुद्रा को प्रकट कर-धारण कर। क्योंकि भावदोष से दूषित जीव बाह्य परिग्रह के संग में अपने आप को मलिन कर लेता है।

धम्ममि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।

णिप्फलणिग्गुणयारो, णउसवणो णग्गरूवेण।। (71)

अभव्य जीव जिनधर्म की अच्छी तरह सुनकर भी अपने स्वभाव को-
मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है, सो ठीक ही है, क्योंकि गुड़मिश्रित दूध को पीते हुए भी
साँप विषरहित नहीं होते हैं।

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी, दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं।

धम्मं जिणपण्णत्तं, अभव्वजीवो ण रोचेदि।। (139)

जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित है ऐसा अभव्य जीव मिथ्यामतरूपी
दोषों से उत्पन्न हुई दुर्बुद्धि के कारण जिनोपदिष्ट धर्म का श्रद्धान नहीं करता है।

कुच्छियधम्ममि रओ, कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।

कुच्छियतवं कुणंतो, कुच्छियगइभायणं होई।। (140)

कुत्सित धर्म में लीन, कुत्सित पाखंडियों की भक्ति से सहित और कुत्सित तप
करनेवाला मनुष्य कुत्सित गति का पात्र होता है-नरकादि खोटी गतियों में उत्पन्न होता है।

इय मिच्छत्तावासे, कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो।

भमिओ अणाइकालं, संसारे धीर चित्तेहि।। (141)

इस प्रकार मिथ्यात्व के निवासभूत संसार से मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रों से
मोहित हुआ जीव अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। हे धीर मुनि! तू ऐसा विचार कर।

पासंडि तिण्णिसया, तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण।

रुंभइ मणु जिणमग्गे, असप्पलावेण किं बहुणा।। (142)

हे जीव! तू तीनसौ त्रेसठ भेदरूप पाखंडियों के उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग
में अपना मन रोक स्थिर कर। निष्प्रयोजन बहुत कथन करने से क्या लाभ?

जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।

सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ।। (143)

इस लोक में जीवरहित शरीर शव कहलाता है और सम्यग्दर्शन से रहित
जीव चल शव-चलता-फिरता मुर्दा कहलाता है। इनमें से शव लोक में अपूज्य है
और चल शव-मिथ्यादृष्टि परलोक में अपूज्य है।

जह तारयाण चंदो, मयराओ मयउलाण सव्वाणं।

अहिओ तह सम्मत्तो, रिसिसावय दुविहधम्माणं।। (144)

जिस प्रकार समस्त ताराओं में चंद्रमा और समस्त मृगसमूह में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि और श्रावक संबंधी दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यग्दर्शन प्रधान है।

सर्व दोष रहित-परमात्मा के शरणापन्नप

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा-विषाद निद्रा भय शोक चिन्ता।

क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च-स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥(21)

I seek shelter in that Supreme Lord, who has annihilated desire, pride, delusion, anguish, sleep, fear, sorrow, anxiety, just as a jungle is burned up by the wild fire.

भावार्थ : यथा अग्नि के द्वारा वृक्षों के समूह नष्ट हो जाते हैं तथा जिसके द्वारा काम वासना, अहंकार, मूर्च्छा (आसक्ति, तृष्णा), विषाद (दुःख), निद्रा, भय, शोक, चिन्ता आदि नष्ट किये गये हैं, ऐसे विजितात्मा देव का आश्रय प्राप्त करता हूँ।

प्राप्त शिक्षाएँ : उपरोक्त श्लोक संख्या 12 से 21 तक से यह सिद्ध होता है, यथार्थ से इष्टदेव-महादेव-ईश्वर-भगवान्-आप्तदेव-आत्मदेव वे हैं, जो सम्पूर्ण कर्म से रहित हो, पवित्र हो, अनन्त ज्ञानादि वैभव से युक्त हो, स्व-आत्म में ही लीन हो, परम स्वतन्त्रता/मोक्ष का उपदेशक हो। ऐसा देव ही पूजनीय है।

मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं

(आत्मदृष्टि बिना व्रतादि धर्म नहीं)

वयतव संजम मूलगुण मूढह मोक्ख णिवुत्तु।

जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउभाउपवित्तु ॥(29) यो.सा.

पद्य : व्रत तप संयम मूल गुण मूढ के न होते हैं मोक्ष हेतु।

जब तक न जानता एक परम शुद्ध परमात्मा शिव पद हेतु ॥

समीक्षा : आत्मा की श्रद्धा-प्रज्ञा रहित केवल बाह्य व्रत तप से।

नहीं मिलता है मोक्ष पद जो मिले आत्मा की उपलब्धि से ॥

सिद्धि होती आत्मोपलब्धि आत्मा के बिना कैसे मिले सिद्धि।

आत्मा की साधना से सिद्धि मिले यह लक्ष्य बिन मूढमति ॥

अतएव मूढमति के व्रत तप संयम मूल गुण लक्ष्य बिना।

लक्ष्य रहित होने के कारण मोक्ष न पाता मूढ श्रमण ॥

सन्दर्भ :

हिंसानन्द, मृषानन्द चौर्यानन्द अरौर परिग्रहानन्द या विषयसंरक्षणानन्द के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है। यह न्यूनाधिक भाव से मिथ्यात्व गुणस्थान से पंचम गुणस्थान पर्यंत रहने वाले जीवों को उत्पन्न होता है। यह रौद्र ध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के लिए नरकगति का कारण है तो भी सम्यग्दृष्टि ने नरकायु बन्ध की है उसको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टियों को नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। इसलिये विशिष्ट ध्यान के बल से नरक गति का कारणभूत जो तीव्र संक्लेश उन्हें नहीं होता है।

आज्ञा-विचय अपाय-विचय विपाक-विचय एवं संस्थान-विचय इन चार भेदों से भेद को प्राप्त हुआ धर्मध्यान न्यूनाधिक वृद्धि के क्रम में अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों को उत्पन्न होता है। मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्ध कारणमपि परंपराया मुक्ति कारणं चेति धर्मध्यानं, यह धर्मध्यान मुख्यरूप से पुण्यबन्ध का कारण है तो भी परम्परा से मोक्ष का कारण है।

सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार

दाणं पूया सीलं उपवासं बहुविहंपि खवणंपि।

सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसार।।(10) रयण।

दान-पूजा व शील-उपवास बहुविध भी क्षपण भी।

सम्यक्त्व सहित मोक्ष सुख है सम्यक्त्व बिन दीर्घ संसार।।(1)

समीक्षा व शिक्षा

मोक्षप्राप्ति व संसार वर्द्धक कारक का यहाँ हुआ वर्णन।

सम्यक्त्व सहित दान-पूजा-शील-उपवास क्षपण है श्रेय।।(2)

सम्यक्त्व रहित दान-पूजा-शील-उपवास क्षपण न श्रेय।

सम्यक्त्व रहित दानादि से न कर्म क्षय व न मिले मोक्ष।।(3)

यथा बीज बिन केवल मृदादि से नहीं बनता है विशाल वृक्ष।

तथाहि आत्मश्रद्धान रूपी सम्यक्त्व बिन नहीं मिलता है मोक्ष।।(4)

इससे महान् शिक्षा मिलती आत्मश्रद्धान करना है प्रथम ध्येय।

इससे होता है आत्मज्ञान जिससे होता है भेद विज्ञान।।(5)

भेद विज्ञान से होती विरक्ति, संसार-शरीर-भोग से अनासक्ति।

जिससे बढ़ती समता-शान्ति, जिससे बढ़ती आत्मविशुद्धि।।(6)

इससे संवर-निर्जरा-मुक्ति किन्तु सम्यक्त्व बिन न मिले मुक्ति।

इससे महान् शिक्षा मिलती आत्मश्रद्धान सहित धर्म से मुक्ति।।(7)

बीजरूप शुभोपयोग भूमि के समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रों के भेद से भिन्न-भिन्न फल को देता है। इस कथन से यह भी सिद्ध हुआ है कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यता से पुण्यबंध होता है परन्तु परम्परा से वह निर्वाण का कारण है मात्र पुण्यबंध को ही नहीं करता है।

समीक्षा : प्रत्येक कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि को लिए हुए होता है। इसमें एक भी कारण की हीनाधिकता से या विपरीतता होने से कार्य में भी हीनाधिकता या विपरीतता आ जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार पात्र विशेष से शुभोपयोग का फल भी विशेष होता है। जैसे उत्तम दूध भी अशुद्ध पात्र में रखने पर अशुद्ध हो जाता है, किन्तु शुद्ध पात्र में रखने पर शुद्ध रहता है। घी को शुद्ध मिट्टी के बर्तन में रखने पर उसके गुण में वृद्धि होती है लेकिन उसी घी को काँसे के बर्तन में रखने पर कुछ दिन बाद वह विष रूप में परिणित हो जाता है। लोहा चुंबक के संपर्क से चुंबक बन जाता है और लोहे में पानी-मिट्टी के संपर्क से जंग लग जाता है। इसी प्रकार स्वाति नक्षत्र का जल बिन्दु कदली (केले) में जाकर कपूर रूप में परिणमन करता है। सर्प में जाकर विषरूप में परिणमन करता है और सीप में जाकर मोती रूप में परिणमन करता है। एक कवि ने कहा भी है-

कदली सीप भुजंग कह, स्वाति एक गुण तीन।

जैसे संगति बैठिए, तैसे ही फल दीन।।

हेय-उपादेय?

हीणादाण वियार विहीणादो बाहिरक्ख सोक्खं हि।

किं तजियं किं भजियं किं मोक्खु ण सुहं जिणुदिट्ठं।।85 रयण.

पद्य : हेय-उपादेय विचार विहीन से ही बाह्य इन्द्रिय सुख मानते।

क्या त्याज्य ग्राह्य क्या मोक्षसुख न ज्ञात कहते जिनेन्द्र।।
 समीक्षा : हेय-उपादेय विचार से ही होता सम्यग्ज्ञान या वीतराग विज्ञान।
 तब ही होता हेय त्याग व उपादेय ग्रहण जिससे मिले मोक्ष।।

कर्म निर्मूलन का कारण

कायकलेसुववासं दुद्धरतवयरणकारणं जाण।

तं णिय सुद्धसरूवं परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं।।(86) रयण.

पद्य : काय क्लेश उपवास दुद्धर तपश्चरण कारण ज्ञेय।
 निज शुद्ध स्वरूप परिपूर्ण तव जानो कर्म निर्मूलनक्षम।।

समीक्षा : निज शुद्धात्मा शुद्धि युक्त यदि होते हैं बाह्य तप।
 तब होता है कर्म-नष्ट अन्यथा न होता कर्म-क्षय।।

व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु।

तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाणह वुत्तु।।(30) योग.

पद्य : जो निर्मल आत्मा का अनुभव करे व्रत संयम संयुक्त।
 वह पाते हैं सिद्ध सुख शीघ्र ऐसा जिननाथ उक्त।

समीक्षा : व्रत संयम बिन न होते हैं शुद्धात्मा ध्यान अनुभव।
 किन्तु शुद्धात्मा ध्यान-अनुभव बिन व्रतादि से न मिले मोक्ष।।
 अतएव व्रतादि युक्त से करणीय शुद्धात्मानुभव प्रमुख।
 इससे ही मिले शिवसुख अतः त्यजनीय ख्याति पूजा लाभ।।

सन्दर्भ :-

सीय-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरवहि-मंदरिदु-मणी।

खिदी-उरगम्बर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू।।(33)

सकल कर्म भूमीषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः। धवला

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ लोक अर्थात् ढाईद्वीपवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुणियों से

सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान परिषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहने वाले, चन्द्रमा के समान शान्ति दायक, मणि के समान प्रभापुंज युक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय वसति आदि में निवास करने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं।

ध्येय, ध्याता, ध्यानादि का स्वरूप

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।

लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयंज्झाण।।(55) द्र.सं.

When a Sadhu attaining concentration becomes void of conscious effort by meditating on anything whatever, that state is called real meditation.

ध्येय पदार्थ में एकाग्रचित होकर जिस किसी पदार्थ को ध्यावता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होता है उस समय उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

अब आत्मा शब्द कहते हैं। अतः धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में वर्तता है और सब गमनरूप अर्थ के धारक धातु ज्ञान अर्थ के धारक हैं इस वचन से यहाँ पर गमन शब्द करके ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान, सुख आदि गुणों में पूर्णरूप से वर्तता है वह आत्मा है। अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन वचन, काय के व्यापार हैं उन करके

यथासम्भव तीव्र मन्द आदि रूप से जो पूर्ण रूप से वर्तता है वह आत्म कहलाता है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों करके जो पूर्ण वर्तता है उसको आत्मा कहते हैं।

अकेला व्यवहार चारित्र वृथा

(कुज्ञानी के केवल व्रत तप संयमशील वृथा)

वयतवसंजमुसीलु जिय ए सव्वे अकइच्छु।

जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु।।(31) योग.

पद्य : व्रत तप संयमशील तब तक हे ! जीव होते व्यर्थ।

जब तक न जानते व न भाते एक परम शुद्ध आत्म तत्त्व।।

समीक्षा : व्रत तप संयम सभी करणीय आत्म उपलब्धि हेतु।

अन्यथा व्रतादि होते हैं व्यर्थ वे होते संसार के हेतु।।

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व भोगोपभोग निमित्त।

जब होते हैं व्रत तप संयम तब वे होते हैं व्यर्थ।।

भावनिर्जरा का स्वरूप

दव्वे उवभुंजंते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।

तं सुहदुक्खमुदिणं, वेददि अहणिज्जरं जादि।।(194) समयसार

जब जीव उदयागत द्रव्यकर्म का उपभोग करता है तब नियम से सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हुए उस सुख दुःख का सिर्फ वेदन करता है, किन्तु तन्मय नहीं होता है इसलिए वह निर्जरा को प्राप्त होता है।

ज्ञान की सामर्थ्य

जस विसमुवभुज्जंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।

पोग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी।।(195)

जिस प्रकार वैद्य विष का उपभोग करता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि पुद्गल कर्म के उदय का उपभोग करता है तो भी बंध को प्राप्त नहीं होता।

वैराग्य की सामर्थ्य

जह मज्जं पिवमाणो, अरदिभावेण मज्जदि णु पुरिसो।

दव्वुवभोगे अरदो, णाणी विण बज्जदि तहेव।।(196)

जिस प्रकार अरतिभाव से प्रीति के बिना ही मदिरा को पीने वाला पुरुष मत्त नहीं होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्म के उपभोग में रत नहीं होने वाला पुरुष ज्ञानी बंध को प्राप्त नहीं होता है। कोई पुरुष विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करने वाला है। जैसे किसी मनुष्य के कार्य करने की चेष्टा तो है अर्थात् प्रकरण संबंधी समस्त कार्य करता है परन्तु वह प्रकरण का स्वामी है ऐसा नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूप से निज और पर को इस प्रकार जानता
उदयविवागो विविहो, कम्माणं वणिणओ जिणवरोहिं।

ण दु तो मज्जं सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को।।(198)

कर्मों के जो विविध प्रकार के उदयरस जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायक भाव रूप है।

सम्यग्दृष्टि जीव विशेष रूप से निज और पर को उदय इस प्रकार जानता
पुगलकम्मं रागो, तस्स विवागोदओ हवदि एसो।

ण दु एस मज्जं भावो, जाणगभावो हु अहमिक्को।।(199)

राग नाम का पुद्गल कर्म है। यह रागभाव उसी के विपाक का उदय है। यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायकभावरूप हूँ।

एवं सम्मद्दिट्ठी, अप्पाणं मुणदि जाणयसहावां।

उदयं कम्मविवागं, य मुअदि तच्चं वियाणंतो।।(200)

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्व को-वस्तु के यथार्थ को जानता हुआ उदयागत रागादिभाव को कर्म का विपाक जानकर छोड़ता है।

परमाणुमित्तयं पि हु, रायादीणं तु विज्जदे जस्स।

ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।(201)

अप्याणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।

कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो।।(202) जुग्मं

निश्चय से जिस जीव के रागादि का परमाणु मात्र भी-लेशमात्र भी विद्यमान है वह सर्वांगम का धारी होकर भी आत्मा को नहीं जानता है। और जो आत्मा को नहीं जानता है वह आत्मा से भिन्न परपदार्थ को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव अजीव दोनों को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

आदम्हि दव्वभावे, अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।

थिरमेगमिमं भावं, उवलब्भंतं सहावेण।।(203)

आत्मा में पर निमित्त से हुए अपदरूप द्रव्यभावरूप सभी भावों को छोड़कर निश्चित स्थिर एक तथा स्वभाव द्वारा उपलभ्यमान इस चैतन्यमात्र भाव को तू ग्रहण कर। ज्ञान सामान्य रूप से एकप्रकार का ही है। इसमें जो भेद हैं वे क्षयोपशम निमित्त से हैं:-

पाँच चारित्र

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति
चारित्रम्।। (18)

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

संयम का लक्षण-

वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।

धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ।। (465)

अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य), अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालना, क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इन्द्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पाँच भेद हैं।

संयम की उत्पत्ति का कारण-

बादरसंजलणुदये, सुहुमुदये समखये य मोहस्स।

संजमभावो णियमा, होदि ति जिणेहिं णिद्धिं।। (466)

बादर संज्वलन के उदय से अथवा सूक्ष्म लोभ के उदय से और मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से नियम से संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

बादरसंजलणुदये, बादरसंजमतियं खु परिहारो।

पमदिदरे सुहुमुदये, सुहुमो संजमगुणो होदि।। (467)

जो संयम के विरोध नहीं है ऐसे बादर संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि ये तीन संयम-चारित्र होते हैं। इनमें से परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्त में ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरण पर्यंत होते हैं। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त संज्वलन लोभ के उदय से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है।

जहखादसंजमो पुण, उवसमदो होदि मोहणीयस्स।

खयदो वि य सो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिहिट्ठं।। (468)

यथाख्यात संयम नियम से मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तदियकसायुदयेण य, विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।

विदियकसायुदयेण य, असंजमो होदि णियमेण।। (469)

तीसरी प्रत्याख्यानवरण कषाय के उदय से विरताविरत=देशविरत=मिश्रविरत-संयमासंयम नाम का पाँचवाँ गुणस्थान होता है और दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से असंयम (संयम का अभाव) होता है।

सामायिक संयम का निरूपण-

संगहिद सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।

जीवो समुव्वहंतो, सामाइयसंजमो होदि।। (470)

व्रतधारण आदिक पाँच प्रकार के संयम में संग्रह नय की अपेक्षा से एकमय भेद रहित होकर अर्थात् अभेद रूप से “मैं सर्व सावद्य का त्यागी हूँ” इस तरह से जो सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करना इनको सामायिक संयम कहते हैं। वह संयम अनुपम है तथा दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। इसके पालन करनेवाले को सामायिक संयमी कहते हैं।

छेदोपस्थापना संयम का निरूपण-

छेत्तूण य परियायं, पोरणं जो ठवेइ अप्पाणं।

पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्टावगो जीवो।। (471)

प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करनेरूप सावद्य पर्याय होता है उसका प्रायश्चितविधि के अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्मा को व्रतधारणादिक पाँच प्रकार के संयमरूप धर्म में स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापन संयमी कहते हैं।

परिहारविशुद्धि संयम का निरूपण-

पंचसमिदो तिगुत्तो, परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं।

पंचेक्कजमो पुरिसो, परिहारयसंजदो सो हु।। (472)

पाँच प्रकार के संयमियों में से सामान्य-अभेदरूप से अथवा विशेष-भेदरूप से सर्व-सावद्य सर्वथा परित्याग करनेवाला जो जीव पाँच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर उनसे युक्त रहकर सदा सावद्य को त्याग करता है उस पुरुष को परिहारविशुद्धिसंयमी कहते हैं। अर्थात् जो इस तरह से सावद्य से सदा दूर रहता है वह जीव पाँच प्रकार के संयमियों में तीसरे परिहारविशुद्धिसंयम का धारक माना जाता है।

तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।

पच्चक्खाणं पढिदो, संझूणदुगाउयविहारो।। (473)

जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुनः दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व तक अध्ययन करनेवाले जीव के यह संयम होता है। इस संयमवाला जीव तीन संध्याकालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस पर्यन्त गमन करता है, रात्रि को गमन नहीं करता। और इसके वर्षाकाल में गमन करने का या न करने का कोई नियम नहीं है।

सूक्ष्मसाम्पराय संयमवाले का स्वरूप

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।

सो सुहुमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि।। (474)

जिस उपशमश्रेणी वाले अथवा क्षपकश्रेणीवाले जीव के अणुमात्र लोभ-सूक्ष्मकृष्टि

को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है, उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्रवाले जीव के परिणामों से कुछ ही कम होते हैं, क्योंकि यह संयम दशवें गुणस्थान में होता है और यथाख्यात संयम ग्यारहवें से शुरू होता है।

यथाख्यात संयम का स्वरूप-

उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।

छदुमट्ठो व जिणो वा, जहखादो संजदो सोदु।। (475)

अशुभरूप मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के, और सर्वथा क्षीण हो जाने से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के तथा तेरहवें चौदहवें गुणस्थानावले जीवों के यथाख्यात संयम होता है।

रागादी परिहरणं चरणं-तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादि परिहारश्चरित्रं।

रागादी परिहरणं चरणं और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक्चारित्र कहलाता है। हाँ, भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है और उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चयसम्यग्ज्ञान है और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिरूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक् चारित्र है, इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग है। हे भव्य! नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव द्रव्यसंग्रह में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार बताते हैं:-

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।

ववहार णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा।। (39)

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण मानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उनको मोक्ष का कारण मानो।

रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय से रत्नत्रय रूप परिणति आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्वयं आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग किस प्रकार का होता है? इसका प्रति उत्तर देते हुए आचार्य श्री ने कहा है-

रयणत्तयं ण वडुइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवि यम्हि।

तम्हा तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।। (40)

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

कुन्दकुन्दस्वामी भी यह भेदा-भेदात्माक निश्चय-व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं:-

दंसण णाण चरित्ताणी सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।

ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।। (5)

साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य-सदा ही इनकी उपासना करनी चाहिए, अपने उपयोग में लाना चाहिए, किंतु शुद्ध निश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्मस्वरूप हैं, उससे भिन्न नहीं है ऐसा समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों होते हैं।

णिज्जावगो ये णाणं वादो ज्ञाणं चरित्तं णावा हि।

भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णवायेण।। (900)

खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है, और नौका चारित्र है। इनके संयोग से ही भव्य जीव भवसागर से तिर जाते हैं।

णाणं पयासओ तओ सोधयो संजयो य गुत्तियरो।

तिण्हंपि य संपजोगे होदि हु जिण सासणे मोक्खे।। (901)

ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम रक्षक है इन तीनों के संयोग से ही अर्थात् मिलने पर ही जिनशासन में मोक्ष प्राप्ति होती है।

तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खावंति मोहं।

संखीण छुदरागा दोसा उत्तमा सिद्धिगदिं पयांति।। (903)

धीर मुनि तप से पाप नष्ट करते हैं, अध्यात्म योग से मोह का क्षय करते हैं अतः वे उत्तम पुरुष मोह रहित और राग-द्वेष रहित होते हुए सिद्ध गति प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्यज।

क्षमार्ज्वदयातोषं सत्यं पियूषवद् भज।। (2) अष्टावक्रगीता

हे प्रिय! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।

एको विशुद्ध बोधव्योऽहमिति निश्चयवह्निना।

प्रज्वालयाज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव।। सूत्र 9

मैं एक विशुद्ध बोध हूँ, ऐसी निश्चयरूपी अग्नि से गहन अज्ञान को जलाकर तू शोकरहित हुआ सुखी हो।

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।

अगाधबुद्धिरब्धो भव चिन्मात्रवासनः।। (17)

“तू निरपेक्ष है, निर्विकार है, स्वनिर्भर है, शान्ति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है। अतः चैतन्य मात्र में निष्ठा वाला हो।”

समदुःखसुखपूर्ण आशानैराश्ययौः समः।

समजीवित मृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज।। (4)

दुःख और सुख जिसके लिए समान है, जो पूर्ण है, जो आशा और निराशा में समान है, जीवन और मृत्यु में समान है, ऐसा होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।

सारस्वरूप से हे आत्मन्! संसारिक सुख-दुःख, मान-अपमानादि तेरा शुद्ध स्वरूप नहीं होने के कारण इससे प्रभावित होने पर दुःखदायी कर्म संचय होते हैं। तथा आत्मज्ञान, आत्मध्यान, समता, आत्म-लीनता, क्षमादि भाव तेरा शुद्ध स्वरूप होने से इससे कर्म नष्ट होते हैं, जिससे अक्षय सुख शान्ति मिलती है।

णाणं दोसे णासिदि णरस्य इंदियकसायविजयेण।

आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स।। (1331) भ.आ.

जैसे सत्वशालिका आयु को हरने वाला शस्त्र शत्रु को नष्ट करता है वैसे ही इन्द्रिय और कषाय को जीतने से ज्ञान मनुष्य के दोषों को नष्ट करता है।

णाणांपि कुणदि दोसे णरस्य इंदियकसायदोसेण।

आहारो वि हु णाणो णरस्य विससंदुदो हरदि।। (1332)

इन्द्रिय और कषायरूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी मनुष्य में दोष उत्पन्न करता है। दूसरे के संसर्ग से उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है। जैसे आहार प्राण धारण में निमित्त है किन्तु विष से मिला आहार प्राणों का घातक होता है।

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण।

बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जधाहारो।। (1333)

और इन्द्रिय कषायों को जीतने से ज्ञान पुरुष में गुण उत्पन्न करता है। जैसे विष से रहित आहार बल, रूप, तेज और आयु को बढ़ाता है।

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण।

अप्पवधाए सत्यं होदि हु कापुरिसहत्थ गयं।। (1334)

इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी पुरुष के गुणों को नष्ट करता है। जैसे कायर पुरुष के हाथ में गया शस्त्र उसके ही वध में निमित्त होता है।

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जादि इंदिसकसायदोसेण।

णरमाऊधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिभवन्ति।। (1335)

इन्द्रिय और कषायों के दोष से अच्छी प्रकार से बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता भी, विद्वान् भी अपमान का पात्र होता है। जैसे शस्त्र हाथ में होते हुए भी मरे मनुष्यों को गिद्ध खा जाते हैं।

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि।

पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छामाणो।। (1336)

इन्द्रिय और कषाय के वश में हुआ बहुश्रुत विद्वान भी चारित्र में उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड़ सकता।

णस्सदि सगं बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं।

विससम्मिसिददुद्धं णस्सादि जध सक्कराकढिद।। (1337)

इन्द्रिय कषाय के योग से बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे शक्कर के साथ कढ़ा हुआ दूध विष के मिलने से नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभाव को छोड़ देता है। यहाँ शक्कर के साथ कढ़ाया हुआ कहने से मिठास के कारण दूध की सातिशयता बतलायी है। ऐसा दूध भी विष के मेल से हानिकारक होता है।

इंद्रियकसायदोसमलिणं णाणं वट्टदि हिदे से।

वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं।। (1338)

जिसका ज्ञान होता है उसी का उपकारी होता है। यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु इंद्रिय कषाय से मलिन ज्ञान; जिसका होता है, उसका उपकार नहीं करता दूसरों का उपकार करता है। जैसे गधे पर लदा चंदन दूसरों का उपकार करता है।

इंद्रियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासादि ण णाणं।

रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलिदो।। (1339)

इंद्रिय और कषायों का निग्रह करने में जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् इंद्रिय और कषाय से प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूप का प्रकाशक नहीं होता। जैसे जिसने आँखे मूँदी है उसके लिए तीव्रता से जलता हुआ दीपक पदार्थ का प्रकाश नहीं करता।

इंद्रियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण।

आवहदि को वि विसए सठणो वादसंगेणेव।। (1340)

जिसका परिणाम इंद्रिय और कषाय से मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओं के द्वारा अपने भोग के लिए विषयों को ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोंच से अपने शिकार को ग्रहण करता है।

घोडगलिंड समाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।

बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स।। (1341)

जैसे घोड़े की लीद ऊपर से चिकनी और भीतर से खुरदरी होती है वैसे ही किसी का बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते। उसे घोड़े की लीद के समान कहा है। जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं है, उसकी बाह्य क्रिया क्या करेगी? अर्थात् इंद्रिय और कषाय रूप अशुभ परिणाम के द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है। वह तो नदी के तट पर निश्चल बैठे हुए बगुले की तरह है।

बाहिरकरणं विसुद्धी अब्भंतरकरणसोधणत्थाए।

ण हु कुंडयस्य सोधी सक्कसतुसस्स कादुं जे।। (1342)

अभ्यन्तर क्रिया विनय आदि की शुद्धि के लिए बाह्य क्रिया की विशुद्धि कही है।

शीघ्र ही बहुत से कर्मों की निर्जरा में समर्थ अभ्यन्तर तपों की वृद्धि के लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते हैं इसलिए उनका बाह्य नामक सार्थक है। जो जिसके लिए होता है वह प्रधान होता है। इसलिए अभ्यन्तर तप की प्रधानता है। वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणाम रूप होता है। उनके बिना बाह्य तप निर्जरा में समर्थ नहीं होता है। कहा भी है 'भगवान्! आपने आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त कठोर बाह्य तप किया।' ठीक ही है, क्योंकि छिलके के रहते हुए धान्य की अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है।

अभ्यन्तरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं।

अभ्यन्तरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं।। (1343)

नियम से अभ्यन्तर शुद्धि के होने से ही बाह्य शुद्धि होती है। इन्द्रिय कषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोष से ही मनुष्य वचन और काय सम्बन्धी बाह्य दोषों को दूर करता है।

लिंगं च होदि अभ्यन्तस्स सोधीए बाहिरा साधी।

भिउडीकरणं लिंगं जह अंतोजाद कोधस्स।। (1344)

अनशन आदि तप विषयक बाह्य शुद्धि अभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि का चिन्ह है। जैसे क्रोध उत्पन्न होने का चिन्ह भ्रुकुटी चढ़ाना होता है इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर की अग्नि और धूम की तरह परस्पर में अविनाभाविता है। जैसे आग के होने पर ही धूम होता है। अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसी को अविनाभाविता कहते हैं। धूम लिंग है आग लिंगी है। इसी प्रकार बाह्य कार्य के साथ अभ्यन्तर कारण का लिंग लिंगी का भाव सम्बन्ध जानना। संक्षिप्ततः हे आत्मन्! संसार दुःख के कारणभूत कर्मास्रव एवं बंध जीव के वैभाविक योग तथा उपयोग से होता है। अतः दुःख क्षय के लिए संवर, निर्जरा, मोक्ष के कारण भूत, वैभाविक योग (विषय, कषाय) त्याग करना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

पुगलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो।। (216) गो.जी.

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।

पडिसमयं सव्वंग तत्तायसपिंडओव्व जलं।। (3) गो.क.

यह जीव औदारिक आदि शरीरनाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्मवर्गणाओं को, तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियिक (3) आहारक (4) तैजस रूप होने वाली नोकर्म वर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ सम्बद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

यह जीव कर्म तथा नोकर्म रूप होने वाले कितने पुद्गल परमाणुओं को प्रतिसमय ग्रहण करता है, सो बताते हैं,

सिद्धाणांतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।

समयपबद्धं बंधदि जोगवसादोदु विसरित्थं।। (4)

यह आत्मा, सिद्ध जीवराशि के जो कि अनन्तानन्त प्रमाण कही है उसके अनन्तवें भाग और अभव्य जीवराशि जो जघन्ययुक्तानन्त प्रमाण है उससे अनन्तगुणे समयप्रबद्ध को अर्थात् एक समय में बंधने वाले परमाणु समूह को बांधता है; अपने साथ संबद्ध करता है। परन्तु मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप योगों की विशेषता से (कमती बढ़ती होने से) कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है। अर्थात् परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम सकम्प (चलायमान) होते हैं तब कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं। जैसे अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी पर कम।

आस्रव का स्वरूप

सः आस्रवः।(2) त.सूत्र

This yoga is the channel of Asrava or inflow of karmic matter in to the soul.

वही आस्रव है।

काययोग, वचनयोग एवं मनोयोग से आस्रव होने के कारण इन योगों को ही

आस्रव कहा है। कर्म परमाणु का योग के द्वारा आकर्षित होकर आने को आस्रव कहते हैं। योग आस्रव होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर योग को ही आस्रव कहा है। जैसे अन्न प्राण नहीं है तो भी प्राण की स्थिति में अन्न कारण होने से अन्न को ही प्राण कह देते हैं।

जैसे-नौका में छिद्र होने पर छिद्र से पानी नौका में प्रवेश कर लेता है उसी प्रकार मन, वचन, काय के परिस्पन्दन रूप छिद्र से कर्म का आगमन होता है, उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं। (1) द्रव्य आस्रव (2) भाव आस्रव। द्रव्य संग्रह में द्रव्य आस्रव एवं भाव आस्रव का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

(1) भाव आस्रव-

आस्रवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।

भावास्रवो जिणुत्तो कम्मास्रवणं परो होदि॥ (29)

जिस परिणाम से आत्मा में कर्म का आस्रव होता है उसको श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए। और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का जो आस्रव है सो द्रव्यास्रव है।

(2) द्रव्य आस्रव-

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समास्रवदि।

द्व्वास्रवो ण णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो॥ (31)

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेदों सहित है, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

योग के निमित्त से आस्रव का भेद

शुभः पुण्यास्याशुभः पापस्य। (3)

Asrava is of 2 kinds: शुभ or good which is the inlet of virtue or meritorious karmas अशुभ or bad which is the inlet of vice or demeritorious karmas.

शुभयोग पुण्य का और अशुभयोग पाप का आस्रव है।

शुभयोग पुण्य और अशुभ योग पापास्रव का कारण है। हिंसा, असत्य भाषण, वध आदि की चिन्ता रूप अपध्यान अशुभ योग है। हिंसा, दूसरे की बिना दी हुई वस्तु

का ग्रहण (चोरी), मैथुन-प्रयोग आदि अशुभ काययोग है। असत्य भाषण, कठोर मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। हिंसक परिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है।

अशुभ योग से भिन्न अनन्त विकल्प वाला शुभ योग है। जैसे-अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ-काययोग है। अर्हन्त भक्ति, तप की रूचि-श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। सत्य, हित-मित वचन बोलना शुभ वाग्योग है।

शुभ परिणाम-पूर्वक होने वाला योग शुभयोग है और अशुभ परिणामों से होने वाला योग अशुभ योग कहलाता है। “पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। कर्मणः स्वातन्त्र्य विवक्षाया पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्। पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् तत्सद्वेद्यादि।”

(तत्त्वार्थवार्तिके)

जो आत्मा को पवित्र करे या जिससे आत्मा पवित्र किया जाता है, वह पुण्य कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुखसाता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि कर्म पुण्य हैं। स्वतन्त्र विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करता है, प्रसन्न करता है वह पुण्य है एवं कर्तृवाच्य से निष्पन्न पुण्य शब्द है। पारतन्त्र्य विवक्षा में करण साधन से पुण्य शब्द निष्पन्न होता है, जैसे जिसके द्वारा आत्मा पवित्र एवं प्रसन्न किया जाता है, वह पुण्य है। “तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम्। तस्य पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्मामच्छुभपरिणामादिति पापभिधानम्। तदसद्वेद्यादि।”

(तत्त्वार्थवार्तिके)

पुण्य का प्रतिद्वंद्वी (विपरीत) पाप है। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है, वह असाता वेदनीय आदि पापकर्म है।

प्रश्न-जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी दोनों ही का अविशेषता से तुल्य (समान) फल है प्राणी को परतन्त्र करना, वैसे ही पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा को परतन्त्र करने में निमित्त कारण है। इन पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, यह पुण्य (शुभ) है, यह अशुभ है, पाप है, यह तो केवल संकल्प मात्र भेद है। उत्तर-पुण्य-पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा

की परतन्त्रता में कारण है तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल के निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रिय विषय आदि का निवर्तक (हेतु) है, पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रियों के विषय आदि का कारण वह पाप है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पापकर्म में भेद है। इनमें शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग पापास्रव का कारण है। कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है-

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहोअसुहो।

सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।। (9)

जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है, तब जपा कुसुम या तमालपुष्प के लाल या काले रंग-रूप परिणत स्फटिक की भाँति परिणाम स्वभाव होता हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है और जब यह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता है शुद्ध होता है तब शुद्ध अराग वीतराग स्फटिक की भाँति परिणाम स्वभाव होता हुआ शुद्ध होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है।) इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव, कूटस्थ नहीं है।

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।

उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। (69)

देव, यति और गुरु की पूजा में तथा दान में तथा सुशील में और उपवासादिकों में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचय जादि।

असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।। (156)

उपयोग यदि शुभ हो तो जीव पुण्य संचय को प्राप्त होता है और यदि अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उन दोनों के अभाव में संचय नहीं होता।

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहोतस्स।। (157)

जो अर्हन्तों, सिद्धों तथा अनगारों को जानता है और श्रद्धा करता है, और जीवों के प्रति अनुकम्पा युक्त है, उसका वह उपयोग शुभ है।

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चितदुदुगोद्विदो।

उगो उम्मगपरो उवओगो जस्स सो असुहो।। (158)

जिसका उपयोग विषय कषाय में अवगाढ़ (मग्न) है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, कषायों की तीव्रता में अथवा पापों में उद्यत है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है, उसका वह उपयोग अशुभ है।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः। (4)

Souls affected with the passions have साम्परायिक or mudane inflow, i.e. inflow of karmic matter which causes the cycle of births and rebirths. Those without the passions have ईर्यापथ transient or fleeting inflow.

कषाय सहित और कषाय रहित आत्मा का योग क्रम से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म के आस्रव रूप हैं।

सामान्य रूप से आस्रव एक प्रकार होते हुए भी स्वामी एवं कारणों के भेद से आस्रवों के भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यहाँ पर मुख्यतः स्वामियों की अपेक्षा दो भेद किया गया है-(1) कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव (2) कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव है।

जो आत्मा को कसे, दुःख दे, वह कषाय है। क्रोधादि परिणाम कषाय हैं क्योंकि ये क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति में ले जाने के कारण होने से आत्मा को कसते हैं, आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं।

अथवा कषायले पदार्थ के समान कर्मरज के संश्लेषण में कारण होने से क्रोधादि परिणाम कषाय हैं। जैसे वटवृक्ष आदि का चेप चिपकाने में कारण होता है, वैसे ही आत्मा के क्रोधादि परिणाम भी कर्मबंधन के कारण होने से कषाय कहे जाते हैं। जो जीव कषाय सहित है, वह सकषाय है और जो कषाय रहित जीव है वह अकषाय कहलाता है। सकषाय और अकषाय परिणामों को सकषाया कषाय परिणाम कहते हैं।

चारों तरफ से आत्मा का पराभव करने वाला सम्पराय है। कर्मों के द्वारा चारों

ओर से आत्मा का (आत्मा के स्वरूप का) अभिभव-पराभव, तिरस्कार होना सम्पराय कहलाता है। सम्पराय (संसार) जिसका प्रयोजन है, वह साम्परायिक है।

ईर्या जिसका द्वार है वह ईर्यापथ है। ईर्या (योग) है पन्था (द्वार) जिसका वह ईर्यापथ कहलाता है, अर्थात् जो कर्म मात्र योग से ही आते हैं, आना मात्र ही जिनका कार्य है, वे ईर्यापथास्रव कहलाते हैं। सकषाय आत्मा के साम्परायिक कर्मों का आस्रव होता है और अकषाय आत्मा के ईर्यापथ आस्रव होता है, ऐसा यथासंख्या लगाना चाहिये। जैसे-साम्पराय कषाय का वाची है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से आर्द्र परिणाम वाले जीवों के योग के द्वारा आये हुए कर्म भाव से उपश्लिष्टमाण वर्णाणाँ गीले चमड़े पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती हैं, उनमें स्थिति बंध हो जाता है, वह साम्परायिक आस्रव कहलाता है। उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली के योग क्रिया से आये हुए कर्म कषाय का चपन होने से (कषाय के अभाव में बंध का अभाव होने से) सूखी दीवाल पर पड़ी हुई धूलि के समान द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बंध स्थान को प्राप्त नहीं होते हैं। यह ईर्यापथ आस्रव है।

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः। (5)

पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के इन्द्रिय कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद है जो क्रम से पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय क्रोध आदि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और 25 सम्यक्त्व क्रिया आदि से साम्परायिक आस्रव होता है। द्रव्य संग्रह में आस्रव का वर्णन प्रकारान्तर से निम्न प्रकार भी पाया जाता है-

मिच्छात्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।

पण-पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।। (30)

अब प्रथम जो भावास्रव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि कषाय ऐसे पाँच भेद जानने चाहिये, और मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाँच पन्द्रह, तीन और चार भेद समझने चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्व के पाँच भेद, अविरति के

पाँच भेद, प्रमाद के पन्द्रह भेद, योग के तीन भेद और क्रोध आदि कषायों के चार भेद जानने चाहिये।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः। (6)

The differences in flow in different souls caused by the same activity arise from differences in the following:

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य विशेष के भेद से आस्रव की विशेषता होती है।

योग प्रत्येक संसारी जीव के होता है। योग होने पर भी सम्पूर्ण जीवों के आस्रव समान नहीं होता है। क्योंकि जीवों के परिणामों के अनंत भेद हैं। कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है-

“गाणाजीव गाणाकम्म गाणाविह हवे लब्धि”

अर्थात् संसार में अनेक जीव (अनंत) हैं उनके कर्म (अनंत कर्म) हैं। इसलिए उनकी लब्धियाँ भी नाना (अनंत) प्रकार की हैं। इसलिए उनके योग, उपयोग विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसके अनुसार कर्म और बंध भी अनेक प्रकार के होते हैं।

(1) तीव्र भाव-अति प्रवृद्ध क्रोध, मान, माया और लोभादि के कारण परिणामों की तीव्रता को तीव्र कहते हैं वा बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से कषायों की उदीरणा होने पर अत्यन्त सक्लिष्ट भाव होते हैं, अत्यन्त उग्र परिणाम होते हैं, उन परिणामों को तीव्र कहते हैं।

(2) मन्द भाव-तीव्र से विपरीत परिणाम मन्द होते हैं। बाह्य आभ्यन्तर कारणों से कषायों की अनुदीरणा के कारण से उत्पद्यमान अनुद्रिक परिणाम मन्द होने से मन्द कहलाते हैं। अर्थात् कषायों की उदीरणा में परिणाम तीव्र होते हैं और कषाय की अनुदीरणा में परिणाम मन्द होते हैं।

(3) ज्ञात भाव-ज्ञात मात्र वा जानकर के प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मारने के परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर 'मैंने मारा' यह जान लेना ज्ञात है अथवा 'यह प्राणी मारने योग्य है' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है।

(4) **अज्ञात भाव**-मद या प्रमाद से गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जैसे-सुरापान करने वाले की इन्द्रियाँ विकल हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों को मोहित करने वाले परिणाम मद कहलाते हैं। उस मद से तथा कुशल (आत्म हितकारक) क्रियाओं के प्रति अनादर भाव रूप प्रमाद के कारण गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव कहलाता है।

(5) **अधिकरण भाव**-जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं वह अधिकरण है। आत्मा के प्रयोजन को अर्थ कहते हैं। जहाँ-जहाँ जिसमें प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं, प्रस्तुत किये जाते हैं वह अधिकरण है, द्रव्य है। अर्थात् क्रिया का आधारभूत द्रव्य अधिकरण है।

(6) **वीर्य भाव**-द्रव्य का स्वसामर्थ्य वीर्य है। द्रव्य की शक्ति विशेष वा सामर्थ्य विशेष को वीर्य कहते हैं।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः। (7)

The dependence relates to the souls and the non souls.

अधिकरण जीव और अजीव रूप है।

जीव और अजीव ये जो आस्रव के अधिकरण और आधार हैं। यद्यपि सम्पूर्ण आस्रव जीव के ही होता है तथापि आस्रव के निमित्त जीव और अजीव दोनों के होते हैं। क्योंकि हिंसा आदि के उपकरण रूप से जीव और अजीव ही अधिकरण होते हैं। ये दोनों अधिकरण दस प्रकार के हैं-विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और छोटे रूप से प्रयुक्त मन-वचन और काय।

जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत-

कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः। (8)

पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से 3 प्रकार का योगों के भेद से तीन प्रकार का कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषायों के भेद से चार प्रकार का होता हुआ परस्पर मिलने से 108 प्रकार का है।

इस सूत्र में जीव के निमित्त से होने वाले आस्रव के भेद का वर्णन किया गया है। उस आस्रव के भेद 108 प्रकार के हैं। 108 प्रकार के आस्रव के प्रायश्चित्त स्वरूप या उसको दूर करने के लिए माला में 108 मणियाँ होती हैं। संरम्भ आदि का वर्णन निम्न प्रकार है-

(1) संरम्भ-प्रयत्न विशेष को संरम्भ कहते हैं। प्रमादी पुरुष का प्राणघात आदि के लिए प्रयत्न करने का संकल्प संरम्भ है।

(2) समारम्भ-हिंसादि साधनों को एकत्र करना समारम्भ है। साध्य क्रिया के साधनों को इकट्ठा करना समारम्भ है।

(3) आरम्भ-तत्त्व का कथन करने से सर्व ही (ये तीनों शब्द) भाव साधन हैं। अर्थात् संरम्भण संरम्भ, समारम्भण समारम्भ और आरम्भण आरम्भ हैं।

(4 से 6) मन, वचन, काय योग-‘कायवाङ्मनस्कर्मयोगः’ इस सूत्र में योग शब्द का व्याख्यान कर चुके हैं।

(7) कृत-कृत वचन स्वातंत्र्य प्रतिपत्ति के लिए हैं। स्वतंत्र रूप से जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कृत है।

(8) कारित-पर प्रयोग की अपेक्षा कारित का अभिधान है। जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है, वह कारित कहलाता है।

(9) अनुमोदना-अनुमत शब्द से प्रयोजक के मानसिक परिणामों की स्वीकृति दर्शायी गई है। अर्थात् करने वाले के मानस परिणामों की स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जाने वाले कार्य का यदि निषेध नहीं करता है तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी प्रकार कराने वाला प्रयोक्ता होने से और उन परिणामों का समर्थक होने से अनुमोदक है।

(10 से 13) क्रोध, मान, माया और लोभ विशेष-क्रोधादि कषायों का लक्षण कह चुके हैं कि जो आत्मा को कसती हैं, दुःख देती है, वे कषाय हैं।

अर्थ का अर्थान्तर से जाना जाना विशेष है। विशेष किया जाता है वा विशेष करना, वह विशेष है अथवा विशिष्ट को विशेष कहते हैं।

विशेष का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिये। वह विशेष शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। जैसे-संरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष, कारितविशेष, अनुमोदितविशेष, योगविशेष और कषायविशेष।

भौतिक विज्ञान से जाना आध्यात्मिक विज्ञान श्रेष्ठ-ज्येष्ठ
पुद्गल की शक्ति से भी जाना स्वात्मशक्ति
(आगम व आधुनिक विज्ञान व अनुभव द्वारा भौतिक शक्ति
से स्वात्मा की अनन्त शक्ति को जाना)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1. पायोजी मैंने.... 2. पाऊले चालती...)

जाना है मैंने स्वात्मा की अनन्तशक्ति !

पुद्गल/(भौतिक) में यदि इतनी शक्तियाँ, तो मुझ में कितनी शक्ति।। (ध्रुव)

आगम से जाना विज्ञान में पढ़ा, प्रायोगिक से करूँ अनुभव।

अणु परमाणुओं वर्गणाओं से जाना, पुद्गल की अनन्त शक्तियाँ।। (1)

आगम से जाना तथाहि विज्ञान में पढ़ा, भौतिक विश्व बना पुद्गल से।

इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन, प्रोटोन से प्लाज्मा, क्वार्क से ले क्वॉन्टम तक से।। (2)

बिगबैंग, ब्लैक होल, सुपर नोबा, गेलेक्सी व डार्क मेटर, डार्क एनर्जी।

जीनोम, D.N.A., R.N.A. सेल्स, न्यूरोन, ब्रेन, शरीर आदि भौतिकी।। (3)

सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी, मोबाइल, T.V., रॉकेट, रोबोट, गाडी, कारखाना।

भोजन, पानी; फल-फूल, औषधि, प्राणवायु, प्रकाश, सर्दी, गर्मी भौतिक नाना।। (4)

पाँचों इन्द्रिय गम्य सभी ही भौतिक, तथाहि यंत्रादि गम्य भौतिक।

स्पर्श रस गन्ध वर्ण भार शब्द बन्ध सूक्ष्म स्थूल संस्थान भेद तम छाया आतापउद्योत।। (5)

शरीर वचन मन प्राणापान सुख दुःख जीवितमरण आदि पुद्गल से उपस्कृत।

द्रव्यभाव नो कर्म या अष्टविधकर्म, सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रह भी पुद्गल।। (6)

सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि से ले मार्गणा गुणस्थान, कषाय लेश्यादि पुद्गल से उपस्कृत।

इससे पुद्गल की शक्ति के साथ-साथ जान रहा हूँ स्वात्मा की शक्ति तक।। (7)

पुद्गल में भले हो अनन्तगुण उससे भी मुझ में होते विशेष गुण गण।

अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्य चेतन अमूर्तत्व, जिससे मैं हूँ पुद्गल से महान्।। (8)

मैं जानता पुद्गल न जानते तथाहि मैं सुखी पुद्गल होते सुख रिक्त भी।

मैं हूँ चेतन, पुद्गल अचेतन, मैं हूँ अमूर्तिक किन्तु पुद्गल मूर्तिक सभी।। (9)

मेरी वैभाविक शक्ति के कारण कर्म वर्गणायेँ बनती द्रव्यकर्म मय।
 अशुभ भाव से पापमय तो शुभभाव से पुण्य व शुद्ध से होते क्षय॥ (10)
 पाप से दुर्गति पुण्य से सुगति जिससे संसार में दुःख-सुख।
 चतुर्गति व चौरासीलक्षयोनियाँ चौदहमार्गणायेँ व अभ्युदय सुख॥ (11)
 तीर्थकर पुण्य कर्म व उसके कारण होते जो अतिशय व पंचाश्रय।
 नवनिधि, चौदहरत्न, समवसरण वैभव से ज्ञात होता पुद्गल के गुण॥ (12)
 पुण्य से देव-मानवों की सत्ता-सम्पत्ति-विभूति/(शक्ति-बुद्धि)-ऋद्धियाँ होती उपलब्धि।
 इसके परे शुद्धभाव से कर्मक्षय से, अनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्यादि उपलब्धि॥ (13)
 इससे मुझे होता ज्ञान मेरी शक्तियाँ, पुद्गल से अधिक श्रेष्ठ-ज्येष्ठ।
 इसलिए तो राजा महाराजा सेठ, चक्री भी त्यागते भौतिक वैभव॥ (14)
 श्रमण बनकर ध्यान-अध्ययन-समता-शान्ति से बढ़ाते आत्मशक्ति।
 जिससे कर्मनाश से अनन्त आत्मवैभव पाते इस हेतु साधनारत 'कनकनन्दी'॥ (15)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-8/1/2020, रात्रि-10.01 व 2.03

(यह कविता श्रमण मुनि सुविज्ञसागर के कारण भी बनी)

केवलज्ञान घटपट आदि जानने योग्य पदार्थों के आश्रय निमित्त से नहीं उत्पन्न होता है इसलिए वह जैसे ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से नहीं होता है वैसे ही श्रुतज्ञानरूप भी नहीं है।

यद्यपि दिव्यध्वनि के समय इस केवलज्ञान के आधार से गणधर देव आदि को श्रुतज्ञान होता है तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेवादि को ही होता है, केवली अरहंतों के नहीं होता है। केवली भगवान् के ज्ञान में किसी संबंध के ज्ञान व किसी में अज्ञान नहीं होता है किंतु सर्वज्ञों का बिना क्रम से ज्ञान होता है अथवा मतिज्ञान आदि भेदों से नाना प्रकार का ज्ञान नहीं है किंतु एक मात्र शुद्ध ज्ञान ही है। यहाँ जो मतिज्ञान आदि के भेद से पाँच ज्ञान कहे गए हैं, वे सब व्यवहारनय से हैं। निश्चय से अखंड एक ज्ञान के प्रकाश रूप ही आत्मा है जैसे मेघादि रहित सूर्य होता है, यह तात्पर्य है।

तर्क शास्त्र/न्याय शास्त्र के अनुसार मतिज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा गया है परंतु आगम की दृष्टि से यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इसलिए लोक व्यवहार चलाने के लिए इसे सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

आगम की दृष्टि से अवधि ज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान देश प्रत्यक्ष होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। जैसे-अपवाद रूप से परोक्ष मतिज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा गया है, वैसे ही निज आत्मा के सम्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष कहलाता है और यदि एकांत से मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष ही माना जावे तो सुख-दुःख आदि का संवेदन, अनुभूति, ज्ञान है, वह भी परोक्ष ही होगा और वह संवेदन परोक्ष नहीं है इसलिए कथंचित् मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष है।

अशुद्ध एवं शुद्ध जीव के उपयोग:-

अट्ट चदु णाण दंसण सामणं जीवलक्खणं भणियं।

ववहारा शुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं।। (6) द्रव्यसं।

According to Vyavahara Naya, the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jnana and four kinds of Darshana. But according to Shuddha Naya (the characteristics of Jiva) are pure Jnana and Darshana.

आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक वह जीव है यह व्यवहारनय से सामान्य जीव का लक्षण है और शुद्धनय से शुद्ध जो ज्ञान, दर्शन है वह जीव का लक्षण कहा गया है।

व्यवहार नय से सामान्यतः जीव का लक्षण-8 ज्ञान एवं 4 दर्शन है। इसका भावार्थ यह है कि किसी विवक्षा के बिना संपूर्ण जीव में उपरोक्त ज्ञान में से कोई न कोई ज्ञान अवश्य रहेगा ही।

शुद्ध निश्चय नय से जीव का लक्षण शुद्ध दर्शन एवं ज्ञानमय है यह कथन “शुद्ध सद्भूत” शब्द से वाच्य कहने योग्य “अनुपचरित सद्भूत” व्यवहार नय है और छद्मस्थ ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से तो अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य “उपचरित सद्भूत” व्यवहार नय है तथा कुमुति, कुश्रुत, विभंग इन तीनों में उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है और शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध अखंड, केवलज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही जीव के लक्षण हैं।

निश्चय से जीव अमूर्त व्यवहार से जीव मूर्त

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट णिच्छया जीवे।

णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।। (7)

According to Nischaya Naya, Jiva is without form; because the five kinds of colour and taste, two kinds of smell, and eight kinds of touch are not present in it. But according to Vyavahara Naya (Jiva) has form through the bandage (of karma.)

निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं है इसलिए जीव अमूर्त है और बंध से व्यवहार की अपेक्षा करके जीव मूर्त है।

विश्व के छह मौलिक द्रव्य में से केवल पुद्गल द्रव्य ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त होने के कारण मूर्तिक है और अन्य सब द्रव्य अमूर्तिक है तथापि संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक है क्योंकि अनादिकाल से संसारी जीव पौद्गलिक कर्म से युक्त होने के कारण व्यवहार नय से मूर्तिक है। देवसेन आचार्य ने आलापपद्धति में कहा भी है-

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः।।

असद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्त स्वभाव है। यदि एकांततः संसारी जीव को भी अमूर्तिक स्वीकार किया जाएगा तो अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्मों को न आकर्षित/आस्रव कर सकता है न बंध कर सकता है। आस्रव एवं बंध से रहित जीव की संसार अवस्था भी नहीं रह सकती। संसार के बिना मोक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि बंधनपूर्वक मोक्ष होता है। संसार का भी अभाव नहीं मान सकते हैं क्योंकि संसार की उपलब्धि प्रत्यक्ष है, क्योंकि संसार के कर्म परतंत्र, राग-द्वेष से युक्त जीव पाए जाते हैं। यदि संसारी जीव भी व्यवहार नय से अमूर्तिक है तो फिर सचित्त एकेन्द्रिय आदि जीव के शरीर में छिन्दभिन्द करने पर उस शरीर में स्थित जीव को कष्ट नहीं होता और द्रव्य हिंसा भी नहीं होती। इसलिए धवला आदि सिद्धांत ग्रंथ में कहा गया है कि “अनादि काल से बंधन में बद्ध रहने के कारण जीव के अमूर्तत्व का अभाव है।”

संसारी जीव पौद्गलिक कर्मोदय से एवं पौद्गलिक बाह्य अस्त्र, औषध, विष,

पानी, अग्नि आदि से भी प्रभावित होता है। यदि संसारी जीव भी अमूर्तिक होता तो उपर्युक्त पौद्गलिक द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण यह है कि क्षुधावेदनीय आदि पौद्गलिक कर्म के उदय से भूख नहीं लगती और योग्य भोजन करने पर भी भूख नहीं मिटती। अमृतचंद्र सूरी ने संसारी जीव को मूर्तिक सिद्ध करते हुए कहा है-

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।

नह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी।।

आत्मा मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाता है, किंतु अमूर्तिक आकाश को मदिरा मदकारिणी नहीं होती है।

“यथा खलु पयः पूरः प्रदेशस्वादाभ्यां

पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रवत्यस्वादुत्व

स्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां

कर्मपरिणमनात्रामूर्त्तत्वनिरूप रागविशुद्धिम् स्वभावमुपलभते।”

जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब, चन्दनादि वनराजिरूप परिणमित होता हुआ द्रव्यत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्त्तत्व और विकाररहित विशुद्ध स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।

जीवाजीवं दव्वं रूवारुवित्ति होदि पत्तेयं।

संसारात्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया।।

संसारी जीव रूपी/मूर्तिक है और कर्मरहित सिद्ध जीव अमूर्तिक है।

कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवदव्वाणं।

च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं।।

कर्म के संबंध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है।

“अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां

मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धः।”

जीव के प्रदेश अनादिकालीन बंधन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं अतः उनका मूर्त शरीर के साथ संबंध होने से कोई विरोध नहीं आता।

परंतु शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध जीव तथा संसारी जीव भी अमूर्तिक है। यदि शुद्ध निश्चय नय से अर्थात् स्वाभाविक दृष्टि से जीव मूर्तिक होता तो सिद्ध अवस्था में भी जीव मूर्तिक ही होता परंतु सिद्ध अवस्था में अमूर्तिक है।

ये सब नय विवक्षा में अनेकांत दृष्टि से ही सिद्ध होता है क्योंकि हर विषय की सिद्धि अनेकांत से होती है एकांत से नहीं। कहा भी है-

बंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं।

तम्हा अमुत्ति भावो णेगंतो होदि जीवस्स।।

बंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उसकी भिन्नता है, इसलिए जीव के अमूर्तिक भाव एकांत से नहीं है।

रूवरसगंधफासा सद्दवियप्पा वि णत्थि जीवस्य।

णो संठाणं किरिया तेण अमुत्तो हवे जीवो।।

जीव में न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है, न शब्द के विकल्प है, न आकार है, न क्रिया है, इस कारण से जीव अमूर्तिक है।

जो हु अमुत्तो भणिओ जीव सहावो जिणेहि परमत्थो।

उवयरियसहावादो अचेयणो मुत्तिसंजुतो।। (120)

जिनेंद्र देव ने जो जीव को अमूर्तिक कहा है वह जीव का परमार्थ स्वभाव है। उपचारित स्वभाव से तो मूर्तिक और अचेतन है।

कर्ता के विभिन्न रूप

पुगलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।। (8)

According to Vyavahara Naya is the dear performer of the Pudgala Karmas. According to Nischaya Naya (Jiva is the dear performer of) Thought Karmas. According to Shuddha Naya (Jiva is the dear) of Shuddha Bhavas.

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्ता है।

इस गाथा में जीव के विभिन्न कर्तृत्वभावों का वर्णन किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से “स्वतंत्र कर्ता” अर्थात् जो कर्म को स्वतंत्र रूप से करता है उसे कर्ता कहते हैं। जीव भी विभिन्न अवस्था में विभिन्न कर्मों का कर्ता बनता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिण्ड रूप नो/ईषत् कर्म है उसका कर्ता है। स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से घट, पट, कुर्सी, टेबल, घर, चटाई, विभिन्न वैज्ञानिक उपकरण, ईंट, मूर्ति आदि का भी जीव कर्ता है। निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय से जीव चेतन कर्म अर्थात् मिथ्यात्व भाव, ईर्ष्या भाव, घृणा, द्वेष, लोभ, काम प्रवृत्ति, अहं प्रवृत्ति का कर्ता है परंतु परम शुद्ध निश्चय नय से जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन, सच्चिदानंद स्वरूप स्वभाव में परिणमन करता है तब अनंत ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय सुखादि भावों का कर्ता होता है। छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से स्वभाव का कर्ता भी होता है परन्तु केवली एवं मुक्त अवस्था में तो शुद्ध निश्चय नय से पूर्णरूप से अनंत ज्ञानादि भावों का कर्ता होता है। वस्तुतः यहाँ जो आध्यात्मिक दृष्टि है उसकी अपेक्षा अशुभ, शुभ, शुद्ध भावों का जो परिणमन है, उसी का कर्तृत्वपना यहाँ पर कहा गया है, न कि हस्तपादादि से जो कार्य किया जाता है उसे यहाँ कर्तापने में स्वीकार किया गया है और एक विशेष आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जो शुद्ध भावों का कर्ता कहा गया है उसका अर्थ यह है कि उन शुद्ध भावों का जीव वेदन करता है न कि उन शुद्ध भावों का निर्माण करता है या बनता है। प्राचीन आचार्यों ने भी जीव के विभिन्न कर्तापने का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। यथा-

जीव परिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमदि।

पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदे।। (18) समयसार

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्मभाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव (कर्म) को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष परम पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थ है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष

उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं।

मंसवसारुहिरादिभावे उदराग्गे संजुत्तो।।

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

कर्म की प्रबल शक्ति

प्रत्येक जीव स्वभावतः प्राकृतिक रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी है। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है तो भी संसार अवस्था में जीव अनन्त दुःख, अज्ञान का अनुभव करता है। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनन्त ज्ञान, सुखादि-गुण तिरोभाव क्यों एवं कैसे हुए? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर आध्यात्मिक योगी कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में दिये हैं-

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।

संसारसमावण्णे णवि जाणदि सव्वदा सव्वं।। (167)

“स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्ण ज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोवच्छिन्नो झम्पितः सन्। संसारसमापन्नः संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु सर्वतः सर्वप्रकारेण।”

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र को जानने वाला, देखने वाला है फिर भी वह अपनी कर्मरूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

"The self who is by nature all-knowing and all-perceiving when Soiled by his own-karmas is dragged on towards samsara the cycle of births and deaths, and becomes incapable of knowing all things completely."

अनन्त शक्ति सम्पन्न जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्ष द्रव्य भी अनन्त

शक्ति सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि कम शक्ति से अधिक शक्ति को पराभूत करना सम्भव नहीं है। इसलिये जीव के उपादान भूत अनन्त गुण को घात करने वाला निमित्तभूत कर्म भी अनन्त शक्ति सम्पन्न है। परमात्मा प्रकाश में योगेन्द्र देव कर्म शक्ति का वर्णन करते हुये बताते हैं-

कम्मई दिह-घण चिक्कणई गरूवई वज्ज समाई।

पाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताई।। (78)

अनन्त ज्ञान वीर्यादि गुणों से युक्त भगवान् आत्मा को कुपथ में पटकने वाला कर्म अत्यन्त बलवान घनस्वरूप, दूसरों के द्वारा (जीव), सहज से नष्ट नहीं होने वाला अत्यन्त चिकने एवं वज्र के समान कठोर एवम् भारी होने से अभेद्य एवं अच्छेद्य है।

आचार्यप्रवर भट्टाकलंकदेव स्वामी संसार का मूलकारण बताते हुए 'राजवार्त्तिक' में बताते हैं कि-

तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्।

वह (कर्म) आत्मा को परतन्त्र करने में मूल कारण है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी कहा है-

मोहने संवृतं ज्ञानं स्वभाव लभते न हि।

मत्तः पुमान्यदार्यानां यथा मदनकोद्रवैः।। (7)

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव मदमत्त होकर हिताहित विवेक से रहित हो जाता है, उसी प्रकार मोह कर्मरूपी मद्य से पराभूत होकर-आच्छादित होकर स्वभाविक अनन्त ज्ञान अपना स्वशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है-ज्ञान नहीं पाता है।

अनादिकाल से अनन्त ज्ञानादि सम्पन्न यह परमात्मा द्रव्य कर्म से पराभूत होकर संसार में दर-दर भिखारी होकर परिभ्रमण कर रहा है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर जीव में अनन्त शक्ति होते हुए भी कर्म परवशतः अनन्त शक्ति, व्यक्ति रूप में नहीं है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण केवल संभावना रूप में, सुप्तावस्था में, जीव में अवस्थित है इसीलिये पर्यायनिष्ठ दृष्टि से देखने एवं विचार करने पर अनादि काल से कर्म की परतंत्रता से संसारी जीव की शक्ति बहुत ही क्षीण है एवं कर्म की शक्ति बहुत

ही दृढ़ है इसलिए जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। संसारावस्था में जीव एवं कर्म का द्वन्द्व युद्ध चलता है।

“कथवि वलिओ जीवो कथवि कम्माइं हुति वलियाइं।

जीवस्स य कम्मस य पुव्वविरूद्धाइं वइराइं।।”

कभी-कभी जीव बलवान हो जाता है और कभी कभी कर्म बलवान हो जाता है। इसी प्रकार जीव एवं कर्म का पूर्वकालीन अनादि से विरूद्ध एवं वैरत्व चल रहा है।

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थ को वा न वांछति।। (31)

कर्म अपने हितरूपी साथी कर्म को ही बाँधता है। जीव अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है। जब कर्म शक्तिशाली होता है तब अपने सहयोगी कर्म को संग्रहीत करके और भी अधिक शक्ति संगठित करके जीव के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डालता है अर्थात् जीव को अपने अधिकार में कर लेता है। जब जीव योग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके शक्ति सम्पन्न होता है तब अपने हित साधन के लिए कर्म के बन्धन को क्षीण एवं विध्वंस करता है। ठीक ही है-अपने-अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर कौन सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता है अर्थात् सभी चाहते हैं।

प्रत्येक जीव अनेक गुण के पिण्डस्वरूप होते हैं। उन उनेक गुणों का घात करने वाले अनेक कर्म होते हैं। प्रत्येक कर्म के बारे में विशेष जानने के लिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड, धवल जयधवल आदि सिद्धान्तशास्त्रों का परिशीलन करना चाहिए। यहाँ पर कुन्दकुन्दाचार्य कृत ‘समयसार’ से प्रस्तुत करता हूँ।

जैसे मैल के विशेष सन्दर्भ में अवच्छिन्न होकर अर्थात् दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष सम्बन्ध से दबकर जीव के मोक्ष का हेतुभूत-सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है, वैसे ही जीव का मोक्ष हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है तथा जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दबकर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्र गुण भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं, उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव हैं जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए है, होने नहीं देते। जैसे आकाश में सूर्य उदित होने पर भी घने बादल के कारण सूर्य रश्मि टुक जाती है उसी प्रकार कर्मरूपी बादल के कारण ज्ञानरूपी रश्मि टुक जाती है। शुद्ध स्फटिक मणि शुभ्र होने पर भी लाल रंग के संयोग से लाल दिखायी देती है, हरे रंग के संयोग से हरी दिखाई देती है उसी प्रकार कर्मयोग से जीव की अवस्था विभिन्न प्रकार की होती है। बद्धमान कर्म जब अपनी प्रचण्ड शक्ति सहित उदय में आता है तब जीव के स्वभाविक गुण, वैभाविक गुण में परिणमन हो जाते हैं, अर्थात् जीव में वैभाविक रूप से जो परिणमन होता है उसका मूलकारण कर्म ही है। कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में जीव के वैभाविक गुण का महत्व बतलाते हुए कहते हैं कि-

सम्मत्तपडिणिबं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहिदं।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठत्ति णादव्वो।। (168)

णाणस्स पडिणिबधं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहिदं।

तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो।। (169)

चरित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।। (170)

"It is declared by Jina that mithyatva karma is adverse to right belief, when that begins to operate, the self becomes a wrong believer, so let it be known. It is declared by Jina that niscience is adverse to right knowledge, when that begins to operate, the self becomes ajnani (one devoid of knowledge); so let it be known. It is declared by jina that kaseaya (soul-soiling-gross emotions) is adverse to right conduct; when his begins to operate, the self becomes-acharitra (devoid of right conduct); so let it be known."

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव है

जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बताया है। द्रव्य दृष्टि से निम्न श्रेणीय लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय, अभव्य निगोदिया जीव से लेकर पूर्ण विकसित शुद्ध-बुद्ध, अनन्त ज्ञान सम्पन्न सिद्ध भगवान् तक सम्पूर्ण जीव एक समान हैं क्योंकि इनमें जातीय अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है। नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बताते हैं कि-“सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया” शुद्ध निश्चय नय से संसारी जीव भी सिद्ध भगवान के समान शुद्ध भाव का धारक है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण जीव में आध्यात्मिक साम्यवाद है। स्वभाव दृष्टि से समान होने पर भी संसारी जीव में जो वैचित्रता दृष्टिगोचर होती है उसका कोई विशिष्ट कारण होना चाहिये। इसका कारण कर्म है। कुन्दकुन्दस्वामी नियमसार में बताते हैं-

“णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।”

अनेक जीव है, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक कर्म के अनुसार अनेक लब्धि हैं।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।

खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं।। (58)

कर्म के बिना जीव को, उदय-उपशम तथा क्षय क्षयोपशम नहीं होते (अर्थात् द्रव्यकर्म के बिना जीव को औदायिकादि चार भाव नहीं होते) इसलिये क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक या औपशमिक भावों को कर्मकृत सम्मत करना। पारिणामिक भाव तो अनादि, अनन्त, निरूपाधि स्वभाविक ही है। क्षायिकभाव, यद्यपि स्वभाव की व्यक्तिरूप (प्रगटरूप) होने से अनन्त (अन्तरहित) है, तथापि कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होने के कारण सादि है, इसलिये कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिक भाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा अनुपशम से नष्ट होने के कारण कर्म-कृत ही है अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार (अवस्थाएँ) द्रव्यकर्म की ही अवस्थाएँ है परिणामस्वरूप एक अवस्था वाले जीव की नहीं है, इसलिये उदयादिक द्वारा उत्पन्न होने वाले आत्मा के भावों को निमित्तमात्रभूत, ऐसी उस प्रकार की अवस्थाओं रूप (द्रव्यकर्म) स्वयं परिणमित होने के कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के भावों के कर्तृत्व को प्राप्त होती है।।

स्वभावतः प्राकृतिक रूप से जीव का स्वरूप अमूर्तिक, अभौतिक एवं ज्ञान

विज्ञानमय है। परन्तु संसार अवस्था में संसारी जीव पर्याय अपेक्षा मूर्तिक एवं रागद्वेष मल से कलुषित परिलक्षित होता है। इस प्रकार विपरीत वैभाविक परिणमन का कारण क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासा मन में पैदा होना स्वभाविक है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धभक्ति में बताया है-“अस्त्यात्मनादिबद्धः” संसारी आत्मा-अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा है। अतः पौद्गलिक कर्म-संबंध से सांसारिक जीव पर्याय दृष्टि से मूर्तिक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्देवसेनस्वामी ने अलाप पद्धति में कहा है कि-

जीवस्याप्यसद्व्यवहारेण मूर्त्तस्वभावः॥ (164)

अशुद्ध भूत व्यवहारनय से पुद्गल से संश्लेषित सांसारिक जीव मूर्त्त स्वभाव वाला है इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में संसार का कारण स्वभाव बताते हुए निम्न प्रकार से कहा है-

तम्हा दु-णत्थि कोई सहावसवट्ठदो त्ति संसारे।

संसारे पुण किरिया संसारमाणस्स दव्वस्स॥ (120)

"In this world, therefore is nothing as such-absolutely established in its nature, after all mundance existence is (only) an activity of the soui-substance which is moving (in four grades of existence.)"

वास्तव में जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अव्यवस्थित हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नहीं है। (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल एक रूप रहना नहीं है) और यहाँ (इस संसार में) जो अनवस्थितता है उसमें संसार ही हेतु है, क्योंकि उसके (संसार के) मनुष्यादि-पर्यायात्मकपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित) है। (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है) अब परिणमन करते हुए द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वही संसार का स्वरूप है।

द्रव्य अपेक्षा स्वभाव एवं जाति अपेक्षा प्रत्येक जीव समान होते हुए भी सांसारिक जीव में जो विभिन्न विचित्रत परिलक्षित होती है उसका कारण बताते हुए कलिकाल सर्वज्ञ महाप्राज्ञ वीरसेन स्वामी ने धवला में बताया है-

“ण च कारणेणविणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि।....ततो कञ्जमेत्ताणि
चेव कम्माणि वि अत्थि तिणिच्छयो कायव्यो। जदि एवं तो भमर-
महुवर....कयंवादि सण्णदेहि वि णामकम्मेहि होदव्वमिदि। ण एस दोसो
इच्छिज्जमाणादो।”

कारण के बिना तो कार्यों की उत्पत्ति होती नहीं है, इसलिये जितने (पृथ्वी, अप, तेज आदि) कार्य हैं, उतने उनके कारण स्वरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए।

प्रश्न-यदि ऐसा है तो भ्रमर-मधुकर कदम्ब आदि नामों वाले भी नामकर्म होने चाहिये?

उत्तर-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह बात तो इष्ट है।

इसी कर्म सिद्धान्त को राजवार्तिक में-तार्किक शिरोमणि अकलदेव स्वामी निम्न प्रकार बतलाते हैं।

**लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गतः क्रौर्य शौर्याहारा-
दिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात्।**

लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता, साँप आदि में शूरता-क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं हैं, क्योंकि कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर नर नरकादि गति में विभिन्न दुःखों को भोगता है।

संसार अवस्था में विशेषतः परिणत अवस्था पर्यन्त कर्म की शक्ति जीव से अधिक प्रचण्ड रहती है। यह प्रचण्ड शक्ति केवल सामान्य जीव को कष्ट नहीं देती है किन्तु लोक के विशिष्ट चरमशरीर क्षायिकसम्यग्दृष्टि तीर्थकर भगवान को भी परिणत अवस्था में वैचित्र्य पूर्ण कष्ट देती है।

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।

भोता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुतो।। (27)

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग लक्षित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त है और कर्म संयुक्त है।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।

सो जीवो पाणा पुण बलिमिदियमाउ उस्सासो।। (30)

जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा, और पूर्व काल में जीता था वह जीव है, और वह प्राण इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास है।

जीवा अणाइणिहणा संताणंता य जीवभावादो।

सब्भावदो अणंता पंचग्गुणप्पधाणा य।। (53)

जीव (पारिणामिक भाव से) अनादि अनन्त हैं, (औपशमिक आदि तीन भावों से) सान्त (अर्थात्सादि-सान्त) हैं और जीव भाव से अनन्त है। (अर्थात् जीव सद्भाव रूप क्षायिक भाव से सादि अनन्त है) क्योंकि सद्भाव से जीव अनन्त ही होते हैं। वे पाँच मुख्य गुणों से प्रधानता वाले हैं।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होई उप्पादो।

इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं।। (54)

इस प्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है-ऐसा जिनवरों ने कहा है, जो कि अन्योन्य विरुद्ध है तथापि अविरुद्ध है।

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।

कुव्वदि हिदमहिदं वा भुजंदि जीवो फलं तेसिं।। (122)

जीव सब जानता है और देखता है, (सुख की इच्छा करता है, दुःख से डरता है, हित अहित को करता है और उनके (शुभ-अशुभ भाव के) फल को भोगता है।)

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगंधवर्षैः।।

गुणपर्यय समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।। (9) पु.सि.

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित (वियुक्त) गुण-पर्यायों से विशिष्ट उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से सहित (संयुक्त) चैतन्यमय आत्मा पुरुष है।

द्रव्यों की विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि। (4) त. सूत्र

धर्मादीनि, कालः जीवाश्च द्रव्याणि नित्यावस्थितान्यरूपाणि।

The six substances Jiva, Ajiva, Dharma, Adharma, Akasha and Kala are permanent in their nature, fixed in number as the sole constituents of the universe and (with the exception of Pudgala Dravya) are all without form, i.e., they are devoid of the characteristics of matter, viz. touch, taste, smell and colour.

उक्त द्रव्य नित्य है, अवस्थित और अरूपी है।

धर्म, अधर्म, आकाश एवं जीव द्रव्य नित्य (शाश्वतिक, अविनाशी, ध्रुव) अवस्थित (अपनी संख्या एवं प्रदेश को नहीं त्यागने वाला) एवं अरूपी है।

1. **नित्य-वस्तु** के स्वभाव का नाश नहीं होना ही 'नित्यत्व' है। जिस भाव से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप से रहना नित्य है। इस द्रव्य के भाव का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है। धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गति हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, अवगाहन हेतुत्व, वर्तना हेतुत्व आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से युक्त है उन-उन स्वभावों का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कभी नाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्यय को नित्य कहते हैं।
2. **अवस्थित-ये** द्रव्य इयता (संख्या) का उल्लंघन नहीं करते, अतः अवस्थित हैं। ये धर्म, अधर्म आदि छहों द्रव्य कभी अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते। (छह संख्या को नहीं छोड़ते) न तो कभी सात होते हैं और न कभी पाँच, अतः अवस्थित है। अथवा धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव में तुल्य असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश के अनन्त और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश बताये गये हैं उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, वे वैसे ही अवस्थित रहते हैं इसलिए अवस्थित कहे जाते हैं।
3. **अरूपी-**'अरूप' पद का ग्रहण द्रव्य के स्वतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए है। 'अरूप' पद, रूप और स्पर्श, रस, गंधादि का निषेध करके धर्मआदिक का जो 'अमूर्तत्व' स्वभाव है, उसकी सूचना करता है। नहीं है रूप जिसके वह

अरूप कहलाता है। रूप के निषेध से रूप के अविनाशभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए। अरूपी का अर्थ अमूर्तिक है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव अमूर्तिक है।

आर्ष ग्रन्थों में वर्णित है कि पूर्णलोक अनन्तानन्त विविध प्रकार के बादर एवं सूक्ष्म पुद्गलकाय के द्वारा ठसा-ठसा भरा हुआ है; आदि। अतः आर्ष वाक्यों की प्रमाणता से भी उक्त स्कन्धों का एकादि प्रदेशों में अवगाह जानना चाहिए। जैसे सर्वज्ञ प्रणीत आगम के अनुसार एक निगोद शरीर में साधारण आहार जीवन-मरण और श्वासोच्छ्वास होने से साधारण संज्ञा वाले अनन्त निगोदियों का अवस्थान बताया है, इसलिये साधारण यह अन्वर्थ संज्ञा आगम प्रमाण से जानी जाती है, उसी प्रकार आगम में यह भी बताया है कि “यह सारा लोकाकाश सर्वतः अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकायों से ठसाठसा भरा हुआ है।” अतः आगम प्रमाण से इनका भी अवस्थान समझना चाहिए।

लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः।

पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम्॥ (25)

अवगाहनसामर्थ्यात्सूक्ष्मत्वपरिणामिनः।

तिष्ठन्त्येकप्रदेशेऽपि बहवोऽपि हि पुद्गलाः॥ (26)

एकापवरकेऽनेकप्रकाशस्थितिदर्शनात्।

न च क्षेत्रविभागः स्यान्न चैक्यमवगाहिनाम्॥ (27)

अल्पेधिकरणे द्रव्यं मंहीयो नावतिष्ठते।

इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः॥ (28)

अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्थ विशेषतः।

पुद्गलानां बहूनां हि करीषपटलादिषु॥ (29) त.सार

पुद्गल द्रव्य लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर समस्त लोकाकाश में स्थित हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान् का कथन है। दूसरे प्रदेशों के लिए स्थान देने की सामर्थ्य होने से सूक्ष्म परिणामन करने वाले बहुत पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में रह जाते हैं। एक घर में अनेक दीपकों के प्रकाश की स्थिति देखी जाती है, इसलिये अवगाहन

करने वाले द्रव्यों का क्षेत्र जुदा-जुदा नहीं होता और न उन द्रव्यों में एकरूपता आती है। “छोटे अधिकरण में बहुत बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता” ऐसा अज्ञानी जनों का कहना युक्ति को प्राप्त नहीं है क्योंकि छोटे क्षेत्र में भी सन्निवेश की विशेषता से बहुत से पुद्गलों की स्थिति देखी जाती है। जैसे गोबर के उपला आदि में धूम के बहुत से प्रदेशों की स्थिति देखी जाती है।

लोगस्स असंख्येज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगो त्ति।

अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो।। (584)

एक जीव अपने प्रदेशों के संहार विसर्प की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में व्याप्त होकर रहता है।

जीवों के अवगाहना के प्रदेश

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।।(15) मोक्ष शा.

लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति।

The place of souls is in one or more of (thse) innumerable parts.

जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में है।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं उसके असंख्यातवें भाग करने पर जो एक भाग प्राप्त होगा उसे असंख्यातवाँ भाग कहते हैं। उस असंख्यातवें भाग में भी असंख्यात प्रदेश होते हैं क्योंकि असंख्यात को असंख्यात से भाग देने पर भागफल असंख्यात ही पाता है; परन्तु भागफल से भाज्यफल छोटा होगा। ऐसे लोकाकाश में एक जीव रह सकता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :-

एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है। इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असंख्यातवें भागों को लेकर सब लोकपर्यन्त एक जीव का अवगाह जानना चाहिए। किन्तु नाना जीवों का अवगाह सब लोक में ही होता है।

यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है तो संख्या की अपेक्षा अनन्तानन्त सशरीर जीवराशि लोकाकाश में कैसे रह सकती है?

समाधान-जीव दो प्रकार के हैं सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाश में अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव है उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है।

किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होने के कारण एक निगोद जीव आकाश के जितने प्रदेशों को अवगाहन करता है उतने में साधारण शरीर वाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्पर में और बादरों के साथ व्याघात को नहीं प्राप्त होते इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों के अवगाह में कोई विरोध नहीं आता।

जीव प्रदेशों का संकोच विस्तार स्वभाव

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् प्रदीपवत्॥(16)

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति।

By the contraction and expansion of the pradesas, the soul although is has a countless unnumber of pradesas, occupies space like the light from a lamp. It can occupy the smallest possible body viz; that of a bacterium or the biggest body of a Mahamaccha, with a length of 1,000 yojanas.

क्योंकि प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।

लोकाकाश में जितने प्रदेश होते हैं उतने ही प्रदेश एक जीव द्रव्य में होते हैं। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि दोनों के प्रदेश समान हैं तो एक लोकाकाश में एक जीव रह सकता है, दो-तीन संख्यात, असंख्यात अनन्त नहीं। इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

कार्माण शरीर के वश से ग्रहण किये गये सूक्ष्म एवं बादर शरीर के अनुसार अनुवर्तन होना संहार और विसर्प है। अमूर्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि सम्बन्ध के प्रति एकत्व होने से कथञ्चित् मूर्तता को धारण किये हुये है और लोकाकाश के बराबर इसके प्रदेश है फिरभी जब यह कार्माण शरीर के कारण ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर में रहता है तब इसके प्रदेशों का शुष्क चर्म के समान संकुचित होकर प्रदेशों का संहार हो जाता है। जब कार्माण शरीर के कारण बादर शरीर में रहता है तब जल में तेल के समान प्रदेशों का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है।

उस संकोच-विस्तार के कारण प्रदीप के समान लोक के असंख्येयादि भागों में जीव रहता है। जैसे-निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए प्रदीप का आकाश

बहुदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा, मानिक और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिणाम वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश सिकोरा आदि आवरण में संकुचित होकर जहाँ रखा गया है, उसी प्रमाण हो जाता है अर्थात् उतने में ही सीमित हो जाता है, उसी प्रकार संहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असंख्येय एक भागादि में परिच्छिन्न वृत्ति जाननी चाहिए।

जह पउमरायररणं खिन्न खीरे पभासयदि खीरं।

तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि।।(33)

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर दूध को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार देही-देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है।

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर अपने से अभिन्न प्रभासमूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादिकाल से कषाय द्वारा मलीनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीरमें व्याप्त होता है और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभा समूह में उफान आता है (अर्थात् वह विस्तार को प्राप्त होता है) और दूध बैठ जाने पर प्रभा समूह भी बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनः जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभा समूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है, इसी प्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि, अमूर्त जीव का संकोच विस्तार कैसे संभव है? उसका समाधान किया जाता है-

अमूर्त के संकोच-विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि जीव स्थूल तथा कृश शरीर में तथा बालक

और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है। जीव के जो प्रदेश मोटे शरीर में फैले हुए थे, वे ही शरीर के पतले हो जाने पर सिकुड़ गये तथा बालक के शरीर में जो जीव के प्रदेश सिकुड़े हुए थे, वे ही कुमार अवस्था के शरीर में फैल जाते हैं। इस प्रकार से जीव के प्रदेशों का संकोच तथा विस्तार सिद्ध होता है। पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेश मात्र होने से यथोक्त (पूर्व कथित) प्रकार के अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेश आदि (द्र्यणुक आदि) स्कन्धों के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध और रूक्षगुणरूप परिणमित होने की शक्ति रूप स्वभाव के कारण उस पुद्गल के प्रदेशों का (बहुप्रदेशत्व का) उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्व की भी संभावना होने से पुद्गल द्विप्रदेशत्व से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशत्व भी न्याय युक्त है।

लोगस्स असंख्येज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।

अप्पदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो।।(584)

एक जीव अपने प्रदेशों के संहार-विसर्प की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में व्याप्त होकर रहता है।

आत्मा में प्रदेश संहार-विसर्पत्व गुण है।

इसके निमित्त से उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं, इसलिये एक क्षेत्र शरीर प्रमाण की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर हजार योजन तक का होता है। इसके आगे समुद्घात की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग, तथा सम्पूर्ण लोक प्रमाण भी होता है।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च

जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं।। (90) पं.काय

लोक में जीवों को और पुद्गलों को वैसे ही शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाश है।

जीवों के लिए पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीवाड् मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्।।(19) मोक्ष.

शरीर वाड् मनस्प्राण-अपानाः जीवानां पुद्गलानां उपकारः।

The function of matter forms the physical basis of the bodies, speech mind the respiration of the souls.

शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है।

इस सूत्र में संसारी जीवों के लिए पुद्गल का क्या-क्या उपकार है उसका वर्णन किया गया है। संसारी जीवों के पाँच शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास पुद्गल से बनते हैं अर्थात् शरीर आदि पुद्गल स्वरूप हैं। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में विश्व में स्थित 23 पौद्गलिक वर्गणाओं में से किन-किन वर्गणाओं से उपरोक्त शरीर आदि बनते हैं उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है-

आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।

णिस्सासो वि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं।।(607) (गो.सा.)

तेईस जाति की वर्गणाओं में से आहारवर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियक, आहारक, ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजोवर्गणा रूप स्कन्ध के द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।

अट्ठविहकम्मदव्वं होदि त्ति जिणेहिं णिट्ठं।।(608)

भाषा वर्गणा के द्वारा चार प्रकार का वचन, मनोवर्गणा के द्वारा हृदय स्थान में अष्ट दल कमल के आकार का द्रव्यमन तथा कार्माण वर्गणा के द्वारा आठ प्रकार के कर्म बनते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

“शरीर आदि पौद्गलिक हैं” इसको सिद्ध करने के लिए तार्किक शिरोमणि भट्टअकलंक देव ने राजवार्तिक में तार्किक एवं वैज्ञानिक प्रणाली से बहुत सुन्दर वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार है-

1. **शरीर पौद्गलिक**-औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण इन पाँचों शरीर कर्म मूलतः सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष हैं और जो स्थूल है वह प्रत्यक्ष है। मन अप्रत्यक्ष ही है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष हैं- क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं अतः इन्द्रियों से अतीत हैं। अतः शरीर पुद्गल है।

2. **कार्माण शरीर पौद्गलिक**-यद्यपि कार्माण शरीर आकार रहित है तथापि मूर्त्तिमान्, पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है, जैसे ब्रीहि (चावल) आदि

धान्य, पानी, धूप आदि मूर्तिमान पुद्गलों के सम्बन्ध से पकता है। इसलिए पौद्गलिक है, उसी प्रकार कार्माण शरीर भी गुड़ कंटक आदि मूर्तिमान पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से पकता है, अर्थात् इष्टानिष्ट बाह्य सामग्री के निमित्त से कार्माण शरीर अपना फल देता है, अतः कार्माण शरीर पौद्गलिक है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं पकता तथा अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थ से विपच्यमान दृष्टिगोचर नहीं होता।

वचन पौद्गलिक-पुद्गल के निमित्त से होने वाले दोनों प्रकार के वचन पौद्गलिक हैं। वचन दो प्रकार के हैं-द्रव्यवचन और भाववचन। दोनों ही पौद्गलिक हैं क्योंकि दोनों ही पुद्गल के कार्य हैं अर्थात् पुद्गल के निमित्त से ही होते हैं। भाववचन, वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय के निमित्त से होते हैं।

अतः भावमन पुद्गल का कार्य होने से पौद्गलिक है; यदि वीर्यान्तराय और मति-श्रुत-ज्ञानावरण रूप पौद्गलिक कर्मों का क्षयोपशम नहीं हो तो भाववचन हो ही नहीं सकता। भाववचन के सामर्थ्य वाले आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचनरूप से परिणत होते हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा तालु आदि क्रिया से जो पुद्गल वर्गणाँ वचनरूप परिणत होती हैं उसे द्रव्यवचन कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय का विषय होने से द्रव्य वचन भी पौद्गलिक है।

प्रश्न- यदि शब्द पौद्गलिक है तो एक बार ग्रहण होने के बाद उनका पुनः ग्रहण क्यों नहीं होता? अर्थात् एक बार उच्चारण करने के बाद वही शब्द पुनः सुनाई क्यों नहीं देता?

उत्तर- बिजली के समान असहंतत्व होने से पुनः गृहीत नहीं होते हैं। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध बिजली द्रव्य एक बार चमक कर फिर शीघ्र ही विशीर्ण; (नष्ट) हो जाता है अतः पुनः आँखों से दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय के द्वारा एक बार उपलब्ध (सुने गये) वचन सम्पूर्ण से शीघ्र ही विशीर्ण हो जाने से पुनः दुबारा नहीं सुनाई देते।

प्रश्न- यदि शब्द पौद्गलिक हैं तो चक्षु आदि के द्वारा शब्दों का ग्रहण क्यों नहीं होता?

उत्तर- घ्राण के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने पर गन्धद्रव्य रसादि की अनुपलब्धि के समान चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। जैसे घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्य के साथ अविनाभावी रूप, रस, स्पर्श आदि विद्यमान रहकर के भी सूक्ष्म होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध नहीं होते अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय के विषयभूत शब्द सूक्ष्म होने से चक्षु आदि शेष इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होते।

शब्द को अमूर्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि शब्द का मूर्तिमान पदार्थ के द्वारा ग्रहण, प्रेरणा और अवरोध देखा जाता है। शब्द अमूर्तिक है 'अमूर्त आकाश का गुण होने से' यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि मूर्तिमान, पौद्गलिक पदार्थों के द्वारा ग्रहण होता है। कर्णेन्द्रिय का विषय होने से मूर्तिमान श्रोतेन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होता है जो अमूर्त होता है वह किसी मूर्तिमान इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होता। वायु के द्वारा प्रेरित रूई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशा में स्थित व्यक्ति को वह शब्द सुनाई देता है, अर्थात् जिस तरफ की वायु होती है उधर ही अधिक सुनाई देता है, वायु के प्रतिकूल होने से समीपस्थ व्यक्ति को भी सुनाई नहीं देता है।

इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रेरित है और यंत्र के द्वारा प्रेरित कर दूसरे देशों में भिजवाया भी जाता है। अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा प्रेरित नहीं होता। नल, बिल, रिकार्ड आदि में नदी के जल की तरह शब्द रोका भी जाता है, परन्तु अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिमान् किसी पदार्थ के द्वारा अवरुद्ध हुआ नहीं देखा जाता है।

मूर्तिमान् पदार्थों के द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत होने से भी शब्द को मूर्तिमान् जानना चाहिए। जैसे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत (तिरोभूत) होने वाले, तारा आदि मूर्तिक हैं, उसी प्रकार सिंह की दहाड़, हाथी की चिंघाड़ और भेरी का घोष आदि महान् शब्द के द्वारा शकुनि (पक्षियों) के मन्द शब्द तिरोभूत होते हैं तथा कांसी आदि के बर्तन गिरने पर उत्पन्न ध्वनि, ध्वनि अन्तर के आरम्भ में हेतु होती है। अथवा गिरि-गह्वर-कूप आदि में शब्द करने पर प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है। पर्वत की गुफाओं आदि से टकराकर प्रतिध्वनि होती है। अतः शब्द मूर्तिक है।

प्रश्न- अमूर्तिक पदार्थों का भी मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा तिरोभाव देखा जाता है, जैसे मूर्तिमान मदिरा के द्वारा अमूर्तिक विज्ञान (इन्द्रियज्ञान) का तिरोभाव देखा जाता है, इसलिए मूर्तिमान पदार्थों से मूर्तिमान पदार्थों का ही अभिभव होता है, यह निश्चित हेतु नहीं है।

उत्तर- मूर्तिक मदिरा के द्वारा इन्द्रियज्ञान का जो अभिभव देखा जाता है वह भी मूर्त से मूर्तिक का ही अभिभव है, क्योंकि क्षयोपशमिक ज्ञान इन्द्रियादि पुद्गलों के आधीन होने से पौद्गलिक है, अन्यथा (यदि विज्ञान पौद्गलिक नहीं है तो) आकाश के समान विज्ञान का भी मदिरा आदि के द्वारा अभिभव नहीं हो सकता था। अतः उपर्युक्त हेतुओं से शब्द पौद्गलिक पदार्थ सिद्ध होता है।

4. प्राणापान पौद्गलिक- कोष्ठ (उदर) की वायु को उच्छ्वासलक्षण प्राण कहते हैं। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा शरीर कोष्ठ से जो वायु बाहर निकाली जाती है, उसको उच्छ्वासलक्षण प्राण कहते हैं।

बाह्य वायु को अभ्यन्तर करना अपान है। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो बाह्य वायु भीतर ली जाती है, उस निःश्वास को अपान कहते हैं। ये सोच्छ्वास (प्राणापान) आत्मा के जीवन में कारण होते हैं अतः इनके द्वारा पुद्गल आत्मा का उपकार करता है। इन सब का प्रतिघात देखा जाता है अतः ये सब मूर्तिक हैं। उन प्राणापान और वाङ् (वचन), मन, श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात आदि होने से इन को मूर्तिमान् (पौद्गलिक) समझना चाहिए। जैसे-भय के कारणों से तथा वज्रपात आदि के शब्दों के द्वारा मन का प्रतिघात और मदिरा आदि के द्वारा मन का अभिभव देखा जाता है।

हाथ से मुख और नाक को बन्द कर देने पर श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात और कण्ठ में कफ आदि के आजाने से श्वासोच्छ्वास का अभिभव देखा जाता है। अतः मन और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक हैं क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के द्वारा अमूर्तिक पदार्थ के अभिघात और अभिभव (रूकावट) नहीं हो सकते।

श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इनके द्वारा

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है; क्योंकि प्राणापानादि कर्म आत्मा के कार्य हैं अतः आत्मा रूपी कारण के बिना श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य नहीं हो सकता, जैसे किसी यन्त्रमूर्ति की चेष्टाएँ उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व बताती हैं उसी प्रकार प्राणापानादि क्रियाएँ क्रियावान् आत्मा की सिद्धि करती हैं।

जीवों के लिए पुद्गल द्रव्य का अन्यान्य उपकार

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च॥(20)

जीवानां सुख-दुःख-जीवित-मरण-उपग्रहाश्च पुद्गलानामुपकारो भवति।

Soul experiences pain, pleasure, life and death through the agency of matter.

सुख, दुःख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।

19 नम्बर सूत्र में बताया गया कि, परिणाम विशेष से गृहीत पुद्गल जैसे-शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय क्रम से गमन, व्यवहरण, चिन्तवन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गलकृत उपकार हैं उसको बताने के लिए इस सूत्र में कहते हैं कि सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

(1) **सुख**: बाह्य कारणों के कारण और साता वेदनीय के उदय से जो प्रसन्नता होती है, उसे सुख कहते हैं। जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्मद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है तब आत्मा में जो परिणाम होते हैं, उसे सुख कहा जाता है।

(2) **दुःख**-असाता वेदनीय कर्म के उदय से आत्म परिणामों में संक्लेश होता है वह दुःख है। जब आत्मा से बद्ध असाता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्रादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है, तब आत्मा में जो संक्लेश परिणाम होते हैं, उसे दुःख कहा जाता है अर्थात् सातावेदनीय के उदय को सुख और असाता वेदनीय के उदय को दुःख कहते हैं।

(3) **जीवित** : भवस्थिति में कारणभूत आयुर्कर्म द्रव्य से सम्बन्धित जीव के प्राणपान लक्षण क्रिया का उपरम नहीं होना ही जीवित है। भवधारण में कारण आयु नाम का कर्म है। उस आयु कर्म के उदय से प्राप्त भवस्थिति को धारण करने वाले

जीव के पूर्वोक्त प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) क्रिया का चालू रहना उसका उच्छेद नहीं होना ही जीवित है।

(4) मरण : उस श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही मरण है। जीव के जीवित में कारण भूत श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही जीव का मरण है।

पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण-विज्ञान जीवों का उपकार

परस्परोग्रहो जीवानाम्॥ (21)

परस्परोग्रहो जीवानां उपकारः भवति।

The mundane souls help the support each other.

परस्पर सहायता में निमित्त होना, यह जीवों का उपकार है।

स्वामी-सेवक आदि कर्म से वृत्ति (व्यापार) को परस्परोग्रह कहते हैं। स्वामी, नौकर, आचार्य (गुरु), शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं। जैसे-स्वामी अपने धन का त्याग करके (रूपयादि प्रदान करके) सेवक का उपकार करता है और सेवक स्वामी के हित प्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करता है। आचार्य (गुरु) उभय लोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यों का उपकार करते हैं और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते हैं।

यद्यपि 'उपग्रह' का प्रकरण है, फिर भी इस सूत्र में 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट सुख-दुःख, जीवित और मरण इन चारों का ही प्रतिनिर्देश किया है। इन चारों के सिवाय जीवों का अन्य कोई परस्पर उपग्रह नहीं है, किन्तु पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट ही उपकार है।

स्त्री-पुरुष की रति के समान परस्पर उपकार का अनियम प्रदर्शित करने के लिए पुनः 'उपग्रह' वचन का प्रयोग सुखादि में सर्वथा नियम परस्परोग्रह का नहीं है, यह बताने के लिए पुनः उपग्रह वचन का प्रयोग किया है, क्योंकि कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करता हुआ कदाचित् दूसरे एक जीव को या दो जीवों को वा बहुत से जीवों को सुखी करता है और कोई जीव अपने को दुःखी करता हुआ एक जीव

को, दो जीवों को या बहुत से जीवों को दुःखी करता है अथवा कभी एक, दो बहुत से जीवों तथा अपने आपके लिए सुख या दुःख करता हुआ दूसरे एक वा दो वा बहुत से जीवों के लिए सुख-दुःख उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। स्वयं दुःखी भी दूसरे को सुखी और स्वयं सुखी भी दूसरे को दुःखी कर सकता है। अतः कोई निश्चित नियम नहीं है कि सुखी सुख पहुँचाये और दुःखी दुःख ही करें।

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

केवल ज्ञान perfect knowledge (is gained) by destroying the मोहनीय deluding Karmas (in the end of the 10th) गुणस्थान stage and then by simultaneous destruction of knowledge and conation observing karmas ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय and of obstructive karmas अन्तराय in the end of the 12th गुणस्थान stage.

मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।

मोक्षशास्त्र में नवें अध्याय तक जीव तत्त्व से लेकर संवर तत्त्व पर्यंत वर्णन हुआ है। अवशेष मोक्षतत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। मोक्ष का अर्थ-मुक्त होना, स्वतंत्र होना, शुद्ध होना, बंधनों से रहित होना, पूर्ण स्वावलम्बी होना है।

जीव अनादि काल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। योग्य अंतरंग-बहिरंग कारणों को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि बनकर सम्यग्ज्ञानी होकर सम्यग्चारित्र को धारण करता है। पहले बहिरंग परिग्रहों को त्याग करके मुनि चारित्र को स्वीकार करता है। ऐसे ही निर्ग्रथ तपोधन धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को लेकर क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मोहनीय कर्म को नाश करके पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान आदि को प्राप्त करता है। इसका विशेष खुलासा निम्न प्रकार है-

पूर्वोक्त विधि के साथ परम तपोविशेष के द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है और अप्रशस्त अशुभ अनुभाग कृश होकर विलीन हो जाता है। कोई वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त

गुणस्थान में सात प्रकृतियों के उपशम का प्रारम्भ करता है तथा सात प्रकृतियों का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर चारित्र मोहनीय कर्म को उपशम करना प्रारंभ करता है। कोई असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियों का उपशम करना प्रारंभ करता है, पुनः अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम करके उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपूर्वकरण-उपशमक व्यपदेश को प्राप्त कर वहाँ नवीन परिणामों में पापकर्मों के प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को क्षीण कर शुभ कर्मों के अनुभाग को बढ़ाते हुए, अनिवृत्ति बादर साम्पराय उपशमक गुणस्थान में पहुँच जाता है। वहाँ नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छहनोकषाय पुंवेद, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध, दो मान, दो माया, दो लाभ, क्रोध-मान-संज्वलन नामक प्रकृतियों का क्रमशः उपशम करता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के प्रथम समय में अर्थात् नौवें गुणस्थान के अंत भाग में माया संज्वलन का उपशम कर देता है तथा संज्वलन लोभ को कृश कर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। पुनः उपशांत कषाय के प्रथम समय में लोभ संज्वलन का उपशम कर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से उपशांत कषाय कहलाता है। इस गुणस्थान में यदि आयु का क्षय हो जाय तो मरण हो सकता है अथवा पुनः कषायों की उदीरणा हो जाने से नीचे गिर जाता है।

पुनः वही साधक या दूसरा कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करते हुए पूर्व के समान क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षायिक श्रेणी में आरूढ़ होकर पूर्वकथित लक्षण वाले अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति रूप तीन करणों के द्वारा अपूर्वकरणक्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया और लोभ इन आठ कषायों को नष्ट कर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को उखाड़कर छह नोकषायों को पुरुषवेद में क्षेपण कर पुरुषवेद को क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को माया संज्वलन और माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादरकृष्टि विभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादर साम्परायक क्षपक गुणस्थान में पहुँच जाता है। तदनन्तर लोभ संज्वलन कषाय को सूक्ष्म कर सूक्ष्म साम्परायक नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त होता है। सूक्ष्म

साम्पराय अवस्था का अंतर्मुहूर्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीण कषाय (वा क्षपक मोह) नामक गुणस्थान को प्राप्त कर मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। वह क्षपक उस गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला कर्म का नाशकर अंत समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्म का नाश कर अचिंत्यविभूतियुक्त केवलज्ञान एवं केवल दर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एवं निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य पर्यायों के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनंतदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त कर कृतकृत्य मेघ-पटलों से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापों से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा देदीप्यमान मूर्ति केवली हो जाता है। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में मोहक्षय की प्रक्रिया एवं केवलज्ञान प्राप्त करने का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है-

गिस्सेसखीणमोहो, फलिहामल भायणदुय समचित्तो।

खीणकसाओ भण्णदि, गिग्गंथो वीयरारयेहिं।।(72)

जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीण कषाय नाम का बाहरवें गुणस्थानवर्ती कहा है। जिस छद्मस्थ की वीतरागता के विरोधी मोहनीय कर्म के द्रव्य एवं भाव दोनों ही प्रकारों का अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों भेदों का सर्वथा बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्त्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है वह बारहवें गुणस्थान वाला माना जाता है इसलिए आगम में इसका नाम क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ ऐसा बताया है। यहाँ 'छद्मस्थ' शब्द अन्त्य दीपक है और 'वीतराग' शब्द नाम, स्थापना और द्रव्यरूप वीतराग की निवृत्ति के लिए है। तथा यहाँ पर पाँच भावों में से मोहनीय के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से एक क्षायिक भाव ही माना गया है।

(सर्वज्ञ भगवान् का स्वरूप)

केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्पणासियण्णाणो।

णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो।।(63)

असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवलि हु जोगेण।

जुत्तोति सजोगजिण, अणाइणिहणारिसेउत्तो।।(64)

जिसका केवल ज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह (उत्कृष्ट अनंतानंत प्रमाण) अज्ञान अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवल लब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञानदर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग, तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है ऐसा अनादि निधन आर्ष आगम में कहा है।

बारहवें गुणस्थान का विनाश होते ही जिसके तीन घाति कर्म और अघाति कर्मों की 16 प्रकृति, इस तरह कुल मिलाकर 63 कर्म प्रकृतियों के नष्ट होने से अनंत चतुष्टय-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य तथा नव केवल लब्धि प्रकट हो चुकी हैं किन्तु साथ ही जो योग से भी युक्त है, उस अरिहंत परमात्मा को तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।(2)

मोक्ष Liberation (is) the freedom from all Karmic matter, owing to the non existence of the cause of bondage and to the shedding (of all the Karmas)

बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बंध के कारणों का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है।

तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान (निकटता) होने पर पूर्व अर्जित (संचित) कर्मों का विनाश हो जाता है।

प्रश्न- कर्मबंध संतान जब अनादि है तो उसका अंत नहीं होना चाहिए?

क्योंकि जो अनादि होता है उसका अंत नहीं होता तथा दृष्ट विपरीत (प्रत्यक्ष से विपरीत) की कल्पना करने पर प्रमाण का अभाव होता है।

उत्तर- अनादि होने से अंत नहीं होता ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बीज और अंकुर की संतान अनादि होने पर भी अग्नि से अंतिम बीज के जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबंध के कारणों को भस्म कर देने पर भवांकुर का उत्पाद नहीं होता, अर्थात् भवांकुर नष्ट हो जाता है। यही मोक्ष है, इस दृष्ट बात का लोप नहीं कर सकते।

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।

“बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।”

कृत्स्न(सम्पूर्ण) कर्म का कर्म अवस्था रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से विनाश नहीं है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है तथा पर्याय, द्रव्य को छोड़कर नहीं है अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त होता है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योंकि पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है। अतः कारणवशात् कर्मत्वपर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबंध के प्रत्यनीक (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप) कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्वपर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय हो जाता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिये कृत्स्न कर्म क्षय की मुक्ति कहना युक्त ही है।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।।(50)

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।

पावदि इन्दियरहिंद अव्वाबाहं सुहमणंतं।।(51) (पंचास्तिकाय)

कर्मों के आवरण में प्राप्त संसारी जीव का जो क्षायोपशमिक विकल्प रूप भाव

है वह अनादिकाल से मोह के उदय के वश राग-द्वेष रूप परिणमता हुआ अशुद्ध हो रहा है यही भाव है। अब इस भाव से मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह जीव आगम की भाषा से काल आदि लब्धि को प्राप्त करता है तथा अध्यात्म भाषा से शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम रूप स्वसवेदन ज्ञान को पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम होने पर फिर उनका क्षयोपशम होने पर सराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब अर्हत् आदि पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि के द्वारा मैं अनंत ज्ञानादि स्वरूप हूँ इत्यादि भावना स्वरूप आत्मा के आश्रित धर्मध्यान को पाकर आगम में कहे हुए क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर अप्रमत्त संयत पर्यंत चार गुणस्थानों के मध्य में से किसी भी एक गुणस्थान में दर्शनमोह को क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर मुनि अवस्था में अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदि से भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमई ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यान का अनुभव करता है। फिर राग-द्वेष रूप चारित्र मोह के उदय के अभाव होने पर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र को प्राप्त कर लेता है जो चारित्र के मोह के नाश करने में समर्थ है। इस वीतराग चारित्र के द्वारा मोहकर्म का क्षय कर देता है- मोह के क्षय के पीछे क्षीण कषाय नाम बारहवें गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त काल ठहरकर दूसरे शुक्लध्यान को ध्याता है। इस ध्यान से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों को एक साथ इस गुणस्थान के अन्त में जड़-मूल से दूरकर केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय स्वरूप भाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।

जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स॥(152)

इस प्रकार वास्तव में इन (पूर्वोक्त) भावयुक्त (भाव मोक्ष वाले) भगवान् केवली को जिन्हें स्वरूप तृप्तपने के कारण कर्मविपाक कृत सुख, दुःख रूप विक्रिया नष्ट हो गई है उन्हें आवरण के प्रक्षीणपने के कारण, अनंत ज्ञानदर्शन से सम्पूर्ण शुद्धज्ञान चेतनामयपने के कारण तथा अतीन्द्रियपने के कारण जो अन्य द्रव्य के संयोग से रहित है और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्ति रूप होने के कारण जो कथंचित् 'ध्यान' नाम के योग्य है ऐसा आत्मा का स्वरूप (आत्मा की निज दशा) पूर्वसंचित कर्मों की शक्ति का शातन (क्षीणता) अथवा उनका पतन (नाश) देखकर, निर्जरा के हेतुरूप से वर्णन किया जाता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।

ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो॥(153)

वास्तव में केवली भगवान् को, भावमोक्ष होने पर, परम संवर सिद्ध होने के कारण उत्तर कर्म संतति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा का कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पूर्व कर्म संतति कि जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही आयुकर्म के जितनी होती है और कदाचित् समुद्घात विधान से आयुकर्म के जितनी होती है- आयुकर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई अपुनर्भव (सिद्धगति) के लिए भव छूटने के समय होने वाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्ररूप कर्मपुद्गलों का जीव के साथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग) है वह द्रव्यमोक्ष है।

ज्ञानावरणी-दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्मों के क्षय से अरहंत केवली बनते हैं। तीर्थंकर केवली समोवशरण की विभूति के साथ उपदेश करके भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते हैं और सामान्य केवली गंध कुटी में विराजमान होकर भव्य जीवों को उपदेश देते हैं तीर्थंकर केवली नियम से जघन्य रूप से नौ वर्ष एवं उत्कृष्ट रूप से अंतर्मुहूर्त अधिक 8 वर्ष कम, एक पूर्व कोटी वर्ष तक उपदेश करते हैं। अंत में समवशरण या गंध कुटी का विसर्जन होता है-दिव्यध्वनि का भी (उपदेश देना) संकोच हो जाता है और केवली योग निरोध करते हैं। जो मुनिश्चर 6 महीना आयु शेष रहते केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके नाम गोत्र एवं वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे केवली समुद्घात भी करते हैं। अंत में “अ इ उ ऋ लृ” इन पाँच लघु अक्षर के उच्चारण काल प्रमाण अयोगी गुणस्थान (14 वें) में जीव रहता है। उपान्त (द्विचरम, अंतिम समय के पहले 1 समय) समय में 72 प्रकृतियों का एवं अंतिम समय में 13 प्रकृतियों का नाश करके जीव सिद्ध, बुद्ध-नित्य निरंजन बन जाता है।

सिलेसिं संपत्तो, णिरूद्धणिस्सेसआसवो जीवो।

कम्मरयविप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि॥(65) गो. सार

जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वार रूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्त्व और उदय रूप अवस्था को

प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं।

अट्टविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।

अट्टगुणा किदक्किच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।(68)

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित है, अनंतसुखरूपी अमृत के अनुभव करने वाले शांतिमय है, नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित है, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं - जिनको कोई कार्य करना बाकी न रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

औपशमिकादिभव्यत्वानां च।(3)

There is also non existence भाव or thought activity due to the operation, subsidence and to the destruction subsidence and operation of the Karma and of भव्यत्व (i.e. the capacity of becoming liberated).

औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने से मोक्ष होता है।

भव्यत्व का ग्रहण अन्य पारिणामिक भावों की अनिवृत्ति के लिए है। पारिणामिक भावों में जीवत्व भाव की मोक्ष में अनिवृत्ति के लिए भव्यत्व भाव का ग्रहण किया गया है। अतः पारिणामिक भावों में भव्यत्व तथा औपशमिकादि भावों का अभाव भी मोक्ष में हो जाता है।

सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के अभाव से, कर्म से जायमान औपशमिक, क्षयोपशमिक, औदयिक भावपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। औपशमिक, क्षयोपशमिक और औदयिक भावों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में सविस्तार से किया गया है। केवल इन भावों का ही अभाव नहीं होता है इसके साथ भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है। भव्यत्व भाव को आगम में कुछ स्थान में पारिणामिक भी कहा है। आगमानुसार पारिणामिक भाव का अभाव नहीं होता है। क्योंकि पारिणामिक भाव उसे कहते हैं जो कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय की अपेक्षा नहीं

रखता हो। तब प्रश्न होता है कि भव्यत्व, पारिणामिक भाव होकर मोक्ष में क्यों नहीं रहता है? तब इसका उत्तर वीरसेन स्वामी ने धवला में आगमोक्त व तार्किक शैली से किया है। उनका तर्क यह है कि भव्यत्व भाव पूर्ण शुद्ध पारिणामिक भाव नहीं है कथञ्चित् कर्मजनित है और कथञ्चित् कर्म निरपेक्ष है। भव्य उसे कहते हैं जो भावी भगवान् है अथवा जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को धारण करने की योग्यता रखता है। मिथ्यात्वादि कर्म के उदय से जीव सम्यग्रत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर पाता है इसलिये अभव्यत्व भाव कर्म सापेक्ष है।

आत्मविजयी महावीर मुनि बाहुबली-भगवान् बाहुबली (बाह्यतः सम्पूर्ण 28 मूलगुण पालन बिना बाहुबली मुनि बने ऋद्धि सम्पन्न व अरिहंत-सिद्ध)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.छोटी-छोटी गैया... 2.यमुना किनारे... 3.सायोनारा....)

बाहुबली! बाहुबली! बाहुबली! महातपस्वी महावीर बाहुबली!

तीनों युद्ध में चक्री से हुए विजयी, चक्ररत्न बना आप का आज्ञाकारी॥

संसार-शरीर-भोग से हुई विरक्ति, आत्मविजयी हेतु बने संन्यासी।

अट्टाईस मूलगुण धारी बने श्रमण, एकस्थान में खड़ासन में लगाये ध्यान॥ (1)

अतएव एक वर्ष तक न किया आहार, तथाहि न किया आपने विहार, निहार।

अतः बाह्य से न किया समिति पालन, केशलोच भूमिशयन, स्थिति भोजन शून्य॥

तथापि आपने किया मूलगुण पालन, चौरासी लाख उत्तर गुण पालन।

उत्तमक्षमादि दशधा धर्म पालन, अन्तरंग-बहिरंग तप पालन॥ (2)

आत्मविशुद्धि हेतु ध्याया धर्म ध्यान, द्वादश अनुप्रेक्षाओं से वैराग्य ज्ञान।

तीनों शल्य व तीनों गारव शून्य, जिससे पाये ऋद्धियाँ व चार ज्ञान।

अन्त में घाती क्षय से बने सर्वज्ञ, दिव्यध्वनि से किया विश्व सम्बोधन।

अघाती क्षय से बने शुद्धबुद्ध आनन्द, अनन्तचक्री से भी अधिक वैभव/(आत्मवैभव)॥ (3)

ये भी संभव हुए आत्मविशुद्धि से, समता शान्ति व निस्पृहता से।

अन्तरंग-बहिरंग तप-त्याग से, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह त्याग से॥

आत्मविशुद्धि हेतु बहिरंग साधना, अन्यथा व्यर्थ है बहिरंग साधना।
कार्य कारण सिद्धान्त की ये व्यवस्था, निमित्त उपादान की ये ही व्यवस्था॥ (4)
कार्य में समाहित हो जाते कारण, निमित्त उपादान में ये ही विधान।
पूर्ववर्ती कारण ही उत्तरवर्ती कार्य; पानी यथा बने निमित्त से हिम/(बर्फ)॥
आत्मविशुद्धि समता-वीतरागता में, समाहित होते हैं सभी ही गुण।
ध्यानस्थ मुनि न पालते बाह्यव्रत; तथापि बाह्यव्रत पालक से श्रेष्ठ॥ (5)
ध्यानस्थ मुनि से ले श्रेणी आरोहण मुनि, अरिहंत व सिद्ध भगवान्।
नहीं करते बाह्यव्रत नियम पालन, तथापि पालने वालों से श्रेष्ठ ज्येष्ठ॥
प्रमत्त (छट्टा) गुणस्थान तक होता व्रत पालन, सप्तमगुणस्थान परे नहीं पालन।
(यथा) भोजन पक्व अनन्तर नहीं अग्नि आवश्यक, तथाहि सर्वत्र यह जानने योग्य॥ (6)
परम सामायिक चारित्र सर्वश्रेष्ठ चारित्र, इस में गर्भित समस्त चारित्र।
सामायिक अभाव से अन्य चारित्र श्रेय, (परम) सामायिक में अन्य चारित्र न ग्राह्य॥
इससे शिक्षा मिलती अनेक विध, आत्मविशुद्धि-समता हेतु ही धर्म।
अन्यथा धर्म साधना होती व्यर्थ, यथा तुस खण्डन से न मिले अक्षत॥ (7)
शक्ति अनुसार तप-त्याग विधेय; आत्मा की विशुद्धि अवश्य करणीय।
उत्सर्ग अपवाद सापेक्ष ही करणीय, आत्मविशुद्धि उत्सर्ग बाह्य साधना अपवाद॥
ये हैं आध्यात्मिक रहस्य सर्वदा ज्ञेय, रागीद्वेषी मोही द्वारा होता अज्ञेय।
आगम अनुभव से जाना ये सत्य; आत्मविशुद्धि-समता 'कनक' का ध्येय॥ (8)

ग.पु.कों. सागवाड़ा, दि-7/1/2020, रात्रि-10.08

संदर्भ-

उधर राजा बाहुबली रणभूमि को दूर से ही युद्ध के योग्य बनाकर ठहरे हुए हैं और इधर राजा में सिंह के समान तेजस्वी महाराज भरत भी यन्त्रणारहित (उच्छृखल) होकर उनके सम्मुख जा रहे हैं। नहीं मालूम इस युद्ध में इन दोनों भाइयों का क्या होगा? प्रायः कर इनका यह युद्ध सेवकों की शान्ति के लिए नहीं है। **भावार्थ-**इस युद्ध में सेवकों का कल्याण दिखाई नहीं देता है। भरतेश्वर ने यह युद्ध बहुत ही अयोग्य प्रारम्भ किया है सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्य के मद से रोके नहीं

जा सकते ऐसे प्रभु लोग स्वेच्छाचारी ही होते हैं। जो ये मुकुटबद्ध राजा समस्त सामग्री के साथ युद्ध करने के लिए आये हुए हैं वे क्या इन दोनों को नहीं रोक सकते हैं? अहो, भुजाओं का पराक्रम रखनेवाला यह कुमार बाहुबली भी महाप्रतापी है जो कि चक्रवर्ती के कुपित होने पर भी इसप्रकार युद्ध के लिए सम्मुख खड़ा हुआ है। अथवा शूरवीर लोगों को सामग्री की अधिकता विजय का कारण। नहीं है क्योंकि एक ही सिंह झुण्ड के झुण्ड हाथियों को जीत लेता है। नमस्कार करते हुए हजारों देव जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा यह चक्र को धारण करनेवाला भरत भी साधारण पुरुष नहीं है। इसलिए जो अनेक लोगों के विनाश का कारण है ऐसा इन दोनों का युद्ध नहीं हो तो अच्छा है, यदि देव लोग यहाँ समीप में हों तो वे इस युद्ध की शान्ति करें। इस प्रकार कितने ही लोग मध्यस्थ भाव से प्रशंसनीय वचन कह रहे थे।

और कितने ही पक्षपात से प्रेरित होकर अपने ही पक्ष की प्रशंसा कर रहे थे। प्रायः लोगों के इसी प्रकारके वचनों से मन बहलाते हुए राजा लोग शीघ्र ही उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ वीरशिरोमणि कुमार बाहुबलो पहले से विराजमान था। बाहुबली के समीप पहुँचते ही भरत के योद्धा, जिसका शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते ऐसा बाहुबली की भुजाओं का दर्प देखकर प्रायः कुछ डर गये। इस प्रकार चक्रवर्ती भरत की सेना के समीप पहुँचने पर वीरों के शब्दों से दिशाओं को भरनेवाली बाहुबली की सेना समुद्र के जल के समान क्षोभ को प्राप्त हुई।

अथानन्तर-दोनों ही सेनाओं में जो शूरवीर लोग थे वे परस्पर युद्ध करने की इच्छा से अपने हाथी घोड़े आदि सजाकर सेना की रचना करने लगे। अनेक प्रकार के व्यूह आदि बनाने लगे। इतने में ही दोनों ओर के मुख्य-मुख्य मन्त्री विचारकर इस प्रकार कहने लगे कि कर ग्रहों के समान इन दोनों का युद्ध शान्ति के लिए नहीं है। क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल इनके युद्ध के बहाने से दोनों ही पक्ष के लोगों का जय होगा। इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्यों के संहार से डरकर मन्त्रियों ने, दोनों की आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करने की घोषणा कर दी। उन्होंने कहा कि मनुष्यों का संहार करनेवाले इस कारणहीन युद्ध से कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसके करने से बड़ा भारी अधर्म होगा और यश का भी बहुत विघात होगा। यह बल के उत्कर्ष की परीक्षा अन्य प्रकार से भी हो सकती है

इसलिए तुम दोनों का ही परस्पर तीन प्रकार का युद्ध हो। इस युद्ध में जो पराजय हो वह तुम दोनों को भौंह के चढ़ाये बिना ही-सरलता से सहन कर लेना चाहिए तथा जो विजय हो वह भी अहंकार के बिना तुम दोनों को सहन करना चाहिए क्योंकि भाई भाइयों का यही धर्म है। इस प्रकार जब समस्त राजाओं और मन्त्रियों ने बड़े आग्रह के साथ कहा तब कहीं बड़ी कठिनता से उद्धृत हुए उन दोनों भाइयों ने वैसा युद्ध करना स्वीकार किया। इन दोनों के बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहु में जो विजय प्राप्त करेगा वही विजय-लक्ष्मी का स्वयं स्वीकार किया हुआ पति हो, इस प्रकार सब को आनन्द देनेवाली गम्भीर भेरियों के द्वारा जिसमें सबको हर्ष हो इस रीति से घोषणा कर मन्त्री लोगों ने सेना के मुख्य-मुख्य पुरुषोंको एक जगह इकट्ठा किया।

जो भरतके पक्षवाले राजा थे उन्हें एक ओर बैठाया और जो बाहुबली के पक्ष के थे उन्हें दूसरी ओर बैठाया। उन सब राजाओं के बीचमें बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी कारण से निषध और नीलपर्वत ही पास-पास आ गये हों। उन दोनों में नीलमणिके समान सुन्दर छवि को धारण करता हुआ और काले-काले केशों से सुशोभित कुमार बाहुबली ऐसा जान पड़ता था मानो भ्रमरों से सहित ऊँचा जम्बूवृक्ष ही हो। इसी प्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊँचा हो रहा है और जो तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्तिको धारण करनेवाला है ऐसा राज-राजेश्वर भरत भी इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चूलिका सहित गिरिराज सुमेरु ही हो। अत्यन्त धीर तथा पलकों के संचार से रहित शान्त दृष्टि को धारण करते हुए कुमार बाहुबली ने दृष्टियुद्ध में बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली। हर्ष से क्षोभ मचाते हुए बाहुबली के दुनिवार सेनारूपी समुद्र को रोककर राजाओं ने बड़ी मर्यादा के साथ कुमार बाहुबली को विजयसे युक्त किया अर्थात् दृष्टियुद्ध में उनकी विजय स्वीकार की। तदनन्तर मदोन्मत्त दिग्गजोंके समान अभिमानसे उद्धृत वे दोनों भाई जलयुद्ध करने के लिए सरोवर के जल में प्रविष्ट हुए और अपना लम्बी-लम्बी भुजाओं से एक दूसरे पर पानी उछालने लगे। चक्रवर्ती भरतके वक्षःस्थलपर बाहुबलीके द्वारा छोड़ी हुई जलकी उज्ज्वल छटाएं ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सुमेरुपर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही पड़ रहा हो। भरतेश्वरके द्वारा छोड़ा हुआ जल का प्रवाह अत्यन्त ऊँचे बाहुबलीके मुखको दूर छोड़कर दूरसे ही नीचे जा पड़ा।

भरतेश्वरने भी बाहुबली के ऊपर पानी फेंका था परन्तु बाहुबली के ऊँचे होने के कारण वह पानी उनके मुख तक नहीं पहुँच सका, दूरसे ही नीचे जा पड़ा। भरतका शरीर पाँच-सौ धनुष ऊँचा था और बाहुबलीका पाँच-सौ पच्चीस धनुष। इसलिए बाहुबली के द्वारा छोड़ा हुआ पानी भरत के मुख तथा वक्षःस्थल पर पड़ता था परन्तु भरत के द्वारा छोड़ा हुआ पानी बीच में ही रह जाता था-बाहुबली के मुख तक नहीं पहुँच पाता था। इस प्रकार जब भरतेश्वर ने इस जलयुद्ध में भी विजय प्राप्त नहीं की तब बाहुबली की सेनाओं ने फिर से अपनी विजय की घोषणा कर दी। अथान्तर सिंह के समान पराक्रम को धारण करनेवाले धीरवीर तथा परस्पर स्पर्धा करनेवाले वे दोनों नर शार्दूल-श्रेष्ठ पुरुष बाहुयुद्ध की प्रतिज्ञा कर रंगभूमि में आ उतरे। अपनी-अपनी भुजाओं के अहंकार से सुशोभित उन दोनों भाइयों का, अनेक प्रकार से हाथ हिलाने, ताल ठोकने, पैतरा बदलने और भुजाओं के व्यायाम आदि से बड़ा भारी बाहु युद्ध (मल्ल युद्ध) हुआ। जिसके मुकुटकी दीप्तिका समूह अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसे भरत को बाहुबली ने लीला मात्र में ही घुमा दिया और उस समय घूमते हुए चक्रवर्ती ने क्षण-भरके लिए अलातचक्र की लीला धारण की थी।

यवीयान् नृपशार्दूलं जायासं जितभारतम्।

जित्वाऽपि नानयद् भूमिं प्रभुरित्येव गौरवात्॥ (60)

बाहुबलीने राजाओं में श्रेष्ठ, बड़े तथा भरत क्षेत्र को जीतनेवाले भरत को जीतकर भी 'ये बड़े हैं' इसी गौरव से उन्हें पृथिवी पर नहीं पटका।

भुजोपरोधमुद्धृत्य स तं धत्ते स्म दोर्बली।

हिमाद्रिमिव नीलाद्रिर्महाकटभास्वरम्॥ (61)

किन्तु भुजाओं से पकड़कर ऊँचा उठाकर कन्धे पर धारण कर लिया। उस समय भरतेश्वर को कन्धे पर धारण करते हुए बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो नीलगिरि ने बड़े-बड़े शिखरों से देदीप्यमान हिमवान् पर्वत को ही धारण कर रखा हो।

तदा कलकलश्चक्रे पक्ष्यैर्भुजबली शिवः।

नृपैर्भरतगृह्यैस्तु लज्जया नमितं शिरः॥ (62)

उस समय बाहुबली के पक्षवाले राजाओंने बड़ा कोला हल मचाया और भरत के पक्ष के लोगोंने लज्जासे अपना शिर झुका लिया।

समक्षमीक्षमाणेषु पार्थिवेषूभयेष्वपि।

परां विमानतां प्राप्य ययौ चक्री विलक्षताम्॥ (63)

दोनों पक्ष के राजाओं के साक्षात् देखते हुए चक्रवर्ती भरत का अत्यन्त अपमान हुआ था इसलिए वे भारी लज्जा और आश्चर्यको प्राप्त हुए।

बद्धभ्रुकुटिरुद्रान्तरुधिरारुणलोचनः।

क्षणं दुरीक्षतां भजे चक्रो प्रज्वलितः क्रुधा॥ (64)

जिसने भाहे चढ़ा ली है, जिसकी रक्तके समान लाल-लाल आँखें इधर-उधर फिर रही हैं और जो क्रोधसे जल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती क्षण भर के लिए भी दुनिरीक्ष्य हो गया अर्थात् वह क्रोध से ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षण-भर नहीं देख सकता था।

क्रोधान्धेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयम्।

चक्रमुत्कृतानिः शेषद्विषश्चक्रं निधीशिना॥ (65)

उस समय क्रोधसे अन्धे हुए निधियों के स्वामी भरतने बाहुबली की पराजय करने के लिए समस्त शत्रुओं के समूहको उखाड़कर फेंकनेवाले चक्ररत्न का स्मरण किया।

आध्यानमात्रेमेत्याराददः कृत्वा प्रदक्षिणाम्।

अवध्यस्यास्य पर्यन्तं तस्थौ मन्दीकृतातपम्॥ (66)

स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरत के समीप आया, भरत ने बाहुबली पर चलाया परन्तु उनके अवध्य होने से वह उनकी प्रदक्षिणा देकर से तेजरहित हो उन्ही के पास जा ठहरा। भावार्थ-देवोपनीत शस्त्र कुटुम्ब के लोगों पर सफल नहीं होते, बाहुबली भरतेश्वर के एकपितृक भाई थे इसलिए भरतका चक्र बाहुबली पर सफल नहीं हो सका, उसका तेज फीका पड़ गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबली के समीप ही ठहर गया।

कृतं कृतं बतानेन साहसेनेति धिक्कृतः।

तदा महत्तमैश्चक्री जगामानुशयं परम्॥ (67)

उस समय बड़े-बड़े राजाओंने चक्रवर्तीको धिक्कार दिया और दुःख के साथ कहा कि 'बस-बस' 'यह साहस रहने दो'-बन्द करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक सन्ताप को प्राप्त हुए।

कृतापदान इत्युच्चैः करेण तुलयन्नृपम्।

सोऽवतीर्यासतो धीरोऽनिकृष्टां भूमिमापिपत्॥ (68)

आपने खूब पराक्रम दिखाया, इस प्रकार उच्च स्वर से कहकर धीर-वीर बाहुबली ने पहले तो भरतराज को हाथों से तोला और फिर कन्धे से उतारकर नीचे जमीन पर रख दिया अथवा (धीरो अनिकृष्टां ऐसा पदच्छेद करने पर) उच्च स्थान पर विराजमान किया।

सत्कृतः स जयाशंसभभ्येत्य नृपसत्तमैः।

मेने सोत्कर्षमात्मानं तदा भुजबली प्रभुः॥ (69)

अनेक अच्छे-अच्छे राजाओं ने समीप आकर महाराज बाहुबली के विजय की प्रशंसा करते हुए उनका सत्कार किया और बाहुबली ने भी उस समय अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव किया।

अचिन्त्यच्च किन्नाम कृते राजस्य भङ्गिनः।

लज्जाकरो विधिर्भात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठितः॥ (70)

साथ ही साथ वे यह भी चिन्तन करने लगे कि देखो, हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए यह कैसा लज्जा जनक कार्य किया है।

विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगास्त्विदम्।

दुस्त्यजं त्यजदप्येतद्भिर्दुष्कुलव्रवत्॥ (71)

यह साम्राज्य फलकाल में बहुत दुःख देनेवाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो, यह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चला जाता है। यह राज्य प्राणियोंको छोड़ देता है परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नहीं छोड़ते यह दुःखकी बात है।

अहो विषयसौख्यानां वैरूप्यमपकारिता।

भङ्गुरत्वमरुच्यत्वं सक्तैर्नान्विध्यते जनैः॥ (72)

अहा, विषयों में आसक्त हुए पुरुष, इन विषयजनित सुखों का निन्द्यपना, अपकार, क्षणभंगुरता और नीरस पने को कभी नहीं सोचते हैं।

को नाम मतिमानीप्सेद् विषयान् वेषदारुणान्।

येषां वशगतो जन्तुर्यात्यनर्थपरम्पराम्॥ (73)

जिनके वश में पड़े हुए प्राणी अनेक दुःखोंकी परम्परा को प्राप्त होते हैं ऐसे विषके समान भयंकर विषयों को कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करना चाहेगा?

वरं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा।

विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तशः॥ (74)

विष खा लेना कहीं अच्छा है क्योंकि वह एक ही भव में प्राणी को मारता है अथवा नहीं भी मारता है परन्तु विषय सेवन करना अच्छा नहीं है क्योंकि ये विषय प्राणियों को अनन्त बार फिर-फिर से मारते हैं।

आपातमात्र रम्याणां विपाककटुकात्मनाम्।

विषयाणां कृते नाज्ञो यात्यनर्थानपार्थकम्॥ (75)

जो प्रारम्भ कालमें तो मनोहर मालूम होते हैं परन्तु फलकाल में कड़वे (दुःख देनेवाले) जान पड़ते हैं ऐसे विषयों के लिए यह अज्ञ प्राणों क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखों को प्राप्त नहीं होता है ?

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः।

किंपाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत्॥ (76)

जो प्रारम्भ कालमें तो अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं और अन्त में प्राणों का अपहरण करते हैं ऐसे किंपाक फल (विषफल) के समान विषम इन विषयों को कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा?

शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निव्रजाशनि महारेगाः।

न तथोद्वेजकाः पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः॥ (77)

ये विषयरूपी शत्रु प्राणियोंको जैसा उद्वेग करते हैं वैसा उद्वेग शस्त्रोंका प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र, बिजली और बड़े-बड़े सर्प भी नहीं कर सकते हैं।

महाब्धिरौद्रसंग्रामभीमारण्यसरिद्गिरीन्।

भोगार्थिनो भजन्त्यज्ञा धनलाभ घनायया॥ (78)

भोगों की इच्छा करनेवाले मूर्ख पुरुष धन पाने की इच्छा से बड़े-बड़े समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतों में प्रवेश करते हैं।

दीर्घदोर्घातनिर्घात निर्घोषविषमीकृते।

यादसां यादसां पत्यौ चरन्ति विषयार्थिनः॥ (79)

विषयों की चाह रखनेवाले पुरुष जलचर जीवोंकी लम्बी-लम्बी भुजाओं के आघातसे उत्पन्न हुए वज्रपात-जैसे कठोर शब्दोंसे क्षुब्ध हुए समुद्रमें भी जाकर संचार करते हैं।

समापतच्छरव्रातनिरुद्धगगनाङ्गणम्।

रणाङ्गण विशन्त्यस्तभियो भोगैर्विलोभिताः॥ (80)

भोगों से लुभाये हुए पुरुष, चारों ओरसे पड़ते हुए बाणों के समूह से जहाँ आकाशरूपी आँगन भर गया है ऐसे युद्ध के मैदान में भी निर्भय होकर प्रवेश कर जाते हैं।

चरन्ति वनमानुष्या यत्र सत्रासलोचनाः।

ताः पर्यटन्त्यरण्यानीर्भोगाशोपहता जडाः॥ (81)

जिनमें वनचर लोग भी भयसहित नेत्रों से संचार करते हैं ऐसे भयंकर बड़े-बड़े वनोंमें भी भोगोंको आशासे पीड़ित हुए मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं।

सरितो विषमावर्तभीषणा ग्राहसंकुलाः।

तितीर्षन्ति बताविष्टा विषमैर्विषयग्रहैः॥ (82)

कितने दुःख की बात है कि विषयरूपी विषम ग्रहों से जकड़े हुए कितने ही लोग, ऊँची-नीची भंवरो से भयंकर और मगरमच्छों से भरी हुई नदियों को भी पार करना चाहते हैं।

आरोहन्ति दुरारोहन् गिरीनप्यभियोऽङ्गिनः।

रसायनरसज्ञान बलवादविमोहितः॥ (83)

रसायन तथा रस आदिके ज्ञानका उपदेश देनेवाले धूर्तों के द्वारा मोहित होकर उद्योग करनेवाले कितने ही पुरुष कठिनाई से चढ़ने योग्य पर्वतोंपर भी चढ़ जाते हैं।

अनिष्टवतिवेयमालिङ्गति बलाज्जरा।

कुर्वती पलितव्याजाद् रभसेन कचग्रहम्॥ (84)

यह जरा सफेद बालों के बहाने से वेगपूर्वक केशों को पकड़ती हुई अनिष्ट स्त्री के समान जबरदस्ती आलिंगन करती है।

भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद हिताहितम्।

भुक्तस्य जरसा जन्तोर्मृतस्य च किमन्तरम्॥ (85)

जो प्राणी भोगोंमें अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है वह हित और अहितको नहीं जानता तथा जिसे वृद्धावस्थाने घेर लिया है उसमें और मरे हुएमें क्या अन्तर है? अर्थात् बेकार होनेसे वृद्ध मनुष्य भी मरे हुएके समान है।

प्रसह्य पातयन् भूमौ गोत्रघु कृतवेपथुः।

जरापातो नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोद्धवन्॥ (86)

यह बुढ़ापा मनुष्य को शीत ज्वर के समान अनेक कष्ट देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार शीतज्वर उत्पन्न होते ही जबरदस्ती जमीन पर पटक देता है उसी प्रकार बुढ़ापा भी जबरदस्ती जमीनपर पटक देता है और जिस प्रकार शीतज्वर शरीर में कम्पन पैदा कर देता है उसी प्रकार बुढ़ापा भी शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है।

अङ्गसादं मतिभ्रेषं वाचामस्फुटतामपि।

जरा सुरा च निर्विष्टा घटयत्याशु देहिनाम्॥ (87)

शरीर में प्रविष्ट हुई तथा उपभोगमें आयी हुई जरा और मदिरा दोनों ही लोगों के शरीरको शिथिल कर देती हैं, उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर देती हैं और वचनोंमें अस्पष्टता ला देती हैं।

कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात्।

चाल्यते यद्वलाधानं जीवितालम्बनं नृणाम्॥ (88)

जिसके बलका सहारा मनुष्यों के जीवन का आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथी के द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है।

शरीरबलमेतश्च गजकर्णवदस्थिरम्।

रोगा खू पहतं चेदं जरद्देहकुटीरकम्॥ (89)

यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोंपड़ा रोगरूपी चूहों के द्वारा नष्ट किया हुआ है।

इत्याशाश्वमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः।

शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः॥ (90)

इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं फिर भी मोहके उदयसे जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हें नित्य मानता है यह कितने दुःखकी बात है?

चिरमाकलयन्नेवमग्रजस्यादुदात्तताम्।

व्याजहारैनमुद्दिश्य गिरः प्रपरुषाक्षराः॥ (91)

इस प्रकार बड़े भाई की नीचता का चिरकाल तक विचार करते हुए बाहुबली ने भरत को उद्देश्य कर नीचे लिखे अनुसार कठोर अक्षरोंवाली वाणी कही।

शृणु भो नृपशार्दूल क्षणं बैलक्ष्यमुत्सृज।

मुह्यतेदं त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिसाहसम्॥ (92)

हे राजाओं में श्रेष्ठ, क्षण-भरके लिए अपनी लज्जा या झेंप छोड़, मैं कहता हूँ सो सुन। तूने मोहित होकर ही इस न करने योग्य बड़े भारी साहस का सहारा लिया है।

अभेद्ये मम देहाद्रौ त्वया चक्रं नियोजितम्।

विद्धयकिंचित्करं वाज्रे शैले वज्रभिवापतत्॥ (93)

जो कभी भिद नहीं सकता। ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वत पर तूने चक्र चलाया है सो तेरा यह चक्र वज्र के बने हुए पर्वतपर पड़ते हुए वज्र के समान वर्थ है ऐसा निश्चयसे समझ।

अन्यत्र भ्रातृभाण्डानि भङ्क्त्वा राज्यं यदीप्सितम्।

त्वया धर्मो यशश्चैव तेन पेशलर्जितम्॥ (94)

दूसरी बात यह है कि जो तूने भाईरूप बरतनों को तोड़कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तूने बहुत ही अच्छा धर्म और यश का उपार्जन किया है।

चक्रभृद्भरतः स्रष्टुः सूनुराद्यस्य योऽग्रणीः।

कुलस्योद्धारकः सोऽभूदितिडाऽस्थायि च त्वया॥ (95)

तूने अपनी यह स्तुति भी स्थापित कर दी कि चक्रवर्ती भरत आदिबह्ना भगवान् वृषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र था तथा वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था।

जितां न भवतैवाद्य यत्यापोहतामिमाम्।

मन्यसेऽनन्यभोगीनां नृपश्रियमनश्वरीम्॥ (96)

हे भरत, आज तूने जिसे जीता है और जो पापसे भरी हुई है ऐसी इस राज्य लक्ष्मीको तू एक अपने ही द्वारा उपभोग करने योग्य तथा अविनाशी समझता है।

प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयाऽदृता।

नोचितैषामभायुष्मन् बन्धो न हि सतां मुदे।। (97)

जिसका तूने आदर किया है ऐसी यह राज्यलक्ष्मी अब तुझे ही प्रिय रहे, हे आयुष्मन्, अब यह मेरे योग्य नहीं है क्योंकि बन्धन सज्जन पुरुषोंके आनन्दके लिए नहीं होता है।

भावार्थ—यह लक्ष्मी स्वयं एक प्रकारका बन्धन है अथवा कर्म बन्धका कारण है इसलिए सज्जन पुरुष इसे कभी नहीं चाहते।

दूषितां कटकैरेनां फलिनीमपि ते श्रियम्।

केरणापि स्पृशेद् धीमान् लतां कण्टकिनीं च कः।। (98)

यद्यपि यह तेरी लक्ष्मी फलवती है तथापि अनेक प्रकार के काँटों से-विपत्तियों से दूषित है। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो काटेवाली लता को हाथसे छुयेगा भी।

विषकण्टकजालीव त्याज्यैशा सर्वथाऽपि नः।

निष्कण्टकां तपोलक्ष्मीं स्वीधानां कर्तुमिच्छताम्।। (99)

अब हम कण्टकरहित तपरूपी लक्ष्मी को अपने अधीन करना चाहते हैं इसलिए यह राज्यलक्ष्मी हम लोगोंके लिए विषके काँटों की श्रेणीके समान सर्वथा त्याज्य है।

मृष्यतां च तदस्भामिः कृतमागो यदीदृशम्।

प्रच्युतो विनयात् सोऽहं स्वं चापलमदीदृशम्।। (100)

अतएव जो मैंने यह ऐसा अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिए। मैं विनय से च्युत हो गया था अर्थात् मैंने आपको विनय नहीं की सो इसे मैं अपनी चंचलता ही समझता हूँ।

इत्युच्चरद् गिरामोघो मुखाद् बाहुबलीशितुः।

ध्वनिरब्दादिवाऽऽतप्तं जिष्णोराह्लादयन्मनः।। (101)

जिस प्रकार मेघ से निकलती हुई गर्जना सन्तप्त मनुष्यों को आनन्दित कर देती है उसी प्रकार महाराज बाहुबली के मुख से निकलते हुए वाणी के समूहने चक्रवर्ती भरतके सन्तप्त मन को कुछ-कुछ आनन्दित कर दिया था।

हा दुष्टं कृतमित्युचैरात्मानं च विगर्हयन्।

अनन्वातप्त पापेन कर्मणा स्वेन चक्रराट्॥ (102)

‘हा मैंने बहुत ही दुष्टता का कार्य किया है’। इस प्रकार जोर-जोर से अपनी निन्दा करता हुआ चक्रवर्ती अपने पाप कर्म से बहुत ही सन्तप्त हुआ।

प्रयुक्तानुनयं भूयो मनुमन्त्यं स धीरयन्।

न्यवृत्तत्र स्वसंकल्पाद् हो स्थैर्यं मनस्विनाम्॥ (103)

जिसमें अनेक प्रकार के अनुनय-विनय का प्रयोग किया गया है इस रीति से अन्तिम कुलकर महाराज भरत को बार-बार प्रसन्न करता हुआ बाहुबली अपने संकल्पसे पीछे नहीं हटा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुषों की स्थिरता भी आश्चर्यजनक होती है।

महाबलिनि निक्षिप्तराज्यर्द्धिः स स्वनन्दने।

दीक्षामुपादधे जैनीं गुरोराराधयन् पदम्॥ (104)

उसने अपने पुत्र महाबली को राज्यलक्ष्मी सौंप दी और स्वयं गुरुदेव के चरणोंकी आराधना करते हुए जैनी दीक्षा धारण कर ली।

दीक्षावल्ल्या परिष्वक्त स्त्यक्ताशेषपरिच्छदः।

स रेजे सलतः पन्नमोक्षक्षाम इव द्रुममः॥ (105)

जिसने समस्त परिग्रह छोड़ दिया है तथा जो दीक्षा रूपी लतासे आलिंगित हो रहा है ऐसा वह बाहुबली उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो पत्तोंके गिर जानेसे कृश लतायुक्त कोई वृक्ष ही हो।

गुरोरनुमतेऽधीती दधदेकविहारिताम्।

प्रतिभायोगमावर्ष मातस्थे किल संवृत्तः॥ (106)

गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रों का अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारीपन धारण करनेवाले जितेन्द्रिय बाहुबलीने एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया अर्थात् एक ही जगह एक ही आसन से खड़े रहने का नियम लिया।

स शंसितव्रतोऽनाश्वान् वनवल्लीततान्तिकः।

वल्मीकरन्ध्रनिः सर्पत् सर्पैरासीद् भयानकः॥ (107)

जिन्होंने प्रशंसनीय व्रत धारण किये हैं, जो कभी भोजन नहीं करते, और जिनके समीप का प्रदेश वनको लताओं से व्याप्त हो रहा है ऐसे वे बाहुबली वामी के छिद्रोसे निकलते हुए सर्पोंसे बहुत ही भयानक हो रहे थे।

श्वसदाविर्भवद्भोग भुजङ्गशिशुजृम्भितैः।

विषाड्कुरैरिवोपाङ्घ्रि स रेजे वेष्टितोऽभितः॥ (108)

जिनके फणा प्रकट हो रहे हैं ऐसे फुँकारते हुए सर्पके बच्चों को उछल-कूद से चारों ओर से घिरे हुए वे बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो उनके चरणोंके समीप विषके अंकूरे ही लग रहे हों। कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पों के समूह को धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे। फूली हुई बासुन्दै लता अपनी शाखारूपी भुजाओंके द्वारा उनका गाढ आलिंगन कर रही थी और उससे ऐसे से जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रही हो। जिसके कोमल पते विद्याधरियों ने अपने हाथ से तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणों पर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरोंपर पड़ी हो। ऐसी अवस्था होने पर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्री की इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो। तपरूपी अग्निके सन्तापसे सन्तप्त हुए बाहुबलीका केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे। तीव्र तपस्या करते हुए बाहुबलीके कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका धैर्य अचिन्त्य होता है जिससे कि वे कभी विकारको प्राप्त नहीं होते। वे सब बाधाओंको सहन कर लेते थे, अत्यन्त शान्त थे परिग्रहरहित थे और अतिशय देदीप्यमान थे इसलिए उन्होंने अपने गुणोंसे पृथ्वी, जल, वायु और अग्निको जीत लिया था। वे मार्गसे च्युत न होने के लिए भूख, प्यास, शीत, गरमी, तथा डांस, मच्छर आदि परीषहोंके दुःख सहन करते थे। उत्कृष्ट नग्न्य व्रतको धारण करते हुए बाहुबली इन्द्रियरूपी धूर्तों के द्वारा नहीं भेदन किये जा सके थे। ब्रह्मचर्यको उत्कृष्ट रूप से रक्षा करना ही नाग्न्य व्रत है और यही उत्तम तप है।

भावार्थ—वे यद्यपि नग्न रहते थे तथापि इन्द्रियरूप धूर्त उन्हें विकृत नहीं कर सके थे। वे रति और अरति इन दोनों परिषहों को भी सहन करते थे अर्थात् राग के कारण उपस्थित होने पर किसी से राग नहीं करते थे और द्वेष के कारण उपस्थित होने पर किसी से द्वेष नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि विषयों की इच्छा न रखनेवाले पुरुष को रति तथा अरति की बाधा नहीं होती।

नास्यासीत् स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेदमायुषः।

शरीरमशुचि स्त्रैणं पश्यतश्चर्मपुत्रिकाम् (119)

भोगा से विरक्त हुए तथा स्त्रियों के अपवित्र शरीरको चमड़े को पुतली के समान देखते हुए उन बाहुबली महाराज को स्त्रियों के द्वारा की हुई कोई बाधा नहीं हुई थी अर्थात् वे अच्छी तरह स्त्रीपरिषह सहन करते थे।

स्थितश्चर्या निषद्यां च शय्यां चासोड हेलया।

मनसाऽनमि संधित्सनुपानच्छयनासनम्॥ (120)

वे हमेशा खड़े रहते थे और जूता तथा शयन आदि की मनसे भी इच्छा नहीं करते थे इसलिए उन्होंने चर्या, निषद्या और शय्या परिषहको लीला मात्रमें ही जीत लिया था।

स सेहे वधमाक्रोशं परमार्थविदां वरः।

शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दथुः॥ (121)

जो स्वयं नष्ट हो जानेवाले शरीरमें निःस्पृह रहते हैं और न उसमें कोई आनन्द ही मानते हैं ऐसे परमार्थके जाननेवालों में श्रेष्ठ बाहुबली महाराज वध और आक्रोश परिषद को भी सहन करते थे।

याचित्रियेण नास्येष्टा विष्वाणेन तनुस्थितिः।

तेन वाचंयमो भूत्वा याञ्जाबाधामसोड सः॥ (122)

याचनासे प्राप्त हुए भोजनके द्वारा शरीरको स्थिति रखना उन्हें इष्ट नहीं था इसलिए वे मौन रहकर याचना परिषह की बाधाको सहन करते थे।

जह्लं मलं तृणस्पर्श सोऽसोढो ढोत्तमक्षमः।

व्युत्सृष्टतनुसंस्कारो निर्विशेषसुखासुखः॥ (123)

जिन्होंने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीर का संस्कार छोड़ दिया है और जिन्हें सुख तथा दुःख दोनों ही समान हैं ऐसे उन मुनिराजने स्वेद मल तथा तृण स्पर्श परिषह को भी सहन किया था।

रोगस्यायतनं देहमाध्यायन् धीरधीरसौ।

विविधातङ्गजां बाधां सहते स्म सुदुःसहाम्॥ (124)

यह शरीर रोगोंका घर है। इस प्रकार चिन्तवन करते ही वे धीर-वीर बुद्धि के धारक बाहुबली बड़ी कठिनतासे सहन करनेके योग्य रोगोंसे उत्पन्न हुई बाधा को भी सहन करते थे।

प्रज्ञापरिषहं प्राज्ञो ज्ञानजं गर्वमुत्सृजन्।

आसर्वज्ञं तदुत्कर्षात् स ससाह ससाहसः॥ (125)

ज्ञान का उत्कर्ष सर्वज्ञ होने तक है अर्थात् जबतक सर्वज्ञ न हो जावे तबतक ज्ञान घटता बढ़ता रहता है इसलिए ज्ञानसे उत्पन्न हुए अहंकार का त्याग करते हुए अतिशय बुद्धिमान और साहसी वे मुनिराज प्रज्ञा परिषह को सहन करते थे।

भावार्थ—केवलज्ञान होनेके पहले सभीका ज्ञान अपूर्ण रहता है ऐसा विचार कर वे कभी ज्ञानका गर्व नहीं करते थे।

स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः।

पुरस्कृतो मुदं नागात् सत्कृतो न स्म तुष्यति॥ (126)

वे अपने सत्कार पुरस्कारमें कभी उत्कण्ठित नहीं होते थे। यदि किसीने उन्हें अपने कार्य में अगुआ बनाया तो वे हर्षित नहीं होते थे और किसीने उनका सत्कार किया तो सन्तुष्ट नहीं होते थे। **भावार्थ**—अपने कार्यमें किसीको अगुआ बनाना पुरस्कार कहलाता है तथा स्वयं आये हुएका सम्मान करना सत्कार कहलाता है। वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार दोनों में ही निरुत्सुक रहते थे उन्होंने सत्कार पुरस्कार परिषह अच्छी तरह सहन किया था।

परीषहमलाभं च संतुष्टो जयति स्म सः।

अज्ञानादर्शनोद्धता बाधासीत्रास्य योगिनः॥ (127)

सदा सन्तुष्ट रहनेवाले बाहुबली ने अलाभ परिषह को जीता था तथा अज्ञान और अदर्शन से उत्पन्न होनेवाली बाधाएँ भी उन मुनिराज को नहीं हुई थीं।

परीषहजयादस्य विपुला निर्जराऽभवत्।

कर्मणां निर्जरोपायः परीषहजयः परः॥ (128)

इस प्रकार परिषहों के जीतनेसे उनके बहुत बड़ी कर्मों की निर्जरा हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि परिषहों को जीतना ही कर्मों की निर्जरा करनेका श्रेष्ठ उपाय है।

क्रोधं तितिक्षया मानमुत्सेक परिवर्जनैः।

मायामृजुतया लोमं संतोषेण जिगाय सः॥ (129)

उन्होंने क्षमा से क्रोध को, अहंकार के त्यागसे मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीता था।

पञ्चेन्द्रियाण्यनायासात् सोऽजयज्जितमन्मथः।

विषयेन्धनदीप्तस्य कामाग्नेः शमनं तपः॥ (130)

कामदेवको जीतनेवाले उन मुनिराजने पाँच इन्द्रियोंको अनायास ही जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि विषयरूपी ईंधनसे जलती हुई कामरूपी अग्निको शमन करनेवाला तपश्चरण ही है।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश करना तप है और यह तभी हो सकता है जब कामरूपी अग्निको जीत लिया जावे।

आहारमयसंज्ञे च समैथुनपरिग्रहे।

अनङ्गविजयादेताः संज्ञाः क्षपयति स्म सः॥ (131)

उन्होंने कामको जीत लेने से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओं को नष्ट किया था।

इत्यन्तरङ्गशत्रूणां स मञ्जन प्रसरं मुहुः।

जयति स्माऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मविद् विदिताखिलः॥ (132)

इस प्रकार अन्तरंग शत्रुओंके प्रसारको बार बार नष्ट करते हुए उन आत्मज्ञानी तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाले मुनिराजने अपने आत्मा के द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था।

व्रतं च समितीः सर्वाः सम्यगिन्द्रियरोधनम्।

अचेलतां च केशानां प्रतिलुञ्चनसंग रम्॥ (133)

आवश्यकेष्वसंबाधमस्नानं क्षितिशायिताम्।

अङ्गन्तधावनं स्थित्वा भुक्ति भक्तं च नासकृत्॥ (134)

प्राहुर्मूलगुणानेतान् तथोत्तरगुणाः परे।

तेषां माराधने यत्नं सोऽतनिष्ठतनुर्मुनिः॥ (135)

पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियदमन, वस्त्र परित्याग, केशों का लोंच करना, छह आवश्यकों में कभी बाधा नहीं होना, स्नान नहीं करना, पृथिवीपर सोना, दाँतौन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिन में एक बार आहार लेना, इन्हें अद्विईस मूलगुण कहते हैं। इनके सिवाय चौरासी लाख उत्तर गुण भी हैं , वे महामुनि उन सबके पालन करनेमें प्रयत्न करते थे।

एतेष्वहापयन् कांचिद् व्रतशुद्धिं परां श्रितः।

सोऽदीपि किरणैर्भा स्वानिव दीप्तैस्तपोऽशुभिः॥ (136)

इनमें कुछ भी नहीं छोड़ते हुए अर्थात् सबका पूर्ण रीति से पालन करते हुए वे मुनिराज व्रतों की उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त हुए थे तथा जिस प्रकार देदीप्यमान किरणोंसे सूर्य प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तपकी देदीप्यमान किरणों से प्रकाशमान हो रहे थे।

गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परां निःशल्यतां गतः।

धर्मदशभिरारुढदाढर्योऽभून्मुक्तिवर्त्मनि॥ (137)

वे रसगौरव, शब्द गौरव, और ऋद्धिगौरव इन तीनोंसे ग्रहित थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दशधर्मोंके द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में अत्यन्त दृढता प्राप्त हो गयी थी।

गुप्तित्रयमयीं गुप्तिं श्रितो ज्ञानासिमासुरः।

संवर्मितः समितिभिः स भेजे विजिगीषुतांम्॥ (138)

वे मुनिराज किसी विजिगीषु अर्थात् शत्रुओं को जीतने की इच्छा करनेवाले राजाके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा किसी दुर्ग आदि सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है, तलवार से देदीप्यमान होता है और कवच पहने रहता है उसी प्रकार उन मुनिराज ने भी तीन गुप्तियों रूपी दुर्गोका आश्रय ले रखा था, वे भी ज्ञानरूपी तलवारसे देदीप्यमान हो रहे थे और पाँच समितियाँरूप कवच पहन

रखा था। **भावार्थ**-यथार्थ में वे कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते थे।

कषायतस्करैर्नास्य हृतं रत्नत्रयं धनम्।

सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रभाद्यतः॥ (139)

कषायरूपी चोरोंके द्वारा उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था क्योंकि वे सदा जागते रहते थे और बार-बार प्रमादरहित होते रहते थे।

भावार्थ-लोक में भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सदा जागता रहता है और कभी प्रमाद नहीं करता उसकी चोरी नहीं होती। भगवान् बाहुबली अपने परिणामोंके शोधमें निरन्तर लवलीन रहते थे और प्रमाद को पासमें भी नहीं आने देते थे इसलिए कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपो धनको नहीं चुरा सके थे।

वाचंयमस्य तस्यासीन्न जातु विकथादरः।

नाभिद्यतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुसंवृतम्॥ (140)

वे सदा मौन रहते थे इसलिए कभी उनका विकथाओं में आदर नहीं होता था। और उनका मनरूपी दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था इसलिए वह इन्द्रियोंके द्वारा नहीं तोड़ा जा सका था। **भावार्थ**-वे कभी विकथाएँ नहीं करते थे और पाँचों इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखते थे।

मनोऽगारे महत्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका।

व्यदीपि तत एवासन् विश्वेऽर्था ध्येयतापदे॥ (141)

उनके मनरूपी विशाल घरमें सदा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान रहता था इसलिए ही समस्त पदार्थ उनके ध्येय कोटि में थे अर्थात् ध्यान करने योग्य थे।

भावार्थ-पदार्थों का ध्यान करने के लिए उनका ज्ञान होना आवश्यक है, मुनिराज बाहुबलीको सब पदार्थों का ज्ञान था इसलिए सभी पदार्थ उनके ध्यान करने योग्य थे।

मतिश्रुताभ्यां निःशेषमर्थतत्त्वं विचिन्वतः।

करामलकवद् विश्वं तस्य विस्पष्टताकगात्॥ (142)

वे मति और श्रुतज्ञान के द्वारा संसारके समस्त पदार्थों का चिन्तवन करते रहते थे इसलिए उन्हें यह जगत् हाथ पर रखे हुए आँवले के समान अत्यन्त स्पष्ट था।

परीषहजयैदीप्तो विजितेन्द्रियशत्रवः।

कषायशत्रूनुच्छेद्य स तपो राज्यभन्वभूत्॥ (143)

जो परिषहों को जीत लेनेसे देदीप्यमान हो रहे हैं और जिन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है ऐसे वे बाहुबली कषायरूपी शत्रुओं को छेदकर तपरूपी राज्य का अनुभव कर रहे थे।

योगजाश्चर्द्धयस्तस्य प्रादुरासंस्तपोबलात्।

यतोऽस्याविरभूच्छक्तिसैलोक्यक्षोभणं प्रति॥ (144)

तपश्चरणका बल पाकर उन मुनिराज के योगके निमित्त से होनेवाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं जिनसे कि उनके तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने की शक्ति प्रकट हो गयी थी।

चतुर्भेदेऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्षस्तदोदभूत्।

तत्तदावरणीयानां क्षयोपशमजृभितः॥ (145)

उस समय उनके मतिज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षमोपशमसे मतिज्ञान आदि चारों प्रकारके ज्ञानों में वृद्धि हो गयी थी।

मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन्।

श्रुतज्ञानेन विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तरः॥ (146)

मतिज्ञान की वृद्धि होने से उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रकट हो गयी थी और श्रुत ज्ञान के बढ़ने से समस्त अंगों तथा पूर्वों के जानने आदि की शक्ति का विस्तार हो गया था।

परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत्।

मनः पर्ययबोधे च संप्रापद् विपुलां मतिम्॥ (147)

वे अवधिज्ञान में परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधि को प्राप्त हुए थे तथा मनःपर्यय ज्ञान में विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त हुए थे।

ज्ञानशुद्ध्या तपः शुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी।

ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः॥ (148)

उन मुनिराज के ज्ञान की शुद्धि होने से तप की शुद्धि भी बहुत अधिक हो गयी

थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्षके ठहरने में मूल कारण उसकी जड़ है उसी प्रकार तपके ठहरने आदिमें मूल कारण ज्ञान है।

तपसोऽग्रेण चोग्रोग्रतपसा चातिकर्षितः।

स दीप्ततपसाऽस्यन्तं दिदीपे दीप्तिमानिव।। (149)

वे महामुनि उग्र, और महान् तप से अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तप से सूर्य के समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे।

सोऽतप्यत तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत्।

तथोत्तराण्यपि प्राप्तसमुत्कर्षाप्यनुक्रमात्।। (150)

उन्होंने तप्तघोर और महाघोर नामके तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे।

तपोभिरकृशैरैभिः स बभौ मुनिसत्तमः।

धनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गमस्तिमान्।। (151)

इन बड़े-बड़े तपों से वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघों के आवरण से निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणों से सुशोभित हो रहा हो।

विक्रियाऽष्टतयी चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात्।

विक्रियां निखिलां हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः।। (152)

यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकार की विक्रिया अर्थात् विकार भावों को छोड़कर कठिन तपस्या करते थे तथापि आश्चर्य की बात है कि उनके तप के बल से आठ प्रकार की विक्रिया प्रकट हो गयी थी।

भावार्थ—रागद्वेष आदि विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करनेवाले उन बाहुबली महाराजके अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व यह आठ प्रकार की विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थीं।

प्राप्तौषधर्द्धैरस्यासीत् संनिधिर्जगते हितः।

आमर्शक्ष्वेल जल्लघ्नैः प्राणिनामुपकारिणः।। (153)

जिन्हें अनेक प्रकारकी औषध ऋद्धि प्राप्त है और जो आमर्श, श्वेल तथा जल्ल आदिके द्वारा प्राणियों का उपकार करते हैं ऐसे उन मुनिराजकी समीपता जगत्का

कल्याण करनेवाली थी। **भावार्थ**—उनके समीप रहनेवाले लोगोंके समस्त रोग नष्ट हो जाते थे।

अनाशुषोऽपि तस्यासीदूरसिद्धिः शक्तिमात्रतः।

तपोबलसमुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे।। (154)

यद्यपि वे आहार नहीं लेते थे तथापि शक्ति मात्रसे ही उनके रसत्रयद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरणके बलसे प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी।

भावार्थ—भोजन करनेवाले मुनिराजके ही रसत्रयद्धि का उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नहीं करते थे इसलिए उनके शक्तिमात्रसे रसत्रयद्धि का सद्भाव बतलाया है।

अक्षीणावसथः सोऽभूत्तथाऽक्षीण महाशनः (नसः)।

सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षूणमुपासितम्।। (155)

वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धि को भी धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि पूर्ण रीतिसे पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है।

निर्द्वन्द्ववृत्तिरध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वरः।

ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः।। (156)

विकल्परहित चित्तकी वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है ऐसा निश्चय कर योगके जाननेवालों में श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराज ने मन को जीतकर उसे ध्यान के अभ्यास में लगाया।

क्षमामथोत्तमां भजे परं मार्दवमार्जवम्।

सत्यं शौचं तपस्त्यागावाकिंचन्यं च संयमम्।। (157)

ब्रह्मचर्यं च धर्म्यस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः।

योगसिद्धौ परां सिद्धिमामनन्तीह योगिनः।। (158)

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावनाएं हैं। इस लोकमें योग की सिद्धि होने पर ही उत्कृष्ट सिद्धि-सफलता-मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ऐसा योगी लोग मानते हैं।

अनित्यात्राण संसारैकत्वाऽन्यत्वान्यशौचताम्।

निर्जरास्रवसंरोधलोकस्थित्यनुचिन्तनम्॥ (159)

धर्मस्याख्याततां बोधेर्दुर्लभत्वं च लक्षयन्।

सोऽनुप्रेक्षाविधिं दध्यौ विशुद्धं द्वादशात्मकम्॥ (160)

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्माख्यातत्व इन बारह भावनाओं का उन्होंने विशुद्ध चित्त से चिन्तन किया था।

आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं चानुचिन्तयन्।

सध्यानमभजद् धर्म्यं कर्माशान् परिशातयन्॥ (161)

वे आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिन्तन करते हुए तथा कर्मों के अंशों को क्षीण करते हुए धर्मध्यान धारण करते थे।

दीपिकायामिवामुष्यां ध्यानदीप्तौ निरीक्षिताः।

क्षणं विशीर्णाः कर्माशाः कज्जलांशा इवाभितः॥ (162)

जिस प्रकार दीपिका के प्रज्वलित होने पर उसके चारों ओर कज्जलके अंश दिखाई देते हैं उसी प्रकार उनकी ध्यानरूपी दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर क्षणभर नष्ट हुए कर्मों के अंश दिखाई देते थे।

तद्देहदीप्तिप्रसरो दिङ्मुखेषु परिस्फुरन्।

तद्वनं गारुडग्रावच्छयातत भिवातनोत्॥ (163)

सब दिशाओं में फैलता हुआ उनके शरीरकी दीप्तिका समूह उस वनको नीलमणि को कान्तिसे व्याप्त हुआ-सा बना रहा था।

तत्पदोपान्तविश्रान्ता विस्रब्धा मृगजातयः।

बबाधिरं मृगैर्नान्यैः क्रूरैर्क्रूरतां श्रितैः॥ (164)

उनके चरणों के समीप विश्राम करनेवाले मृग आदि पशु सदा विश्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हें सिंह आदि दुष्ट जीव कभी बाधा नहीं पहुंचाते थे क्योंकि वे स्वयं वहाँ आकर अर्थात् शान्त हो जाते थे।

विरोधिनोऽप्यमी मुक्तविरोध स्वैस्मासिताः।

तस्योपाडधीभसिंहाद्याः शशंसुवैभवं मुनेः॥ (165)

उनके चरणों के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराज के ऐश्वर्य को सूचित करते थे।

जरज्जम्बूकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका।

स्वशावनिर्विशेषं तामपीष्यत् स्तन्यमात्मनः॥ (166)

हाल की व्याथी हुई सिंही भैसे के बच्चे का मस्तक सूंघकर उसे अपने बच्चे के समान अपना दूध पिला रही थी।

करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः।

स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः॥ (167)

हाथी अपने झुण्ड के मुखियों के साथ-साथ सिंहों के पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तन के पीनेमें उत्सुक हुए सिंहके बच्चे हथिनियोंके समीप पहुंच रहे थे।

कलभान् कलभाङ्कारमुखरान् नखरैः खरैः।

कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दिन यूथपैः॥ (168)

बालकपन के कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियों के बच्चों को सिंह अपने पंखे नाखूनों से उनकी गर्दन पर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंह को हाथियों के सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे-उसका अभिनन्दन कर रहे थे।

करिणयो विसिनीपत्रपुटैः पानीयमानयत्।

तद्योगपीठपर्यन्तभुवः सम्माजनेच्छया॥ (169)

उन मुनिराज के ध्यान करनेके आसनके समीपकी भूमिको साफ करने की इच्छा से हथिनियाँ कमलिनी के पत्तोंका दोना बनाकर उनमें भर-भरकर पानी ला रही थीं।

पुष्करैः पुष्करोदस्तैर्न्यस्तैरधिपदद्वयम्।

स्तम्बेरमा मुनि भेजुरहो शमकरं तपः॥ (170)

हाथी अपने मुंडके अग्रभाग से उठाकर लाये हुए कमल उनके दोनों चरणों पर

रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे। अहा, तपश्चरण कैसी शान्ति उत्पन्न करनेवाला है।

उपाङ्घ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः।

विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः॥ (171)

वे मुनिराज चरणोंके समीप आये हुए सर्पों के काले फणाओं से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजा के लिए नीलकमलों की मालाएँ ही बनाकर रखी हों।

फणमात्रोद्गता रन्धात् फणिनः शितयोऽद्युतन्।

कृताः कुवलयैरर्धा मुनेरिव पदान्तिके॥ (172)

बामी के छिद्रों से जिन्होंने केवल फणा ही बाहर निकाले हैं ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो मुनिराज के चरणों के समीप किसी ने नील-कमलों का अर्घ ही बनाकर रखा हो।

रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः।

मुनि भजन्त्यो भक्त्येव पुष्पाद्यैर्नतिपूर्वकम्॥ (173)

वन की लताएँ फूलों से उज्वल तथा नीचे को झुकी हुई छोटी छोटी डालियों से ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थीं मानो फूलों का अर्घ लेकर भक्ति से नमस्कार करती हुई मुनिराज की सेवा ही कर रही हों।

शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः।

बभुर्व नगुमास्तोषात्रिनृतसव इवासकृत्॥ (174)

वन के वृक्ष, जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायु से हिल रहे हैं ऐसे शाखाओं के अग्रभागों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सन्तोष से बार-बार नृत्य ही करना चाहते हों।

कलैरलिरुतोद्गानैः फणिनो ननृतुः किल।

उत्फणाः फणरस्त्रीशुदीपै भोगैर्विवर्तितैः॥ (175)

जिनके फणा ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे सर्प, भ्रमरों के शब्दरूपी सुन्दर गाने के साथ-साथ फणाओंपर लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्यमान अपने फणाओंको घुमा-घुमाकर नृत्य कर रहे थे।

पुंस्कोकिलकलालापडिण्डमानुगतैर्लयैः।

चक्षुः श्रवस्तु पश्यत्सु तद्विषोऽनटिषुर्मुहुः॥ (176)

मोर, कोकिलों के सुन्दर शब्दरूपी डिण्डिम बाजेके अनुसार होनेवाले लयके साथ-साथ सर्पों के देखते रहते भी बार-बार नृत्य कर रहे थे।

महिम्ना शमिनः शान्तमित्यभूत्तच्च काननम्।

धत्ते हि महतां योगः शममप्यशमात्मसु॥ (177)

इस प्रकार अतिशय शान्त रहनेवाले उन मुनिराजके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषों का संयोग जरूर जीवों में भी शान्ति उत्पन्न कर देता है।

शान्तस्वनैर्न दन्ति स्म वनान्तेऽस्मिन् शकुन्तयः।

घोषयन्त इवात्यन्तं शान्तमेतत्तपोवनम्॥ (178)

इस वन में अनेक पक्षी शान्त शब्दोंसे चहक रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस बात की घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है।

तपोनुभावादस्यैवं प्रशान्तेऽस्मिन् वनाश्रये।

विनिपातः कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन॥ (179)

उन मुनिराजके तपके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शान्त हो गया था कि यहाँ के किसी भी जीव को किसी के भी द्वारा कुछ भी उपद्रव नहीं होता था।

महसास्य तपोयोगजृम्भितेन महीयसा।

बभूवुर्हतहृद्भवान्ताः तिर्यञ्चोऽप्यनमिद्गुहः॥ (180)

तप के सम्बन्धसे बढ़े हुए मुनिराज के बढ़े भारी तेज से तिर्यचों के भी हृदय का अन्धकार दूर हो गया था और अब वे परस्पर में किसी से द्रोह नहीं करते थे-अहिंसक हो गये थे।

गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थं तं मुनीश्वरम्।

असकृत्पूजयामासुरवतीर्य नभश्चराः॥ (181)

विद्याधर लोग गति भंग हो जानेसे उनका सद्भाव जान लेते थे और विमानसे उतरकर ध्यान में बैठे हुए उन मुनिराजकी बार-बार पूजा करते थे।

महिम्नाऽस्य तपोवीर्यजनितेनालघीयसा।

मुहुरासनकम्पोऽभून्नतमूर्ध्ना सुधाशिनाम्॥ (182)

तप की शक्तिसे उत्पन्न हुए मुनि राजके बड़े भारी माहात्म्य से जिनके मस्तक झुके हुए हैं ऐसे देवों के आसन भी बार-बार कम्पायमान होने लगते थे।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः।

वल्लीरुद्वेष्टयामासु'र्मुनेः सर्वाङ्गसंगिनीः॥ (183)

कभी-कभी क्रीडा के हेतु से आयी हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटा जाती थीं।

इत्युपारूढ सद्भयानबलोद्भूततपोबलः।

स लेश्याशुद्धिमास्कन्दन् शुक्लमानोन्मुखोऽभवत्॥ (184)

इस प्रकार धारण किये हुए समीचीन धर्म ध्यानके बलसे जिनके तप की शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेश्याकी विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यानके सम्मुख हुए।

वत्सरानशनस्यान्ते भरत शेन पूजितः।

स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम॥ (185)

एक वर्षका उपवास समाप्त होनेपर भरतेश्वरने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली कभी नष्ट नहीं होनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त हुए। भावार्थ-दीक्षा लेते समय बाहुबली ने एक वर्षका उपवास किया था। जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हें अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।

हृद्यस्य हार्द तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि केवलम्॥ (186)

वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेशको प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्त से उसे दुःख पहुँचा है यह विचार बाहुबली के हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। भावार्थ-भरतके पूजा करते ही बाहुबलीका हृदय निश्चिन्त हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया।

केवलाकोदयात् प्राक् पश्चाच्च विधिवद् व्यधात्।

सपर्या भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः॥ (187)

प्रसन्न है बुद्धि जिसकी ऐसे सम्राट भरतने केवलज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने के पहले और पीछे-दोनों ही समय विधिपूर्वक उन मुनिराजकी पूजा की थी।

स्वागःप्रमार्जनार्थंज्या' 'प्राक्तनी भरतेशिनः।

पाश्चात्त्याऽत्यायताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत्॥ (188)

भरतेश्वर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए की थी और केवलज्ञान होने के बाद जो बड़ी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करनेके लिए की थी।

या कृता भरतेशेन महेज्या स्वानुजन्मनः।

प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः॥ (189)

जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे भाई बाहुबली की भरतेश्वर ने जो बड़ी भारी पूजा की थी उसका वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ?

स्वजन्मानुगमोऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः।

जन्मान्तरानुबन्धश्च प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः॥ (190)

इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः।

तेषां नु सर्वसामग्री कां न पुष्पाति सत्क्रियाम्॥ (191)

प्रथम तो बाहुबली भरत के छोटे भाई थे, दूसरे भरतको धर्मका प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनों का अन्य अनेक जन्मोंसे सम्बन्ध था, और चौथे उन दोनोंमें बड़ा भारी प्रेम था इस प्रकार इन चारोंमें से एक-एक भी भक्तिकी अधिकताको बढ़ानेवाले हैं, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रियाको पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता ?

सामात्यः समहीपालः सान्तःपुर पुरोहितः।

तं बाहुबलियोगीन्द्रं प्रणनामाधिराट् मुदा॥ (192)

सम्राट् भरतेश्वर ने मन्त्रियों के साथ, राजाओं के साथ और अन्तःपुर की समस्त स्त्रियों तथा पुरोहित के साथ उन बाहुबली मुनिराज को बड़े हर्ष से नमस्कार किया था।

इस विषयमें अधिक कहाँ तक कहा जावे, संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि उसने रत्नों का अर्घ बनाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नों की ज्योति के दीपक चढ़ाये थे, मोतियों से अक्षत की पूजा की थी, अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया था, कल्पवृक्षके टुकड़ों (चूणों) से धूपकी पूजा की थी, पारिजात आदि देववृक्षों के फूलों के समूहसे पुष्पोंकी अर्चा की थी, और फलों के स्थानपर रत्नों सहित समस्त निधियाँ चढ़ा दी थीं इस प्रकार उसने रत्नमयी पूजा की थी। आसन कम्पायमान होने से जिन्हें बाहुबली के केवलज्ञान उत्पन्न होने का बोध हुआ है ऐसे इन्द्र आदि देवों ने आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की।

उस समय स्वर्गके बगीचे के वृक्षों को हिलाने में चतुर तथा गंगा नदीकी बूदों को हरण करनेवाला सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रहा था। देवों के नगाड़े आकाश में गम्भीरतासे बज रहे थे और कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुआ फूलों का समूह आकाश में पड़ रहा था। उनके ऊपर देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ रत्नों का छत्र सुशोभित हो रहा था और नीचे बहुमूल्य मणियों का बना हुआ दिव्य सिंहासन देदीप्यमान हो रहा था। उनके दोनों ओर ऊँचाई पर चमरोंका समूह स्वयं ढूल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उनके योग्य सभाभूमि अर्थात् गन्धकूटी भी बनायी गयी थी।

सुरैरित्यर्चितः प्राप्तकेवलर्द्धिः स योगिराट्।

व्यद्युतन्मुनिभिर्जुष्टः शाशीवोडुभिराश्रितः॥ (201)

इस प्रकार देवों ने जिनकी पूजा की है और जिन्हें केवलज्ञानरूपी ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे योगिराज अनेक मुनियोंसे घिरे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नक्षत्रों से घिरा हुआ चन्द्रमा ही हो।

घातिकर्मक्षयोद्धूतामुद्बहन् परमेष्ठिताम्।

त्रिजहार महीं कृत्स्नां सोऽभिगम्यः सुधाशिनाम्॥ (202)

जो घातिया कर्मों के क्षयसे उत्पन्न हुई अर्हन्त परमेष्ठी की अवस्था को धारण कर रहे हैं तथा इसीलिए देव लोग जिनकी उपासना करते हैं ऐसे भगवान् बाहुबलीने समस्त पृथिवी में विहार किया।

इत्थं स विश्वविद्विधं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः।

केलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः॥ (203)

इस प्रकार समस्त पदार्थों को जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृत के द्वारा समस्त संसार को सन्तुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्य से पवित्र हुए कैलास पर्वत पर जा पहुँचे। जिन्होंने समस्त राजाओं की सभामें दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्ध के द्वारा भरत की समस्त कीर्ति जीत ली थी, जिन्होंने बड़े भारी राज्यके भार को तृणके समान तुच्छ समझकर मुक्ति प्राप्त करने के लिए दीक्षा धारण की थी और जो चरमशरीरियोंमें सबसे मुख्य थे ऐसे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें। सब क्षत्रियों के सामने भरत की विजय लक्ष्मी देदीप्यमान चक्रकी मूर्तिके बहानेसे जिन बाहुबलीके समीप गयी थी परन्तु जिनके द्वारा सदाके लिए तिरस्कृत होकर लज्जाका पात्र हुई थी और जिन्होंने अपने पिताका मार्ग (मुनिमार्ग स्वीकृत किया था वे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें। जो अनेक राजाओं के सामने सफल हुई जयलक्ष्मीके समागमको आशाको धारण कर रहे थे, सबसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगरूपी घरमें व्याप्त थी और जिन्होंने वास्तविक यशके लिए तप धारण किया था वे आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र सदा जयवन्त हों। जिनकी भुजाओं का बल क्षत्रियों के सामने भरतराज के साथ हुए मल्लयुद्ध में प्रसिद्ध हुआ था, और जिनके नामके अक्षर स्मरण में आते ही प्राणियों के समूह को पवित्र कर देते हैं वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों। जिनके चरणों को पाकर सर्पों के मुंह के उच्छ्वाससे निकलती हुई विषकी अग्नि बार-बार शान्त हो जाती थी, जो समस्त लोक में मान्य हैं, और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओं को विद्याधरियाँ अपने हाथों के अग्रभाग से हटा देती थीं वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हो।

अनुभवादि से मैं जाना-माना-मैं हूँ अनन्त बोधात्मक आत्मा

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: पायोजी मैंने रामरतन...)

जाना है मैंने स्वात्मा के अनन्त वैभव...

श्रद्धा प्रज्ञा व अनुभव से...जाना है चैतन्य-वैभव।

जो न पढ़ा जो न देखा जो न सुना विषय,

वो भी मुझे होता है ज्ञात, अष्टांग निमित्त ज्ञान से॥ (1)

“मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु”

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध मेधा प्रतिभा से
अभिनिबोध (अनुमान) से ज्ञात होता जो अप्रत्यक्ष विषय,
आगमाश्रितज्ञान मुझे होता है सो मतिज्ञान विशेष से॥ (2)
तत्कालीन पदार्थ साक्षात्कार होता मुझे बुद्धि बल से,
अतीत का ज्ञान मुझे होता प्रज्ञा विशेष से।
त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान होता मेधा बल से,
नवीन नीवन उन्मेषशालिनी ज्ञान होता/(मुझे), प्रतिभा बल से॥ (3)

“तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं” होता है इसके कारण,
“अवग्रहेहावाय धारणाः” होते हैं सहयोगी विशेष रूप से।

बहुबहुविधक्षिप्रानिः सृतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणाम्,
होता है अर्थज्ञान मुझे व्यञ्जनस्यावग्रहः माध्यम से॥ (4)
इसके कारण होते क्षयोपशम विशेष रूप से,
स्वाध्याय-ध्यान चिन्तन मनन होते सततरूप से।

विनम्र सत्यग्राही जिज्ञासु प्रवृत्ति गुणग्रहण रूप से,
दोषहरण व आत्मशोधन-समता शांति भाव से॥ (5)
सभी से शिक्षा लहूँ विश्व को शिक्षा दूँ यह है पवित्र भावना,
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ करूँ मैं सतत भावना।

इससे मेरी अन्तःप्रज्ञा हो रही सतत विकास,
अन्तः शुद्धि से आध्यात्मिक वृत्ति हो रही सतत विकास॥ (6)

इससे मुझे श्रद्धा-प्रज्ञा व अनुभव अनुमानादि से,
होता है ज्ञान अज्ञात पूर्व के स्वप्न-शकुन-अंगस्फूरणादि से।
विज्ञान-कानून-राजनीति संविधान से ले धर्म,
होता है परिज्ञान सत्य-असत्य व प्रगतिशील रूप से॥ (7)
अन्य के अज्ञात तथा विपरीत भी होता जो सत्य-तथ्य,
उसका भी मुझे होता है ज्ञान योग्यायोग्य अन्तः प्रज्ञा से।

इससे मुझे होता विश्वास आत्मा के चैतन्य वैभव,
 अवधि-मनः पर्यय तथा केवलज्ञान के वैभव॥ (8)
 इससे मुझे होता है श्रद्धान मैं नहीं हूँ भौतिकमय,
 भौतिक में ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा अनुभूति होना असंभव।
 स्व आत्म वैभव का ऐसे श्रद्धान से मैं करूँ साधना,
 ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि-वर्चस्व रहित आत्मारधना॥ (9)
 दीन-हीन व अहंकार परे आध्यात्मिक गौरव भावना,
 समता शान्ति निस्पृहता से वीतरागता की साधना।
 इससे मुझे हो रहे हैं विविध प्रकार के लाभ,
 बढ़ रही मेरी श्रद्धा-प्रज्ञा-संतुष्टी व अनुभूति॥ (10)
 शोध-बोध-लेखन-प्रबोधन हो रहे वैश्विक रूप से,
 तथापि मैं आकिंचन्य रूप से आत्मविकास करूँ भाव से।
 मैं हूँ जाना, मैं हूँ माना मैं नहीं हूँ तन-मन-अक्ष,
 मैं हूँ अनन्त बोधात्मक आत्मा 'कनकसूरी' निश्चय से॥ (11)

ग.पु.काँ. सागवाड़ा दि-18/2/2021 प्रातः 7:18 (केशलॉच)

प्राचीन काल में मनुष्य में अत्यधिक आत्मिक शक्ति होने के कारण वे आत्मिक शक्ति से ही प्रत्येक कार्य सरल उपायों से कम समय, अर्थ, शारीरिक, भौतिक, शक्ति को प्रयोग करके सुचारु रूप से सम्यक रूप से करता था। काल क्रम से मनुष्य में क्रोध, मान, माया लोभ, काम विकार, स्वार्थान्धता आदि प्रगट होने के कारण उनकी आध्यात्मिक शक्ति शनैः-शनैः क्षीण होती चली जिससे उनको अपना कार्य सम्पादन करने के लिए बाह्य आवलम्बनों का धीरे-धीरे आश्रय अधिक से अधिक लेना आवश्यक एवं अनिवार्य होता चला। हम इस विषय को क्रम से इस प्रकरण में प्रतिपादन करते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन धर्म-दर्शन-विज्ञान के ऊपर संक्षिप्त परिचय देंगे।

आध्यात्मिक शक्ति या धार्मिक शक्ति

प्रत्येक आत्मा अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यादि रूप अनन्त शक्तियों का पुंज

स्वरूप है। क्रोध, मान, माया, लोभादि वैभाविक प्रतिबंधक रूपी प्रबल शक्ति के द्वारा आत्मिक गुण तिरोहित हो जाते हैं ज्ञान ध्यान-तप-वैराग्य, क्षमा सरलता, मृदुता, अहिंसादि आध्यात्मिक साधनाओं से प्रतिबंधक प्रबल-शक्ति उपशमन मंद, क्षयादि होती जाती है। जिससे आध्यात्मिक शक्ति उत्तरोत्तर प्रगट होती जाती है। उस आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक साधकों के कार्य स्वयमेव होता जाता है। उनको कोई विशेष कार्य करने के लिए विशेष परिश्रम-साधन आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यहां तक कि उनको कार्य साधन के लिए इच्छा, अभिलाषा, आकांक्षा की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है। विश्व के कठिन से कठिनतम कार्य, महत से महत्तम कार्य, चमत्कार से पूर्ण कार्य, असाध्य से असाध्य पूर्ण कार्य आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से स्वयमेव सहज रूप साध्य हो जाते हैं। प्राचीन आध्यात्मिक साधुओं ने आत्मिक शक्ति को जागृत करके एवं अनुभव करके आत्म शक्ति का परिचय देते हुए विश्व को प्रबोधन किया है कि-

तं णत्थि जणं लब्भइ तवसा सम्मं करण पुरिसस्स।

अग्निव तणं जलिओ कम्म तणं होदि य तवग्गी।। (1462) भ.आ.

निर्दोष तप से जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जगत् में है नहीं। अर्थात् तप से पुरुष को सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे प्रचलित अग्नि तृण को जलाती है वैसे तपरूप अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है।

तपः सर्वार्थसाधनम् तत एवं ऋद्धयः संजायन्ते तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यतो मुञ्चन्ति त सर्वे गुणाः। नासौ मुञ्चति संसारम्। (रा.वा.)

तप से सभी अर्थों की सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। तपस्वियों की चरण रज से पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके तप नहीं वह तिनके से भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं वह संसार से मुक्त नहीं हो पाता।

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत्।

तच्च नानाविध पदवीमधिष्ठितः।। (1) (ज्ञानार्णव)

अनेक प्रकार के ध्यान मार्ग पर अधिष्ठित होने वाली इस आत्मा की उस अचिन्त्य शक्ति का वर्णन करने के लिए भला कौन समर्थ है? उसका वर्णन कोई नहीं

कर सकता है। तात्पर्य यह है कि ध्यान के मार्ग पर अधिष्ठित होने वाले इस आत्मा की उस अचिन्त्य शक्ति का वर्णन करने के लिए भला कौन समर्थ है? उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि ध्यान के निमित्त से आत्मा में कोई आत्मभूत अपूर्व शक्ति उत्पन्न (जागृत) होती है।

तदस्य कर्तुं जगद्धिलीनं तिरोहितास्ते सहजैव शक्ति।

प्रबोधितस्तां समभिव्यशक्ति प्रसह्य विज्ञान मयः प्रदीपः॥(12)

विश्व को उस आत्मा के चरणों में लीन करने के लिए इस आत्मा के भीतर स्वाभाविक ही शक्ति अवस्थित है जो तिरोहित है, कर्म से आच्छादित है। आत्मा की उस शक्ति को विज्ञान स्वरूप दीपक प्रबोधित (प्रगट) होकर बल पूर्वक प्रगट करता है।

विद्यामण्डल मन्त्र यन्त्र कुहककूराभिचार क्रियाः

सिहांशीविष दैत्यदन्ति शरभा यन्त्येव निः सारताम्।

शाकिन्यौ ग्रह राक्षस प्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां।

मेतद्ध्यान धनस्य संनिधिवशाद्दानार्यथा कोशिका॥ (33)

जिस प्रकार सूर्य की समीपता पाकर उल्लू निरर्थकता का अनुभव करते हुए दुर्वासना (कुत्सित संस्कार) को छोड़ दिया करते हैं उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यान रूप धन से सम्पन्न योगी की समीपता पाकर विद्या मण्डल (कुष्ठ रोग या सैन्य रचना विशेष) मन्त्र, इन्द्रजाल व दूसरे के घात के लिए किया जाने वाला क्रूर तथा सिंह, आशीविष सर्प, दैत्य, हाथी और शरभ (एक हिंसक पशु) ये सब निरर्थकता को प्राप्त होते हैं, निष्प्रभ हो जाते हैं। साथ ही शाकिनी, दुष्ट ग्रह और राक्षस आदि भी दुर्वासना को अपने दुष्ट स्वभाव को छोड़ देते हैं।

अहो अनन्त वीर्योऽयमात्मा विश्व प्रकाशकः।

त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यान शक्ति प्रभावतः॥ (ज्ञानार्णव)

अहो! आश्चर्य है कि यह आत्मा अनंत शक्ति सम्पन्न होकर समस्त लोक का प्रकाशन करता है अर्थात् ध्यान शक्ति से सम्पूर्ण विश्व को देखता है जानता है। वह आत्मा ध्यान शक्ति के माध्यम से तीन लोक को क्षुभित विचलित स्थानान्तरित कर सकता है अर्थात् ध्यान शक्ति के माध्यम से तीन लोक का निग्रह, अनुग्रह, पोषण,

शोषण तथा परिवर्तन कर सकता है। आध्यात्मिक शक्ति से प्रभावित होकर संपूर्ण विश्व उनके चरण में अवनत हो जाता है। सम्पूर्ण प्राणी उनका आदर, सत्कार, पूजा, वंदनादि करते हैं।

अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम्।

यत्समाधि प्रयोगेण स्फुरत्य व्याहतं क्षणे।। (6)

ग्रंथकार कहते हैं कि ध्यान के प्रभाव से क्षणभर में जो निर्बाध शक्तिप्रगट होती है वह योगी जन का भी विषय नहीं है उसे केवली ही जानते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

अयमात्मा स्वयं साक्षात् परमात्मेति निश्चयः।

विशुद्ध ध्यान निर्धूत कर्मन्धन समुत्करः।। (7)

निर्मल ध्यान के द्वारा कर्म रूप ईंधन के समूह को नष्ट करने वाला यह आत्मा प्रगट में स्वयं परमात्मा है, वह निश्चित है।

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः।

अणिमादि गुणानर्ध्वरत्न वार्धिबुधै मतः।। (9)

यह आत्मा ही शिव, गरुड़ और काम भी कहा जाता है। विद्वान् जन इसे अणिमा महिमा आदि गुणों रूप अमूल्य रत्नों का समुद्र मानते हैं।

रिपुणां निग्रहं कर्तुं सुहृदाञ्चाप्यनुग्रहम्।

यदीच्छा तर्हि तपस्व तपस्तदद्वय साधनम्।। (4) (कुरलकाव्य)

यदि तुम अपने शत्रुओं का नाश करना और उन लोगों को उन्नत बनाना चाहते हो तो जो तुम्हें प्रेम करते हैं तो यह ध्यान रखो कि वह शक्ति तप में है।

शक्ति सिद्धि उभेयस्य संप्राप्ते तपसो बलात्।

मृत्योरपि जये तस्य साफल्यं दृश्यते स्फुटम्।। (9)

तप समस्त कामनाओं को यथेष्ट रूप से पूर्ण कर देता है, इसलिए लोग जगत् में तपस्या के लिए उद्योग करते हैं।

यत्दूरे यदुरा साध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।

तत्सर्वं तपसां साध्यं तपो हि दुरित क्रमः।।

जो अत्यन्त दूर है, कष्ट साध्य हैं, जो दूर में स्थित है वे सब तप के माध्यम से सरल साध्य हैं। तप ही समस्त दुःख, कष्ट, संकट को दूर करने में समर्थ है।

आध्यात्मिक शक्तियाँ (ऋद्धियाँ)

आध्यात्मिक साधना से जो आध्यात्मिक अलौकिक अप्रतिहत, अनंत शक्ति प्रगट होती है उस शक्तियों के माध्यम से चमत्कार पूर्ण अचिन्त्य अलौकिक रिद्धि सिद्धि, विद्या मंत्र, ज्ञान, विज्ञान आदि स्वयंमेव सिद्ध हो जाते हैं। जिज्ञासु पाठकों को इस आध्यात्मिक शक्तियों के बारे में कुछ विशेष जानकारी देने के लिए एवं प्राचीन ज्ञान-विज्ञान एवं अलौकिक शक्तियों का परिचय देने के लिए कुछ विज्ञान एवं अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियों का वर्णन आगे कर रहे हैं।

1. केवलज्ञान ऋद्धिः-

अशेष द्रव्य पर्यायं विषयं विश्व लोचनम्।

अनंतमेकमत्यक्ष केवलं कीर्तितं जिनैः॥ (8) (ज्ञानार्णव)

जो केवलज्ञान रूपी ज्योति सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को युगपत् जानने के कारण अनंत है। इन्द्रियों, मन, बाह्य यंत्रादि की सहायता से रहित होकर प्रत्यक्ष देखने के कारण स्वातन्त्र्य, निरालम्ब को जिनेन्द्र भगवान् ने केवलज्ञान कहा है वह इन्द्रियों के अगोचर एवं अतिन्द्रिय है एक स्वरूप है।

कल्यानातीतम् भ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम्।

जगज्ज्योतिरसंदिग्ध मनन्तं सर्वदोदितम्॥ (2)

यह केवलज्ञान कल्पना से रहित, भ्रान्ति से रहित, स्व और पर दोनों ही पदार्थों को प्रकाशित करने वाला विश्व को प्रकाशित करने वाली अपूर्व ज्योति, सन्देह से रहित प्रमाण में अनन्त और सर्वदा उदित रहने वाला है। सूर्य चन्द्र के समान कभी अस्त होने वाला नहीं है।

अनन्तानन्तभागेऽपि लोकश्चराचरः।

आलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्त तज्ज्योतिर्ज्योतिर्योगिनां मतम्॥ (10)

जिस केवलज्ञान रूपी ज्योति के अनन्तानन्तवें भाग में भी स्थावर प्राणियों से व्याप्त समस्त लोक और परलोक भी स्पष्टतया प्रतिभासित होता है वह केवलज्ञान रूपी

ज्योति योगियों के मानी गयी है। तात्पर्य यह है कि तपश्चरण के द्वारा घातिया कर्मों के नष्ट कर देने पर वह केवल ज्योति योगियों को ही प्राप्त होती है।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ (33) पातञ्जल योग दर्शनम्

प्रातिभ ज्ञान से योगी भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सारी वस्तुओं को जान लेता है।

भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात् “26” पातञ्जल योग दर्शनम् “विभूति पादम्”

सूर्य विषयक संयम करने से योगी को समस्त भुवनों का ज्ञान प्राप्त होता है केवलज्ञान को इंग्लिश में Perfect knowledge, omniscience कहते हैं।

2. अवधिज्ञान ऋद्धिः-

अतिमरवन्दताई परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाई।

जं पच्चक्खं जाणइ तमोहिणाणं ति णायव्वं।। (972)(तिल्लोय)

जो प्रत्यक्ष ज्ञान अतिसूक्ष्म परमाणु से लेकर सम्पूर्ण विश्व स्वरूप महास्कन्ध रूपी भौतिक मूर्तिक द्रव्यों को जानता है उसको अवधि ज्ञान जानना चाहिए। यह ज्ञान बिना इन्द्रिय यंत्रादि से अति सूक्ष्म एक परमाणु को उत्कृष्ट रूप से जान सकता है तथा विश्व में स्थित सम्पूर्ण दूर समीपस्थ स्थूल सूक्ष्म समस्त मूर्तिक द्रव्यों को दूरबीन, सूक्ष्मदर्शक यंत्र के बिना आध्यात्मिक ज्ञान ज्योति से स्पष्ट रूप से जानता है।

अवधि ज्ञान को इंग्लिश में-Visual knowledge, direct knowledge of matter limited as to (Subject matter, Place, time and nature i.e. without the help of the Senses.) कहते हैं।

3. मनः पर्याय ज्ञान ऋद्धि

चिंताए अचिंताए वा अद्धचिंताए विविहभेदगयं ।

जं जाहाइ णरलोए तं चिय मण पज्जयंणाणां।। (963)

मनुष्य लोक प्रमाण 45 लाख महायोजन के अन्तर्भूत पर मनगत चिंतित, अचिंतित, अर्द्ध चिंतित विषय को जानता है उसको मनः पर्याय ज्ञान कहते हैं। इस आध्यात्मिक ज्ञान में इतनी प्रबल शक्ति है कि 45 लाख महायोजन प्रमाण मनुष्य लोक में रहने वाले कोई भी कहीं पर भी संज्ञी जीव (मन सहित जीव) जो कुछ

विचार कर रहे हैं, विचार किये थे, विचार करेंगे, वक्र रूप में या सरल रूप में उसको भी यह ज्ञान बिना इन्द्रिय, बिना कोई भौतिक यंत्र, मंत्र या विद्या बिना उस क्षेत्र में कहीं पर भी रहकर अत्यन्त स्पष्ट प्राञ्जल भाव से जान सकता है।

Manaih Paryaya (मनः पर्यय) Mental Knowledge direct knowledge of an other's thought about matter.

उपरोक्त तीन ज्ञान के विषय में आगे संदर्भ के अनुसार विशेष वर्णन किया जावेगा जिज्ञासु पाठक वहां से जानने का प्रयत्न करें।

4. बीज बुद्धि ऋद्धि-

णोईदिय सुदणाणंवरणाणं वीर अंतराय।

तिविहाणं पयदीणं उक्कस खउवसमविसुद्धस्स।। (975)

संखेज्ज सरुवाणं सहाणं तत्थ लिंग संजुत्तं।

एक्क चिय बीज पदं लद्धूण परोपदेसेणं।। (976)

तम्मि पदे आधारे सयल सुदं चिंतिऊण गेणहेदि।

कस्स वि महेसिणो जा बुद्धि या बीज बुद्धिति।। (977)

नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी भी महर्षि को जो विशेष बुद्धि प्राप्त होती है उस बुद्धि से संख्यात शब्द के बीच में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को पर उपदेश से प्राप्त करके उस पद के माध्यम से संपूर्ण श्रुत ज्ञान को ग्रहण करती है वह बीज बुद्धि ऋद्धि हैं। जिस प्रकार उर्वरा कृषित भूमि में उपर्युक्त जलवायु औषध, खाद आदि के संयोग एक ही बीज वृक्षरूप में परिणत होकर अनेकानेक बीजों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार एक ही बीज स्वरूप पद अनेक ज्ञान के लिए कारण हो जाता है। उसी प्रकार शक्ति को बीज बुद्धि कहते हैं। एक पद के अध्ययन करने से संपूर्ण शास्त्र में वर्णित विषय को इस ज्ञान शक्ति के माध्यम से स्पष्ट रूप से अवगत कर लेते हैं।

5. कोष्ठ बुद्धि-

उक्कस धारणाय जुत्तो पुरिसो गुरुवएसेणं।

णाणाविह गंथेसु वित्थारे लिंग सद्वीजाणि।।

गहिऊण णियमदीए मिस्सेण विणाधरेदि मदिकोट्टे।।

जो होदि तस्स बुद्धि णिहिट्ठ कोठ बुद्धिति।।

उत्कृष्ट धारणा से युक्त पुरुष गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रंथों में से विस्तार पूर्वक लिंग सहित शब्द रूप बीजों को अपनी बुद्धि से ग्रहण करके उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धि रूपी कोठे में धारण करता है उसकी बुद्धि कोष्ट बुद्धि है। जैसे कोठे में अनेक प्रकार के बीजों को अलग अलग सुरक्षित रखा जाता है और उसमें बीज बिना मिश्रण भी सुरक्षित रहते हैं उसी प्रकार कोष्ट बुद्धि ऋद्धि वाले अनेक विषयों को एक साथ ग्रहण करके चिरकाल तक उसको यथावत धारण करते हैं।

(6) पादानुसारिणी ऋद्धि पादानुसारिणी ऋद्धि तीन प्रकार की है। (1) अनुसारिणी (2) प्रतिसारिणी (3) उभय सारिणी।

1. अनुसारिणी ऋद्धि -

आदि अवसाण मङ्गे गुरुवदेसेण एक्क बीजपदे।

गेण्हिय उवरिम गंथं जा गिण्हादी सामदीहु अणुसारी।। (981)

जो बुद्धि आदि, मध्यम तथा अन्त में गुरु के उपदेश से एक बीज पद को ग्रहण करके उपरिम ग्रन्थ को ग्रहण करती है, वह अनुसारिणी बुद्धि कहलाती है। गुरु उपदेश से एक ही पद सुनकर उस पद के माध्यम से शेष सम्पूर्ण उपरितन ग्रन्थ को जान लेना अनुसारिणी बुद्धि है।

2. प्रतिसारिणी बुद्धि-

आदि अवसाण मङ्गे गुरुवदेसेण एक्क बीज पदे।

गेण्हिय हेट्टिमगंथं बुज्झदि जा सा पडिसारी।। (982)

गुरु उपदेश से आदि, मध्य अथवा अन्त में एक बीज पद को ग्रहण करके जो बुद्धि अधस्तन ग्रन्थ को जानती है वह प्रतिसारिणी बुद्धि कहलाती है।

3. उभयसारिणी बुद्धि-

णियमेण अणियमेण य जुगवं एगस्स बीज सहस्स।

उवरिमहेट्टिम गंथं जा बुज्झई उभयसारी सा।। (983)

जो बुद्धि नियम अथवा अनियम से एक बीज शब्द के (ग्रहण करने पर) उपरिम और अधस्तन ग्रंथ को एक साथ जानती है वह उभय सारिणी बुद्धि है।

7. संभिन्न श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि-

सोदिंदिय सुदणाण वरणीणं वीरियंतराए।

उक्कस्सक्खउवसमे उदिंदगोवंगणाम कम्मम्मि।। (984)

सोदुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयण पएसे।

संठियणरतिरियाणं बहुविहसदें समुडुते।। (985)

अक्खर अणक्खरमएसोदूणं दसदिसासु पत्तेक्कं।

जं दिज्जदि पडिवयणं तं चियसंभिण्ण सोदित्तं।। (986)

श्रोत्रइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यन्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दशो दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यचों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिसका प्रत्युत्तर दिया जाता है वह संभिन्न श्रोतृत्व नामक बुद्धि ऋद्धि कहलाती है। इस ऋद्धि के माध्यम से ऋद्धि महर्षि लोग या विशिष्ट पुरुष अत्यन्त दूरस्थ मनुष्य पशु-पक्षी आदि के भाषात्मक एवं अभाषात्मक शब्दों को रेडियो, टी.वी , वायरलेस, टेलीफोन, राडार आदि के सहायता बिना स्पष्ट रूप से सुनते हैं तथा प्रत्युत्तर भी देते हैं।

8. दूरास्वादित्व ऋद्धि-

जिब्भंदिय सुदणाणा वरणाणं वीरियंतरायाए।

उक्कस्सक्खउवसमे उदिंदगोवंगणाम कम्मम्मि।।

जिब्भुक्कस्स-खिदीदों, बाहिं संखेज्ज-जोयण-ठियाणं।

विविह-रसाणं सादं जं जाणइ दूर-सादित्तं।।

जिह्वेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यन्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपांग नाम कर्म का उदय होने पर जिह्वा इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध रसों के स्वाद के जानने को दूरास्वादित्व ऋद्धि कहते हैं।

9. दूर स्पर्श ऋद्धि-

फासिंदिय सुदणाण वरणाणं वीरियंतराए।

उक्कस्सक्खउवसमे उदिंदगोवंगणाम कम्ममि।।

फासुक्कस्सखिदीदो वाहिसंखेज्जजोयण ठियाणि।

अट्टुविहफासाणि जं जाणइ दूरपासत्तं।।

स्पर्शनेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपांग नाम कर्म का उदय होने पर स्पर्शनेन्द्रिय के, उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में स्थित आठ प्रकार के स्पर्शों को जान लेना, यह दूर स्पर्शित्व बुद्धि ऋद्धि है।

10. दूर घ्राणत्व ऋद्धि-

घाणिंदिय सुदणाणवरणाण विरियंतराये।

उक्करसक्खउवसमे उदिंदगोवंग णामकम्ममि।। (991)

घाणुक्कसखिदीदो वाहिं संखेज्जजोयणगदाणिं

जं बहुविध गंधाणि तं घायदि दूरघाणत्तं।। (992)

घ्राणेन्द्रिय, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में प्राप्त हुये बहुत प्रकार के गंधों को सूंघना इसे दूर घ्राणत्व कहते हैं।

11. दूर श्रवणत्व ऋद्धि-

सोदिंदिय सुदणा णावरणाणं वीरियंतरायाए।

उक्कस्सक्खउवसमे उदिंदगोवंगणाम कम्ममि।। (993)

सोदुक्कस्सखिदीदो वाहिरसंखेज्ज जोयण पएसे ।

चेट्ठंताणं माणुसतिरियाणं बहुवियप्पाणं।। (994)

अक्खर अणक्खरमए बहुविहसद्दे विसेससंजुत्ते ।

उप्पण्णे आयण्णइ जं भणियं दूर सवणत्तं।। (995)

श्रवणेन्द्रिय, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रुतइन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन

प्रमाण क्षेत्र में स्थित रहने वाले बहुत प्रकार के मनुष्यों और तिर्यचों की विशेषता से संयुक्त अनेक प्रकार के अक्षरात्मक अनक्षरात्मक शब्दों के उत्पन्न होने पर उनका श्रवण करना, इसे दूर श्रवणत्व कहा गया है।

12. दूर दर्शित्व ऋद्धि-

रुविंदिय सुदणाणावरणाणं विरिअंतरायाए।

उक्कससक्खउवसमे उदिदंगोवंगाणामकम्मम्मि।

रुक्कस्सखिंदीदों लाहिं संखेज्जजोयणं ठिदाई।

जं बहु विहदव्वाई तं दूरदरसिणं णाम।। (996)

चक्षुरिन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षायोपशम तथा आंगोपांग नाम कर्म का उदय होने पर चारित्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहिर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के द्रव्यों को देखने को दूरदर्शित्व ऋद्धि करते हैं।

ततःप्रतिभः श्रावणवेदनादर्शाऽस्वाद वार्ता जायन्ते।। (38) (पातञ्जलयोग)

पूर्व प्रतिपादित उस पौरुषेय बोध रूप स्वार्थ विषयक संयम से प्रतिभ, श्रवण, वेदन, आदर्श, आस्वाद एवं वार्ता नामक सिद्धियां उत्पन्न होती हैं।

विशिष्ट आध्यात्मिक साधनों से विशिष्ट आध्यात्मिक शक्तियां प्रगट होती है। उस शक्ति के माध्यम से ऋद्धि सम्पन्न व्यक्ति बिना भौतिक यंत्रों से दूर स्थित रस, गंध, स्पर्श, वर्णादि को स्पष्ट रूप से देखते हैं, जानते हैं।

13. दशपूर्वित्वऋद्धि-

रोहिणि पहुदीण महाविज्जाणं देवदाउ पंच सया।

अंगुठु पसेणाई सुह्वविज्जाण सत सया।। (998)

एत्तूण पेसणाइं मंगते दसमपुव पठणाम्मि

णेच्छेवि संजमंता ताओ जेते अभिण्ण दस पुवी।। (999)

भवणेसु सुप्पसिद्धा विज्जाहार समणणाम पज्जाया।

ताणं मुणीण बुद्धि दसपुवी बोद्धव्वा।। (1000)

दसवें पूर्व को पढ़ने में रोहणी प्रभृति महा विद्याओं के 500 और अंगुठ प्रसेनादिक (प्रश्नादिक) क्षुद्र विद्याओं के 700 देवता आकर आज्ञा मांगते हैं। इस

समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते हैं वे 'विद्याधर श्रमण' इस पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं उन मुनियों की बुद्धि को दश पूर्वी जानना चाहिए महर्षि लोग आत्म साधन करने के लिए तथा ज्ञानार्जन करने के लिए ध्यान अध्ययन करते हैं। उनकी अध्यात्मिक शक्ति से प्रभावित अनेक विद्याएं स्वयं सिद्ध हो जाती है। विद्याएं आकर महर्षियों को नमस्कार करके विभिन्न कार्य सम्पादन के लिए आज्ञा मांगती हैं तो भी निष्पृह आत्मकामी मुमुक्षु साधक विद्याओं को एवं उनके द्वारा संपादित लौकिक चमत्कारीपूर्ण कार्यों को आत्म साधन में अत्यन्त बाधक मानकर विद्याओं को प्रत्युत्तर देते हैं कि हमारी कोई लौकिक इच्छा नहीं है। हम तो केवल आत्मसाधना करने के लिए शास्त्र अध्ययन कर रहे आप अपनी इच्छानुसार जहाँ जाना है आ जा सकते हैं। इसी प्रकार निस्पृह मुनि ही दशपूर्वित्व ऋद्धि धारी हो सकते हैं। जो इन ऋद्धियों में सरकार आसक्त हो जाते हैं वे दशपूर्वित्व ऋद्धि धारी नहीं हो सकते हैं। जो महर्षि सम्पूर्ण आगम के पारंगत है और श्रुत कवली नाम से सुप्रसिद्ध है उनके चौदह पूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती हैं।

14. नैमित्तक ऋद्धि ज्ञान के भेद-

णड्मिक्तिका य रिद्धिणभभउमंगसराइ वेंजणइये।

लक्खणचिहं सणं अवियप्पेहि वित्थरदिं।। (1002)

निमित्तिक ऋद्धि, नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, चिन्ह और स्वन इन 8 भेदों से विस्तृत है।

1. नभनिमित्त ऋद्धि-

रवि ससिगहपहुदीणं उदयत्थमणादि आईदट्टुणं।

खीणत्तं दुक्खसुहं जे जाणइ तं हि णहनिमित्तं।। (1003)

सूर्य , चन्द्र ग्रह इत्यादिक के उदय व अस्तगत आदि को देखकर जो क्षिणता और दुःख सुख को जानता है वह नभ निमित्त है।

2. भीम निमित्त-

धण सुसिरणिद्धलुक्खप्यहुदि गुणे भवित्ठणभूमिण

जं जाणइ खयवट्ठिं तम्मयसकणयरजदपंमुहाणं।

दिसिविदिस अंतरेसु चउरंग बलं ठिदं च दृढुणं

जं जाणइ जयमजयं तं भउमणिमित्त मुद्धिइं।। (1005)

पृथ्वी के धन (सांधता) सुषिर (पोलापन) स्निग्ध और रूक्षता प्रभृति गुणों का विचार कर जो ताँबा, लोहा, स्वर्ण और चाँदी आदिक धातुओं की हानि-वृद्धि को तथा दिशा-विदिशाओं के अंतराल में स्थित चतुरंग बल को देखकर जो जय पराजय को भी जानता है इसे भौम निमित्त कहा गया है।

3. अंग निमित्त-

वातादिप्पगिदीओ रुहिरप्पहुदिस्सहाव सत्ताइं।

णिण्णाण उण्णयाणं अंगोवंगाण दंसणा पासा।। (1006)

णरतिरियाणं दुदुं जं जाणई दुक्खसोक्ख मरणाइं

कालत्तय णिप्पणं अंगणिमित्त पसिद्धं तु।। (1007)

मनुष्य और तिर्यचों के निम्न व उन्नत अंग उपांगों के दर्शन व स्पर्श से वातादि तीन प्रकृतियों और रुधिरादि सात स्वभावों (धातुओं) को देखकर तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख या मरणादि को जानना यह अंगनिमित्त नाम से प्रसिद्ध है।

4. स्वर निमित्त-

णरतिरियाणं विचित्तं सहं सोदूण दुःख सोक्खाइं।

कालत्तयणिप्पणं जं जाणइं तं सर निमित्तं।। (1008)

मनुष्य और तिर्यचों के विचित्र शब्दों को सुनकर कालत्रय में होने वाले दुःख सुख को जानना वह स्वर निमित्त है।

5. व्यंजन निमित्त:-

सिरमुहकंधप्पहुदिसु तिलमसयसप्पहुदि आई ददुणं।

तं तियकाल सुहाइं जाणइ तं वोजिणणिमित्तं।। (1009)

सिर मुख और कंधे आदि पर तिल एवं मशे आदि को देखकर तीनों काल के सुखादिक को जानना, यह व्यञ्जन निमित्त है।

6. लक्षण निमित्त:-

करण चरण तलप्पहुदिसु पंकय कुलिसादियाणि दठूणं

जं तियकाल सुहाइं लक्खइं तं लक्खण णिमित्तं।। (1010)

हस्त तल (हथेली) और चरण तल (पगतली) आदि में कमल एवं वज्र इत्यादि चिन्हों को देखकर कालत्रय में होने वाले सुखादि को जानना यह लक्षण निमित्त हैं।

7. चिन्ह निमित्त-

सुरदाणव रक्खसणरतिरिहं छिण्णसत्थवत्थाणि।

पासादणयरदेसादियाणि चिण्हाणि दडूणं॥ (1011)

कालत्तय संभूदं सुहासुहं मरण विविहदव्वं च।

सुह दुक्खाइं लक्खइ चिण्ह निमित्त विपं जाणइ॥ (1012)

देव-दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यचों के द्वारा छेदे गये शस्त्र एवं वस्त्रादि तथा प्रासाद नगर और देशादिक चिन्हों को देखकर त्रिकालभावी शुभ, अशुभ, मरण, विविध प्रकार के द्रव्य और सुख-दुःख को जानना यह चिन्ह निमित्त है।

8. स्वप्न निमित्त-

वातादि दोसचत्तो पच्छीमरते मुयंकरविपहु दि।

णियमुह कमल पविट्टुदेक्खइ सउणम्मि सुहसउणां॥ (1013)

घडतेल्लभगादि रासह कर भादिएसु आरुहणं।

परदेस गमण सव्वं जं देक्खइ असुहं सउणं तं॥ (1014)

जं भासइ दुक्ख सुहप्पमुहं कालत्तय विसंजादं।

तं चिय सउणणिमित्तं चिण्हों मालोत्ति दो भेदं॥ (1015)

करिके सरि पहुदीणं दंसणमेंत्तदि चिण्ह सउणं तं।

पुव्वावर संबंध सउणं तं माल सउणोत्ति॥ (1016)

वात, पित्तादि दोषों से रहित व्यक्ति सोते हुए रात्रि के पश्चिमी भाग में अपने मुख कमल में प्रविष्ट चन्द्र-सूर्यादि रूप शुभ स्वप्नों को और घृत व तेल की मालिश आदि गर्दभ व ऊँट आदि पर चढ़ना तथा परदेश गमनादि रूप जो अशुभ स्वप्न को देखता है इसके फलस्वरूप तीन काल में होनेवाले दुःख सुखादिक को बतलाना यह स्वप्न निमित्त है। इसके चिन्ह और माला रूप से दो भेद हैं। इसमें से स्वप्न में

हाथी व सिंहादिक के दर्शन मात्र आदिक के चिन्ह स्वप्न और पूर्वापर संबंध रखने वाले स्वप्न को माला स्वप्न कहते हैं।

प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण है।

आद्य के दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। जो ज्ञान परावलम्बन से होता है एवं अस्पष्ट होता है उसे परोक्षज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन एवं प्रकाश आदि के आवलम्बन से होता है एवं अस्पष्ट होता है इसलिए इसे परोक्षज्ञान कहते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है।

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।(58)

पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है वह तो परोक्ष इस नाम से कहा गया है।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।

अवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि।।

वे प्रसिद्ध पाँचों इन्द्रियों को आत्मा की अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी आत्मा की स्वभाव रूप निश्चय से नहीं कही गई हैं क्योंकि, उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थ से हुई है इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यमयी हैं उन इन्द्रियों के द्वारा जाना हुआ उन्हीं के विषय योग्य पदार्थ सो आत्मा के प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है? अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सकता है। जैसे पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसे ही नाना मनोरथों के करने में 'यह बात कहने योग्य है, मैं कहने वाला हूँ' इस तरह नाना विकल्पों के जाल को बनाने वाला जो मन है वह इन्द्रियज्ञान की तरह निश्चय से परोक्ष ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

प्रत्यक्षमन्यत्।(12)

The remaining three, i.e. अवधि visual, direct material knowledge, मनःपर्यय Mental, direct mental knowledge and केवल perfect knowledge are प्रत्यक्ष i.e. directly known by the soul itself, without any external help.

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जो ज्ञान परावलम्बन के बिना जानता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इस दृष्टि से केवलज्ञान ही पूर्ण (सकल) प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा सीमा सहित होने के कारण परोक्ष होते हुए भी ये दोनों ज्ञान मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के समान पूर्ण परतंत्र नहीं है, इसलिए इन दोनों ज्ञान को प्रत्यक्ष में ग्रहण किया गया है। तथापि केवलज्ञान के समान पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण इसे देश प्रत्यक्ष भी कहते हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा कुन्दकुन्द देव ने निम्न प्रकार से की है-

जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।

जो मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाता है वह ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष है।

मतिज्ञान के दूसरे नाम

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।(13)

मति Sensitive knowledge (connotes) the same thing as:

स्मृति (rememberance of a thing known before, but out of sight now):

संज्ञा also called प्रत्यभिज्ञान recognition (rememberance of a thing known before when the thing itself or something similar or markedly dissimilar to it, is present to the senses now):

चिन्ता Chinta or Tarka induction (reasoning or argument based upon observation. If a thing is put in fire, its temperature would rise).

अभिनिबोध Abhinibodh or Anumana. (Deduction, Reasoning by inference ; e.g. any thing put in fire become sheated this thing is in Fire; therefore is must be heated.

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं।

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अंतरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करने के कारण मतिज्ञान एक है तथापि कुछ विशेष कारणों से उसमें उपरोक्त भेद हो जाते हैं।

1. मति - “मननं मतिः” जो मनन किया जाता है उसे मति कहते हैं। मन और इन्द्रिय से वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान होना मति है।

2. स्मृति - “स्मरणं स्मृति” स्मरण करना स्मृति है। पहले जाने हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते हैं।

3. संज्ञा - “सज्ञानं संज्ञा” वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर यह वही है इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

4. चिन्ता - किन्हीं दो पदार्थों के कार्य-कारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। इसको तर्क भी कहते हैं। जैसे- अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीर व्यापार, वचन व्यापार नहीं हो सकते हैं, पुद्गल के बिना स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हो सकते हैं इस प्रकार कार्य कारण सम्बन्ध का विचार करना ‘चिन्ता’ है। संक्षिप्ततः व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं।

5. अभिनिबोध - एक प्रत्यक्ष पदार्थ को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अप्रत्यक्ष का बोध-ज्ञान होना अभिनिबोध (अनुमान) है। जैसे- पर्वत पर प्रत्यक्ष धूम को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना।

‘इति’ शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को ग्रहण करना चाहिए। दिन या रात्रि में कारण के बिना ही जो स्वतः प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे प्रातः मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा इष्ट सम्बन्धी आयेगा आदि।

अर्थग्रहण करने की शक्ति को ‘बुद्धि’ कहते हैं।

पाठग्रहण करने की शक्ति का नाम ‘मेधा’ है।।

कहा भी है-आगमाश्रितज्ञान मति है। बुद्धि तत्कालीन पदार्थ का साक्षात्कार करती है। प्रज्ञा अतीत को तथा मेधा त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान करती है। नवीन-नवीन उन्मेषशालिनी प्रतिभा है।

मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण और स्वरूप

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। (14)

(It is acquired by the help of the इन्द्रिय senses and अनिन्द्रिय i.e. mind.) वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन रूप निमित्त से होता है। मतिज्ञानवरणीय कर्म के क्षयोपशम, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ-साथ इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं।

'इन्द्र' शब्द का व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है 'इन्दतीतिइन्द्र': जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है। 'इन्द्र' शब्द का अर्थ आत्मा है। यह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के रहते हुए स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है अतः उस पदार्थ के जानने में जो लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्र का लिंग इन्द्रिय कही जाती है। अथवा जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थ का ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार 'इन्द्रिय' शब्द का यह अर्थ हुआ कि, जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में लिंग अर्थात् कारण है उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं, जैसे लोक में धूम, अग्नि का ज्ञान कराने में कारण होता है। इसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण कर्ता आत्मा के अभाव में नहीं हो सकते हैं अतः उनसे ज्ञाता का अस्तित्व पाया जाता है। अथवा इन्द्र शब्द नामकर्म का वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि, उससे रची गई इन्द्रिय है। वे इन्द्रियाँ स्पर्शनादिक है। अनीन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थ वाची नाम हैं।

मन को नो इन्द्रिय या अनिन्द्रिय कहते हैं। यहाँ अनिन्द्रिय का अर्थ निषेधपरक नहीं है परन्तु किञ्चित् अर्थ में है। यथा "ईषदर्थस्यनञ-प्रयोगात्" नञका प्रयोग 'ईषद' अर्थ में किया है। ईषत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय। यथा अनुदरा कन्या। इस प्रयोग में जो अनुदरा शब्द है उससे उदर का अभाव रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

ये इन्द्रियाँ निश्चित देश में स्थित पदार्थों का विषय करती हैं और कालान्तर में अवस्थित रहती हैं। किन्तु मन इन्द्रिय का लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता और कालान्तर में अवस्थित नहीं करता।

इसे अन्तःकरण कहा जाता है। इसे गुण और दोषों के विचार और स्मरण

करने आदि कार्यों में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के समान इसकी बाहर उपलब्धि भी नहीं होती। इसलिए यह अनागत कारण होने से अन्तःकरण कहलाता है। इसलिए अनिन्द्रिय में नञ का निषेध रूप अर्थ न लेकर 'ईषद' अर्थ लिया गया है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावायधारणाः।(15)

अवग्रह Avagraha or perception

ईहा Conception.

आवाय Judgement.

धारणा Retention.

अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।

इस सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के मनोवैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है। किसी भी विषय के धारणा रूप ज्ञान के लिये किन-किन मनोवैज्ञानिक प्रणालियों से गुजरना पड़ता है उसका वर्णन किया है। विद्यार्थियों को इस सूत्र में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अध्ययन करना चाहिये जिससे उनकी धारणा शक्ति (स्मरण शक्ति) अधिक हो सकती है।

विषय और विषयी के सम्बन्ध के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी का सन्निपात (सम्बन्ध) होने पर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह 'अवग्रह' कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विषय जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे, 'जो शुक्ल रूप देखा है वह क्या बकपक्ति है?' इस प्रकार जानने की इच्छा 'ईहा' है। विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे 'आवाय' कहते हैं। जैसे-उत्पत्तन, निपत्तन और पंखविक्षेप आदि के द्वारा यह बकपक्ति ही है ध्वजा नहीं है, ऐसा निश्चय होना आवाय है। जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे 'धारणा' कहते हैं। जैसे-यह वही बकपक्ति है जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था, ऐसा

जानना धारणा है। सूत्र में इन अवग्रहादिक का उपन्यास क्रम इनके उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा किया है। तात्पर्य यह है कि, जिस क्रम से ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से इनका सूत्र में निर्देश किया है।

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहयमणिंदिइंदियजं।

अवग्रहईहावायाधारणगा होंतिपत्तेयं।। (306) (गोम्मट्टसार)

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ को 'अभिमुख' कहते हैं। जैसे-चक्षु का रूप नियत है इस ही तरह जिस-जिस इन्द्रिय का जो-जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं। इस तरह के पदार्थों का मन अथवा स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसको 'आभिनिबोधक मतिज्ञान' कहते हैं।

इस प्रकार मन और इन्द्रिय रूप सहकारी निमित्तभेद की अपेक्षा से मतिज्ञान के छह भेद हो जाते हैं। इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार-भेद हैं। प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं, इसलिए छह को चार से गुणा करने पर मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं।

विसयाणं विसइणं, संजोगाणंतरं हवे णियमा।

अवग्रहणाणं गहिदे, विसेसकंखा हवे ईहा।। (308)

पदार्थ और इन्द्रियों का योग्य क्षेत्र में अवस्थान रूप सम्बन्ध होने पर सामान्य अवलोकन या निर्विकल्प ग्रहण रूप दर्शन होता है और इसके अनन्तर विशेष आकार आदि को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया है उस ही के किसी विशेष अंश को ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान होता है।

ईहकरणेण जदा, सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।

कालंतरे वि णिणिदवत्थुसुमरणस्स कारणं तुरियं।। (309)

ईहा ज्ञान के अनन्तर वस्तु के विशेष चिह्नों को देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको 'अवाय' कहते हैं। जैसे-भाषा, वेष विन्यास आदि को देखकर "यह दाक्षिणात्य ही है" इस तरह के निश्चय को अवाय

कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णित वस्तु का कालान्तर में भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

अवग्रह आदि के विषय भूत पदार्थ

बहुबहुविधक्षिप्रानिः सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्। (16)

बहु More एक Eka अल्प One in number or unit of quantity.
बहुविध of many kinds. एक विध One kind. क्षिप्र Quick अक्षिप्र Slow.
अनिःसृत Hidden निःसृत Exposed अनुक्त unexpressed उक्त Described
ध्रुव Lasting अध्रुव Transient.

सेतर (प्रतिपक्ष सहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा रूप मतिज्ञान होते हैं।

अवग्रह आदिक जो ज्ञान होते हैं उनके विषयभूत पदार्थों का वर्णन इस सूत्र में किया है। यथा, (1) बहु (2) एक (3) बहुविध (4) एकविध (5) क्षिप्र (6) अक्षिप्र (7) अनिःसृत (8) निःसृत (9) अनुक्त (10) उक्त (11) ध्रुव (12) अध्रुव।

गोम्टेसार जीवकाण्ड में इसका सविस्तृत वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-
बहुवृत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणाम्हि।

सगणामादो सिद्ध खिप्पादी सेदरा य तथा।। (311) (गो.जी. 120)

1.बहु-एक जाति के बहुत से व्यक्तियों को 'बहु' कहते हैं। जैसे-मनुष्यों का समूह।

2.एक-एक जाति के एक व्यक्ति को 'एक' कहते हैं। जैसे-एक मनुष्य।

3.बहुविध-बहुत प्रकार के व्यक्तियों के समूह को 'बहुविध' कहते हैं। जैसे-विभिन्न देश के विभिन्न संस्कृति व विभिन्न वेषभूषाओं के मनुष्यों के समूह।

4.एकविध-एक जाति के अनेक व्यक्तियों के ज्ञान को 'एकविध' कहते हैं। जैसे-एक देश एक सभ्यता संस्कृति के अनेक मनुष्य।

5.क्षिप्र-शीघ्रता से गमन करते हुए पदार्थ के ज्ञान को 'क्षिप्र' कहते हैं। जैसे-शीघ्रता से दौड़ती हुई गाड़ी का ज्ञान या विशेष क्षयोपशम के कारण पदार्थों को शीघ्रता से जानने को भी क्षिप्रज्ञान कहते हैं।

6. **अक्षिप्र**-मन्दता से गमन करते हुए पदार्थों के ज्ञान को 'अक्षिप्र' कहते हैं। जैसे-धीरे-धीरे चलते हुए कछुआ का ज्ञान अथवा क्षयोपशम की मन्दता से पदार्थों का धीरे-धीरे ज्ञान होना भी अक्षिप्रज्ञान है।

7. **अनिःसृत**-छिपे हुए पदार्थ के ज्ञान को 'अनिःसृत' कहते हैं। अथवा एकदेश के ज्ञान से सर्व देश के ज्ञान को अनिःसृत कहते हैं। जैसे-बाहर निकली हाथी की सूंड देखकर जल में डूबे पूरे हाथी का ज्ञान होना।

8. **निःसृत**-प्रगट पदार्थ के ज्ञान को निःसृत कहते हैं। जैसे-सामने स्पष्ट दिखाई देने वाला हाथी का ज्ञान।

9. **अनुक्त**-बिना कहे हुए विषय को अभिप्राय से जान लेना अनुक्त हैं। जैसे-शरीर के हलन-चलन एवं हाव-भाव से व्यक्ति के अभिप्राय का ज्ञान होना।

10. **उक्त**-वचनों के द्वारा प्रतिपादित विषयों का ज्ञान होना उक्त है। जैसे इधर आइए।

11. **ध्रुव**-स्थिर पदार्थ का ज्ञान होना ध्रुव हैं। जैसे-स्थिर पर्वत का ज्ञान होना।

12. **अध्रुव**-अस्थिर पदार्थ का ज्ञान होना अध्रुव है। जैसे-बिजली का ज्ञान।

अर्थस्य (17)

The 288 refer to i.e. are to determinable sense objects (i.e.) thing that can be touched, tasted, smell, seen, heard or perceived by the mind.

The 288 sub divisions of knowledge relates to determinable sense objects.

अर्थ (वस्तु) के अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान होते हैं।

अवग्रह आदि विशेषण से विशिष्ट पदार्थ के अवग्रह आदिज्ञान होते हैं। चक्षु आदि के विषयभूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं।

अवग्रह आदि केवल गुण के नहीं होते हैं परन्तु गुण सहित गुणी अर्थात् द्रव्यों के होते हैं। क्योंकि अमूर्तिक गुणों का इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

जो पर्यायों को प्राप्त होता है, अथवा पर्यायों के द्वारा प्राप्त होता है उस द्रव्य को 'अर्थ' कहते हैं। जो अंतरंग एवं बहिरंग निमित्त के कारण से उत्पत्ति के प्रति तत्पर स्वकीय पर्यायों को प्राप्त होता है या पर्यायों के द्वारा किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं और वह अर्थ ही द्रव्य है।

शंका—ये रूपादि गुण सूक्ष्म हैं, यदि इन्द्रियों के द्वारा उनका सन्निकर्ष नहीं हो तो “मैंने रूप देखा, मैंने गंध सूँधी” इत्यादि परिणति नहीं होना चाहिये परन्तु परिणति होती है?

उत्तर—मैंने रूप देखा, गंध सूँधी इत्यादि जो प्रवृत्ति होती है अर्थात् रूपादि का ग्रहण होता है वह पदार्थ से अभिन्न होने से, पदार्थ के ग्रहण से उन गुणों का भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण हो जाता है।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रहः। (18)

There is only perception i.e. indeterminable subject, (i.e. of a thing of which we know very little, so little that we can not proceed to the Iha Conception, Jugdement and retention of it.)

व्यंजन का अवग्रह ही होता है।

सामान्य सत्तावलोकन को दर्शन कहते हैं। एक तरफ लगे हुए उपयोग को अन्य तरफ करने को भी दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर अवग्रह होता है। इसके दो भेद हैं (1) व्यंजनावग्रह (2) अर्थावग्रह।

व्यक्त पदार्थ का ग्रहण करना अर्थावग्रह है, अव्यक्त का ग्रहण व्यंजनावग्रह है, नवीन सकोरा के समान। जैसे नूतन मिट्टी का सकोरा दो, तीन सूक्ष्म जलकण के सींचने से गीला नहीं होता है परन्तु लगातार जल-बिन्दुओं के डालते रहने पर वही सकोरा धीरे-धीरे गीला हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के प्रथम, शब्दादि का अव्यक्त रूप से ग्रहण होता है इसलिए प्रथम व्यंजनावग्रह होता है और तदनन्तर व्यक्त शब्दादि का ग्रहण होने से अर्थावग्रह होता है।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। (19)

This is not possible to the eye or the mind.

(It is possible to remaining four senses)

चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी है। चूँकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशा में अवस्थित, युक्त सन्निकर्ष के योग्य देश में अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदि से व्यक्त हुए पदार्थ को ग्रहण करता है और मन भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करता है। अतः इन दोनों के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता।

“पुट्टं सुणेदि सद्दं अपुट्टं चेव पस्सदे रूअं।

गंधं रसं च फासं पुट्टमपुट्टं वियाणादि।।” पञ्चसंग्रह

श्रोत स्पृष्ट शब्द को सुनता है और अस्पृष्ट शब्द को भी सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को ही देखता है तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रम से स्पृष्ट और अस्पृष्ट गंध, रस और स्पर्श को जानती है।

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थ को नहीं ग्रहण करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होता तो क्या वह त्वचा इन्द्रिय के समान स्पृष्ट हुए अंजन को ग्रहण करती? किन्तु वह स्पृष्ट अंजन को ग्रहण नहीं करती है। इससे मालूम होता है कि मन के समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्तकारी है। अतः सिद्ध हुआ कि चक्षु और मन को छोड़कर शेष इन्द्रियों के व्यंजनावग्रह होता है तथा सब इन्द्रिय और मन के अर्थावग्रह होता है।

पहले अवग्रह के दो भेद बतला आये हैं-अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इनमें से अर्थावग्रह तो पाँचों इन्द्रियों और मन इन छहों से होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन इन दो से नहीं होता यह सूत्र का भाव है। चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता? इसका निर्देश करते हुए जो टीका में लिखा है उसका भाव यह है कि ये दोनों अप्राप्यकारी है अर्थात् ये दोनों विषय को स्पृष्ट करके नहीं जानते हैं। इसलिए इनके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता इससे यह अपने आप फलित हो जाता है कि व्यंजनावग्रह प्राप्त अर्थ का ही होता है और अर्थावग्रह प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों का होता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि, यदि अप्राप्त अर्थ का अर्थावग्रह होता है होओ इसमें बाधा नहीं, पर प्राप्त अर्थ का अर्थावग्रह कैसे हो सकता है? सो इस शंका का यह समाधान है कि, प्राप्त अर्थ का सर्वप्रथम ग्रहण के समय तो व्यंजनावग्रह ही होता है किन्तु बाद में उसका भी अर्थावग्रह हो जाता है। नेत्र प्राप्त अर्थ को क्यों नहीं जानता?

इसका निर्देश तो टीका में किया ही है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियाँ भी कदाचित् अप्राप्यकारी होती हैं। यह भी सिद्ध होता है। प्रायः पृथ्वी में जिस ओर निधि रखी रहती है उस ओर वनस्पति के मूल का विकास देखा जाता है। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत इन्द्रिय द्वारा भी उसकी सिद्धि हो जाती है।

श्रुतज्ञान का वर्णन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का क्रम और भेद

श्रुतं मतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेदम्। (20)

Scriptural knowledge is always preceded by sensitive knowledge. It is of two kinds. One of which has twelve and the other many divisions.

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का भी है।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान होता है तथापि यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता है। मतिज्ञान सामान्य ज्ञान है और श्रुतज्ञान विशेष ज्ञान है। एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक मिथ्यात्व गुणस्थान से 12वें गुणस्थान (क्षीण कषाय) तक श्रुतज्ञान होता है तथापि यहाँ पर मोक्षमार्ग का वर्णन होने से सुश्रुतज्ञान विवक्षित है। यह श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है।

शब्दात्मक उपदेश सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान यहाँ विवक्षित रूप से लिया है। इसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर है। श्रुतज्ञान के मूल भेद दो हैं-अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। बुद्धि आदि अतिशय वाले गणधरों के द्वारा रचित अंग प्रविष्ट 12 प्रकार का है। भगवान् अर्हत सर्वज्ञ देवरूपी हिमाचल से निकली हुई वचनरूपी गंगा

के अर्थरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित है अन्तःकरण जिनका ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणधरों के द्वारा ग्रंथरूप से रचित आचारादि बारह अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं। जैसे- (1) आचारांग, (2) सूत्रकृतांग, (3) स्थानांग, (4) समवायांग, (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (6) ज्ञातृधर्मकथा, (7) उपासकाध्ययनांग, (8) अन्तकृद्दशांग, (9) अनुत्तरौपपादिकदशांग, (10) प्रश्नव्याकरण, (11) विपाकसूत्र और (12) दृष्टिवाद।

1. **आचारांग**-आचारांग में आठ प्रकार की शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप चर्या का विधान किया जाता है।

2. **सूत्रकृतांग**-सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य, अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है।

3. **स्थानांग**-स्थानांग में अर्थों के एक-एक-दो-दो आदि अनेक आश्रयरूप से पदार्थों का कथन किया जाता है।

4. **समवायांग**-समवायांग में सर्व पदार्थों की समानता रूप से समवाय (समानता) का विचार किया गया है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है। जैसे-धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इन्हें द्रव्यरूप समवाय (समानता) कहा जाता है। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक, नन्दीश्वर द्वीप की वापिका ये सब एक लाख योजन विस्तार होने से इनका क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होने से इनका काल की दृष्टि से समवाय है।

क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन यथाख्यातचारित्र से सब अनंत विशुद्धि रूप से भाव समवाय हैं।

5. **व्याख्याप्रज्ञप्ति**-व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग में 'जीव है कि नहीं' इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का उत्तर है या निरूपण है।

6. **ज्ञातृधर्मकथांग**-ज्ञातृधर्मकथांग में अनेक आख्यान और उपाख्यानों का वर्णन है।

7. **उपासकाध्ययनांग**-उपासकाध्ययनांग में श्रावक धर्म का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

8. अन्तकृद्दशांग-संसार का अंत जिन्होंने कर दिया है वे अंतकृत हैं-जैसे-वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, निष्काम्बल, पाल और अम्बष्ठपुत्र ये दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर अंतकृत् केवली हुए। उसी प्रकार ऋषभादि तेईस तीर्थकरों के समय में दस-दस मुनि घोरोपसर्ग सहन करके अंतकृत्केवली हुए हैं। उस दस-दस मुनियों का वर्णन जिसमें है उसको अंतकृद्दशांग कहते हैं। अथवा-अंतःकृतों की दशा अंतकृत्दशा उसमें अर्हन् आचार्य होने की विधि तथा सिद्ध होने वालों की अंतिम-विधि का वर्णन है।

9. अनुत्तरोपपादिकदशांग-उपपाद जन्म ही है प्रयोजन जिसका वे औपपादिक हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामक पाँच अनुत्तर हैं। उन अनुत्तरों में उत्पन्न होने वालों को अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। महावीर के समय में ऋषिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नंद-नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए हैं।

इसी प्रकार ऋषभादि तेईस तीर्थकरों के समय में अन्य-अन्य दस-दस मुनिराज दारुण उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर विजयादि अनुत्तरों में उत्पन्न हुए हैं। उन अनुत्तरौपपादिकों की दशा का वर्णन जिसमें किया जाता है-उस अंग का नाम अनुत्तरौपपादिक दशांग है। अनुत्तरौपपादिकों की दशा अनुत्तरौपपादिक दशांग कहलाती है, इस अंग में विजय आदि अनुत्तर विमानों की आयु विक्रिया क्षेत्र आदि का वर्णन है।

10. प्रश्रव्याकरण-प्रश्रव्याकरणांग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है तथा उसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

11. विपाकसूत्र-विपाकसूत्र में पुण्य और पाप के विपाक (फल) का विचार (कथन) है।

12. दृष्टिवाद-इसमें 363 कुवादियों के मतों का निरूपण पूर्वक खण्डन किया है। कौल्कल, कोणविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारित, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियों के 180 भेद हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य,

व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौदगलायान आदि अक्रियावादियों के 84 भेद हैं। साकल्य, वल्कल, कुधुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनी, आदि अज्ञानवादियों के 67 भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्णि, वाल्मीकि, रौमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, ओपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थुण आदि वैनयिकों के 32 भेद हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों के कुल 363 भेद हैं। इन सब का वर्णन दृष्टिवाद में है। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

1.परिकर्म- 'परितः' अर्थात् पूरी तरह से 'कर्माणि' अर्थात् गणित के कारणसूत्र जिसमें है वह परिकर्म है। उसके भी पाँच भेद हैं-चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति। उनमें से चन्द्रप्रज्ञप्ति, चन्द्रमा के विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन, हानि, वृद्धि, पूर्णग्रहण, अर्धग्रहण, चतुर्थांशग्रहण आदि का वर्णन करती है।

सूर्यप्रज्ञप्ति-सूर्य की आयु, मण्डल, परिवार, ऋद्धि, गमन का प्रमाण तथा ग्रहण आदि का वर्णन करती है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपगत मेरु, कुलाचल, तालाब, क्षेत्र, कुण्ड, वेदिका, वनखण्ड, व्यन्तरो के आवास, महानदी आदि का वर्णन करती है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति-असंख्यात द्वीपसमुद्रों के स्वरूप, उनमें स्थित ज्योतिषीदेव, व्यन्तरो और भवनवासी देवों के आवासों में वर्तमान अकृत्रिम जिनालयों का वर्णन करती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति-रूपी-अरूपी, जीव-अजीव, द्रव्यों का भव्य और अभव्य भेदों का, उनके प्रमाण और लक्षणों का, अनन्तर सिद्ध और परम्परा सिद्धों का तथा अन्य वस्तुओं का वर्णन करती है।

2.सूत्र-'सूत्रयति' अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि दर्शनों को सूचित करता है वह सूत्र है। जीव अबन्धक है, अकर्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्वप्रकाशक नहीं है, पर प्रकाशक है, जीव अस्ति ही है या नास्ति ही है इत्यादि क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक मिथ्यादृष्टियों के तीन सौ तिरसठ मतों को पूर्वपक्ष के रूप में कहता है।

3.प्रथमानुयोग-प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि, अव्रती या अव्युत्पन्न व्यक्ति के लिए जो अनुयोग रचा गया वह प्रथमानुयोग है। यह चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ

बलदेव, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव इन तिरसठ शलाका प्राचीन पुरुषों का वर्णन करता है।

4.पूर्वगत-चौदह प्रकार के सम्बन्ध में आगे विस्तार से कहेंगे।

5.चूलिका-चूलिका भी पाँच प्रकार की है-जलगता चूलिका, स्थलगता, मायागता, आकाशगता और रूपगता। जलगता चूलिका-जल का स्तम्भन, जल में गमन, अग्नि का स्तम्भन, अग्नि का भक्षण, अग्नि में बैठना, अग्नि में प्रवेश आदि के कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। मायागत चूलिका-मायावी रूप, इन्द्रजाल (जादूगरी) विक्रिया के कारण, मंत्र, तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। रूपगता चूलिका सिंह, हाथी, घोड़ा, मृग, खरगोश, बैल, व्याघ्र आदि के रूप बदलने में कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि का लक्षण व धातुवाद, रसवाद, खदान आदि वादों का कथन करती है। आकाशगता चूलिका-आकाश में गमन करने में कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरण का कथन करती है।

पूर्वगत चौदह प्रकार का है-1.उत्पादपूर्व, 2.अग्रायणी, 3.वीर्यप्रवाद, 4.अस्तिनास्तिप्रवाद, 5.ज्ञानप्रवाद, 6.सत्यप्रवाद, 7.आत्मप्रवाद, 8.कर्मप्रवाद, 9.प्रत्याख्यान, 10.विद्यानुवाद, 11.कल्याणवाद, 12.प्राणवाय, 13.क्रियाविशाल, 14.लोकबिन्दुसार।

1.उत्पादपूर्व-काल, पुद्गल, जीव आदि का जिस काल में जिस क्षेत्र में जिस पर्याय से उत्पत्ति होती है, उन सबका वर्णन जिसमें है उसको उत्पादपूर्व कहते हैं।

2.अग्रायणी-जिसमें क्रियावादियों की प्रक्रिया, अग्रणी के समान अंगादि तथा स्वसमय के विषय का विवेचन किया गया है वह अग्रायणी पूर्व है।

3.वीर्यप्रवाद-छद्मस्थ और केवलियों की शक्ति; सुरेन्द्र, असुरेन्द्र आदि की ऋद्धि वा नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदि के सामर्थ्य और द्रव्यों के समीचीन लक्षण आदि का वर्णन है वह वीर्यप्रवाद है।

4.अस्तिनास्तिप्रवाद-जिसमें पाँचों अस्तिकायों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश) का और नयों का अस्ति-नास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है, उसको अस्ति-नास्ति प्रवाद कहते हैं। अथवा-जीवादि छह द्रव्यो का उभय नय के

द्वारा वशीकृत, अर्पित (विवक्षित), अनर्पित (अविवक्षित) स्व पर पर्याय के कारण भाव (विधि), अभाव (निषेध) से जो वर्णन करता है अर्थात् स्वद्रव्य क्षेत्र काल की अपेक्षा जीवादि अस्तिरूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा नास्ति रूप है, इस प्रकार नय विवक्षा से वस्तु के स्वरूप का वर्णन करता है-वह अस्ति-नास्ति प्रवाद है।

5.ज्ञानप्रवाद-जिसमें प्रादुर्भाव विषयों के आयतन स्वरूप ज्ञानियों के पाँच ज्ञानों का और अज्ञानियों के विषयों के आयतन इन्द्रियों का विभाग किया जाता है वह ज्ञानप्रवाद है।

6.सत्यप्रवाद-जिसमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कार, के कारण, वचन, प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता के अनेक प्रकार, मृषाभिधान और दस प्रकार के सत्य के सद्भाव का वर्णन किया जाता है, वह सत्यप्रवाद है।

7.आत्मप्रवाद-जिसमें आत्मा का अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म और षट् जीवनिकाय के भेदों का युक्ति से निरूपण किया गया है-वह आत्मप्रवाद है।

8.कर्मप्रवाद-जिसमें कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि दशाओं का तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आदि स्थिति का तथा प्रदेशों के समूह का वर्णन किया जाता है वह कर्मप्रवाद है।

9.प्रत्याख्यान-जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग आचार, आराधना, विशुद्धि का उपक्रम आदि व मुनियों के आचरण का कारण तथा परिमित, अपरिमित द्रव्य के प्रत्याख्यान आदि का वर्णन है उसे प्रत्याख्यान पूर्व कहते हैं।

10.विद्यानुवाद-जिसमें समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, उनका विषय, रज्जु राशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक-प्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का विवचेन है। अंगुष्ठप्रसेनादि 700 अल्पविद्याएँ और रोहिणी आदि 500 महाविद्याएँ होती हैं।

11.कल्याणवाद-जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारागणों का गमन क्षेत्र, उपपादक्षेत्र, शकुन आदि का वर्णन है तथा अर्हत, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि का एवं गर्भ जन्म तप केवलज्ञान मोक्ष इन पंचकल्याणकों का वर्णन किया है वह कल्याणपूर्व कहलाता है।

12.प्राणावाय-कायचिकित्सा आदि आठ अंग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिप्रकम प्राणायाम के विभाग का जिसमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है वह प्राणवाय नामक पूर्व है।

13.क्रियाविशाल-लेखनक्रिया आदि पुरुषों की 72 कलाओं का, स्त्रियों की 64 कलाओं का तथा शिल्प, काव्यगुणदोष, छन्द, क्रिया, क्रिया का फल व उसके भोक्ता आदि का जिसमें विस्तारपूर्वक वर्णन है, वह क्रिया विशालपूर्व है।

14.लोकबिन्दुसार-आठ प्रकार का व्यवहार, चार बीजराशि, परिकर्म आदि गणित तथा सारी श्रुत संपत्ति का जिसमें विवरण है वह लोकबिन्दुसार है।

अवधिज्ञान का वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। (21)

Birth born visual knowledge (is in born) in celestial and hellish beings.

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है।

अवधिज्ञानारणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान की उपलब्धि होती है। इसके 2 भेद है। (1) भवप्रत्यय (2) गुणप्रत्यय।

(1) **भवप्रत्यय-**भव को निमित्त करके जो अवधिज्ञान होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है परन्तु यह भव को निमित्त प्राप्त करके होता है। जैसे-देव एवं नारकियों के अवधिज्ञान।

(2) **गुणप्रत्यय-**गुण को अर्थात् सम्यग्दर्शन, तपादि को गुण कहते हैं इन गुणों के निमित्त से अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान होता है उसे गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचन्द्रचार्य ने अवधिज्ञान का बहुत ही सुन्दर निम्न प्रकार वर्णन किया है-

अवहीयदि त्ति ओही, सीमाणाणे त्ति वणिणयं समये।

भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणे त्ति णं बेत्ति।। (370)

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा हो उसको 'अवधिज्ञान' कहते हैं। इस ही लिये परमागम में इसको सीमाज्ञान कहा है तथा इसके जिनेन्द्रदेव ने दो भेद कहे हैं, एक भव प्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय।

भवपच्चङ्गो सुरणियाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।

गुणपच्चङ्गो णरतिरियाणं संखादिचिण्हभवो।। (371)

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थकरों के भी होता है और यह ज्ञान सम्पूर्ण अंग से उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों के भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिह्नों से होता है।

नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश आदि जो शुभ चिह्न होते हैं, उस जगह के आत्मप्रदेशों में होने वाले अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यातराय कर्म के क्षयोपशम से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से होता है।

क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान के भेद और स्वामी

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणम्। (22)

(The other kind of visual or direct material knowledge is) of six kinds (and it) arises from the part destruction, part subsidence and part operation (of the karmas which obscure visual or direct material knowledge) (This is acquired by the other i.e. by human and sub human beings, who are possessed of mind.

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है। जो शेष अर्थात् तिर्यचों और मनुष्यों के होता है।

नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में इसका सविस्तार सुन्दर वर्णन अग्र प्रकार किया है-

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद हैं-(1) अनुगामी (2) अननुगामी (3) अवस्थित (4) अनवस्थित (5) वर्धमान (6) हीयमान।

(1) **अनुगामी**-जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ जाये उसको अनुगामी कहते हैं। इनके तीन भेद हैं-(1) क्षेत्रानुगामी (2) भवानुगामी (3) उभयानुगामी।

- (1) **क्षेत्रानुगामी**-जो दूसरे क्षेत्र में साथ जाये उसको क्षेत्रानुगामी कहते हैं।
 (2) **भवानुगामी**-जो दूसरे भव में साथ जाये उसको भवानुगामी कहते हैं।
 (3) **उभयानुगामी**-जो दूसरे क्षेत्र तथा भव में साथ जाये उसको उभयानुगामी कहते हैं।

(2) **अननुगामी**-जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ न जाय उसको अननुगामी कहते हैं। इसके भी तीन भेद है-1.क्षेत्रानुगामी 2.भवानुगामी 3.उभयानुगामी।

(3) **अवस्थित**-जो सूर्यमण्डल की तरह न घटे न बढ़े उसको अवस्थित कहते हैं।

(4) **अनवस्थित**-जो चन्द्रमण्डल की तरह कभी कम हो अधिक हो उसे अनवस्थित कहते हैं।

(5) **वर्धमान**-जो शुक्लपक्ष के चन्द्र की तरह अपने अंतिम स्थान तक बढ़ता जाये उसको वर्धमान कहते हैं।

(6) **हीयमान**-जो कृष्णपक्ष के चन्द्र की तरह अंतिम स्थान तक घटता जाय उसको हीयमान कहते हैं।

सामान्यतया अवधिज्ञान के जो तीन भेद बताये हैं, उनमें से केवल गुण प्रत्यय देशावधिज्ञान के ही अनुगामी आदि छह भेद हुआ करते हैं।

भवपच्चङ्गो ओही, देसोही होदि परमसव्वोही।

गुणपच्चङ्गो णियमा, देसोही वि य गुणे होदि।। (जीवकाण्ड)

भव प्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होती है और परमावधि तथा सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही हुआ करते हैं। देशावधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों तरह का होता है।

दर्शनविशुद्धि आदि गुणों के निमित्त से होने वाला गुणप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकार का होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियम से देशावधिरूप ही हुआ करता है।

देसोहिस्स य अवरं, णरतिरिये होदि संजदमिह वरं।

परमोही सव्वोही, चरमसरीरस्स विरदस्स।। (374)

जघन्य देशावधिज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकार के मनुष्य तथा

देशसंयमी-संयतासंयत तिर्यचों के होता है। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयत जीवों के ही होता है। किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी महाव्रती के ही होता है।

पडिवादी देसोही, अप्पडिवादी हवन्ति सेसा ओ।

मिच्छतं अविमणं, ण य पडिवज्जन्ति चरमदुगे।। (375)

देशावधिज्ञान प्रतिपाती होता है और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। परमावधि और सर्वावधि वाले जीव नियम से मिथ्यात्व और अव्रत अवस्था को प्राप्त नहीं होते।

सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व और असंयम की प्राप्ति को प्रतिपात कहते हैं। इस तरह का यह प्रतिपात देशावधि वाले का ही हो सकता है। परमावधि और सर्वावधि वाले का नहीं होता। फलतः ये दोनों अंतिम अवधिज्ञान अप्रतिपाती ही है और देशावधिज्ञान प्रतिपाती अप्रतिपाती दोनों ही तरह का है।

मनःपर्ययज्ञान के भेद

ऋजुविपुलमतिमनःपर्ययः। (23)

Mental knowledge (is of two kinds)

Simple direct knowledge of complex mental things e.g. of what a man is thinking of now along with what he as thought of it the past and will think of it.

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है।

पर मनोगत रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रकाशादि बाह्य अवलम्बन के बिना जाना जाता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इसके 2 भेद हैं-(1) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान (2) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान।

ऋजु का अर्थ है-सरल, सीधा। विपुल का अर्थ है-कुटिल।

(1) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान-दूसरे के मनगत सरल वचन, काय और मनकृत अर्थ को जो मनःपर्ययज्ञान जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। अथवा वर्तमान मनगत विषय को जो जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

(2) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान-दूसरे के मनगत त्रिकालवर्ती वचन, काय

और मनकृत अर्थ विषय को जानता या कुटिलगत विषय को जानता है उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। तत्त्वार्थसार में अमृतचंद्र सूरि ने कहा भी है-

परकीयमनः स्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया।

स्यान्मनः पर्ययो भेदौ तस्यर्जुविपुले मती।। (28)

अन्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानना मनःपर्ययज्ञान है। इसके ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेद हैं।

गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा-

“मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप”

चिंतियमचिंतियं वा, अब्द्धं चिंतियमणेयभेयगयं।

मणपज्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए।।

जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् काल में चिन्तवन किया जायेगा, अथवा अर्धचिन्तित-वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह मनःपर्ययज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न है बाहर नहीं।

मनःपर्यय के भेद

मणपज्जवं च दुविहं, उजुविउलमदि ति उजुमदी ति विहा।

उजुमणवयणे काए, गदत्थविसया ति णियमेणा।। (439)

सामान्य की अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकार का है और विशेष भेदों की अपेक्षा दो प्रकार का है-एक ऋजुमति दूसरा विपुलमति। ऋजुमति के भी तीन भेद हैं-ऋजुमनोगतार्थ विषयक, ऋजुवचनगतार्थविषयक, ऋजुकायगतार्थविषयक। परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन, वचन, काय के द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को ऋजुमति ज्ञान कहते हैं। अतएव सरल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुए पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा ऋजुमति के पूर्वोक्त तीन भेद हैं।

विउलमदी वि य छद्वा, उजुगाणुजुवयकायचित्तगयं।

अत्थं जाणदि जम्हा, सद्वत्थगया हु ताणत्था।। (440)

विपुलमति के छह भेद हैं-ऋजु, मन, वचन, काय के द्वारा किये गये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद और कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद। ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्यय के विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं। कोई आकार पूछे तो उसके मन की बात मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है। कदाचित् कोई न पूछे मौनपूर्वक स्थित हो तो भी उसके मनःस्थ विषय को वह जान सकता है।

तियकालविषयरूविं, चिंतियं वट्टमाणजीवेण।

उजुमदिणाणं जाणदि, भूदभविस्सं च विउलमदी।। (441)

वर्तमान जीव के द्वारा चिन्तयमान-वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा है ऐसे त्रिकाल विषयक रूपी पदार्थ को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है और विपुलमतिज्ञान भूत, भविष्यत् को भी जानता है।

जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्य में चिन्तवन किया जाएगा अथवा वर्तमान में जिसका चिन्तन हो रहा है, ऐसे तीनों ही प्रकार के पदार्थ को विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है।

सव्वंगअंगसंभवचिणहादुप्पज्जदे जहा ओही।

मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा।। (442)

जिस प्रकार अवधिज्ञान समस्त अंग से अथवा शरीर में होने वाले शंखादि शुभ चिह्नों से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह मनःपर्ययज्ञान जहाँ पर द्रव्यमन होता है उन्हीं प्रदेशों से उत्पन्न होता है।

जहाँ पर द्रव्यमन होता है उस स्थान पर जो आत्मा के प्रदेश हैं वही से मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्व अंग से होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शंखादिक चिह्नों के स्थान से ही होता है। साथ ही इन चिह्नों का स्थान द्रव्यमन की तरह निश्चित नहीं है। यह उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा अवधि और मनःपर्ययज्ञान में अंतर है।

द्रव्यमन का स्थान और आकार

हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसियअदुच्छदारविंदं वा।

अंगोवगुदयादो, मणवगणखंधदो णियमा।। (443)

अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कंधों के द्वारा हृदय स्थान में नियम से विकसित आठ पाँखड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

णोइंदियं ति सण्णा, तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।

वत्तत्ताभावादो, मणमणपज्जं च तत्थ हवे।। (444)

इस द्रव्यमन की नोइन्द्रिय संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमन के निमित्त से भावमन तथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

मनःपर्ययज्ञान का स्वामी

मणपज्जवं च णाणं, सत्तसु विरदेसु सत्तइड्डीणं।

एगादिजुदेसु हवे, वंडूतविसिडुचरणेसु।। (445)

प्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यंत सात गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान वाले के, इस पर भी सात ऋद्धियों में से कम से कम किसी भी एक ऋद्धि को धारण करने वाले के ऋद्धि प्राप्त में भी वर्धमान तथ विशिष्ट चारित्र करने वाले के ही यह मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।

णिरवेक्खिय विउलमदी, ओहिं वा होदि णियमेव।। (446)

अपने तथा पर के स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग, काययोग, वचनयोग की अपेक्षा से ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् वर्तमान में विचार प्राप्त स्पर्शनादि के विषयों को ऋजुमति जानता है। किन्तु विपुलमति अवधि की तरह इनकी अपेक्षा के बिना ही नियम से होता है।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी दु होदि विदिया हु।

सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु।। (447)

ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि ऋजुमति वाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढ़ता है।

उसमें यद्यपि क्षपक की अपेक्षा ऋजुमति वाले का पतन नहीं होता; तथापि उपशम श्रेणी की अपेक्षा चारित्र मोहनीय कर्म का उद्रेक हो आने के कारण कदाचित् उसका पतन भी सम्भव है। विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती: है तथा ऋजुमति शुद्ध है और विपुलमति इससे भी शुद्धतम होता है अर्थात् दोनों में विपुलमति की विशुद्धि प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम विशेष के कारण अधिक है।

परमणसि टिठयमट्टं, ईहामदिणा उजुटिठयं लहिय।

पच्छा पच्चक्खेण य, ऊजुमदिणा जाणदे णियमा।। (448)

ऋजुमति वाला दूसरे के मन में सरलता के साथ स्थित पदार्थ को पहले ईहामतिज्ञान के द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

चित्तिमचिंतियं वा, अब्द्धं चिंतियमणेय भेय गयं।

ओहिं वा विउलमदी, लहिऊण विजाणए पच्छा।। (449)

चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित इस तरह अनेक भेदों को प्राप्त दूसरे के मनोगत पदार्थ को अवधि की तरह विपुलमति प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

विशुद्धि-दोनों ज्ञानों में अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है क्योंकि मनःपर्ययज्ञान का विषय सूक्ष्म है। अवधिज्ञान, जिस रूपी द्रव्य को जानता है उनके अनंतवे भाग रूपी द्रव्य को मनःपर्ययज्ञान जानता है। सर्वावधिज्ञान के अनंतवां भाग को मनःपर्ययज्ञान जानता है।

क्षेत्र-अवधिज्ञान की उत्पत्ति का क्षेत्र समस्त त्रस नाड़ी है। किन्तु मनःपर्ययज्ञान मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होने से मनुष्य लोक, अढ़ाई द्वीप अथवा 45 लाख योजन इसका प्रमाण है।

स्वामी-मनःपर्ययज्ञान प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के उत्कृष्ट चारित्र गुण से युक्त जीवों के ही पाया जाता है। वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्र वाले जीवों को ही उत्पन्न होता है, घटते हुए चारित्र वालों के नहीं। वर्द्धमान चारित्र वाले जीवों में उत्पन्न हुआ भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से एक ऋद्धि को प्राप्त हुए जीवों में उत्पन्न होते हैं अन्य के नहीं। ऋद्धि प्राप्त जीवों में भी किन्हीं के ही उत्पन्न होता है सबके नहीं, इस प्रकार सूत्र में इसका स्वामी विशेष या

विशिष्ट संयम का ग्रहण प्रकृत है। परन्तु अवधिज्ञान चारों गति के जीवों के होता है, इसलिए स्वामियों के भेद से भी इनमें अंतर है।

विषय-अवधिज्ञान के विषय का क्षेत्र समस्त लोक है किन्तु मनःपर्ययज्ञान के विषय का क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन का घन रूप ही है। इतने क्षेत्र में स्थित अपने योग्य विषय को ही ये ज्ञान जानते हैं।

मति और श्रुतज्ञान का विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।(26)

The subject matter of sensitive and scriptural knowledge is all the six substances but not in all their modifications.

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती हैं।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व कालादि सर्व द्रव्यों में होती है परन्तु उसकी सब पर्यायों में नहीं होती। परन्तु कुछ पर्यायों में होती है। इन दोनों ज्ञान का विषय सर्वद्रव्य की अनंत पर्यायें नहीं परन्तु कुछ पर्यायें होती हैं।

क्योंकि मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों के अवलम्बनभूत है। इसलिए जिस द्रव्य में रूपादि है उसी को जानते हैं, सर्व पर्यायों को नहीं जान सकते। अर्थात् मतिज्ञान चक्षुआदि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है और रूपादि को विषय करता है। अतः स्वभावतः वह रूपी द्रव्यों को जानकर भी उनकी कुछ स्थूल पर्यायों को ही जानेगा। श्रुतज्ञान भी प्रायः शब्द निमित्तक होता है और द्रव्य पर्यायें संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेदरूप हैं-अतः वे असंख्यात शब्द पर्यायों को ही कह सकते हैं। कहा भी है-

“पण्णवणिज्जा भावा अणंत भागो दु अणभिलप्पाणं।

पण्णवणिज्जाणं पुण अणंत भागो सुदणिबद्धो।।”

शब्दों के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थों से वचनातीत पदार्थ अनंत गुने हैं अर्थात् अनंतवाँ भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय हैं, और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उसके अनंतवें भाग

पदार्थ श्रुत में निबद्ध होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थों में मतिज्ञान की प्रवृत्ति का अभाव होने से 'सर्वद्रव्य पर्याय' शब्द युक्त नहीं है; ऐसा नहीं कहना क्योंकि मन का विषय सर्वद्रव्य हो सकता है।

प्रश्न-अतीन्द्रिय होने से धर्मास्तिकायादि द्रव्यों को मतिज्ञान नहीं जान सकता अतः मतिश्रुत का विषय सर्वद्रव्य निबन्ध है, ऐसा कहना उचित नहीं है-

उत्तर-यद्यपि धर्म, अधर्म, आकाशादि, अरूपी पदार्थ अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय का विषय नहीं है तथापि मानस मतिज्ञान का विषय होते हैं-नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमलब्धि की अपेक्षा मतिज्ञान का धर्मादि द्रव्यों में व्यापार होता है अर्थात् मतिज्ञान धर्मादि द्रव्यों को जानते है, यदि मानसज्ञान से अतीन्द्रिय पदार्थों को नहीं जानते तो अवधिज्ञान के साथ मतिज्ञान का निर्देश करते कि रूपी पदार्थों को ही मतिज्ञान जानता है।

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधेः॥(27)

Matter (and embodied soul are the subject matter) of visual knowledge, but not in all their modifications.

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होते हुए भी देशप्रत्यक्ष है, क्योंकि अवधिज्ञान, अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण इसकी शक्ति सीमित है इसलिए सीमा सहित होने के कारण अवधि कहते हैं। वह अवधिज्ञान रूपी द्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्य को ही जानता है। जहाँ रूप होगा वहाँ स्पर्श, रस, गंध भी होगा और जो स्पर्श रस गंध वाला है वहाँ पुद्गल है। अवधिज्ञान पुद्गल की अनन्त पर्यायों को नहीं जानता परन्तु कुछ पर्यायों को जानता है। वह अवधिज्ञान जीव के औदयिक, औपशमिक और क्षयोपशमिक भावों को विषय करता है। क्योंकि इनमें रूपी कर्म का सम्बन्ध है तथा रूपी कर्म के सम्बन्ध का अभाव होने से क्षायिक भाव, पारिणामिक भाव तथा धर्मादि द्रव्यों को अवधिज्ञान विषय नहीं करता। अवधिज्ञान इनको नहीं जानता।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम्।। (8)

The lakshna or diffrentia of soul is upayoga, attention, consiousness, attentiveness.

उपयोग जीव का लक्षण है।

इस सूत्र में जीव के महत्वपूर्ण सद्भूत लक्षण का वर्णन है। पहले अध्याय में जीव के ज्ञान गुण का वर्णन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है तो इस अध्याय में भी जीव के भावों का वर्णन असाधारण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। उपयोग जीव के असाधारण भाव या लक्षण होने के कारण यह भाव अन्य अजीव पदार्थ में नहीं पाया जाता है तथा किसी भी रसायनिक प्रक्रिया से उपयोग शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। डार्विन आदि वैज्ञानिक जो रसायनिक प्रक्रिया से जीव की उत्पत्ति मानते हैं वह सिद्धांत कपोल-कल्पित, अविचारित रम्य है। इस सिद्धांत का खण्डन मेरी (कनकनदी) “विश्व विज्ञान रहस्य” पुस्तक में किया है। जिज्ञासु वहाँ से देखकर अध्ययन करें।

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।

जीवस्स सव्वकालं अणणभूदं वियाणीहि।। (40) पं.का.

उपयोग वास्तव में दो प्रकार है ज्ञान और दर्शन से संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। यह सर्वकाल इस जीव से एकरूप है जुदा नहीं है ऐसा जानो।

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स दु उवयोग।

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं।

“जीवो उवओगमओ” “जीवो” शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्त-वर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरूपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभाव प्राणैर्जीवतीति जीवः। (द्र.सं.)

यद्यपि यह जीव शुद्धनिश्चयनय से आदि मध्य और अंत से रहित निज और पर का प्रकाशक, उपाधि रहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राण है,

उससे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय से अनादि कर्मबन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्यप्राण और भाव प्राण है, उनसे जीता है इसलिये जीव है।

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।(९)

(Attention is of) 2 kinds which is subdivided into 8 and 4 kinds.

ज्ञानोपयोग Knowledge attention:

दर्शनोपयोग Conation-attention:

उपयोग Is a modification of Consiousness, which is an essential attribute of the soul. Thus attentiveness is kind of consciouness. Consiousness ia a characteristic of the knower, the soul.

वह उपयोग दो प्रकार का है-ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग।

ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।

जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्त से होता है और चैतन्य को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं रहता वह 'उपयोग' कहलाता है। वह उपयोग दो प्रकार का है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है: मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का: चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

साकार और अनाकार के भेद से इन दोनों उपयोग के भेद है। साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग। ये दोनों छद्मस्थों के क्रम से होते हैं और कर्म आवरणरहित जीवों के युगपत् होते हैं। यद्यपि दर्शन पहले होता तो भी श्रेष्ठ होने के कारण सूत्र में ज्ञान को दर्शन से पहले रखा है।

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जोदु उवजोगो।

सो दुविहो णायब्बो, सायारो चेव अणायारो।। (672) गो.सा.

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं--एक साकार (विकल्प) और दूसरा निराकार (निर्विकल्प)।

णाणं पंचविहं पि य, अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।

चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा।। (673)

पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान-मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय तथा केवल और तीन प्रकार का अज्ञान-मिथ्यात्व-कुमति, कुश्रुत, विभंग ये आठ साकार उपयोग के भेद हैं। चार प्रकार का दर्शन चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन अनाकार उपयोग है। यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवों का लक्षण है, क्योंकि उपयोग के इन 12 प्रकारों में से जीव के कोई न कोई उपयोग अवश्य रहा करता है।

साकार उपयोग में कुछ विशेषताः-

मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।

अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो।। (674)

मति श्रुत अवधि और मनः पर्यय इनके द्वारा अपने अपने विषय का अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त जो विशेषज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं।

साकार उपयोग के पाँच भेद हैं-मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल। इनमें से आदि के चार ही उपयोग छद्मस्थ जीवों के होते हैं। उपयोग चेतना का एक परिणमन है।

तथा एक वस्तु के ग्रहणरूप चेतना का यह परिणमन है। तथा एक वस्तु के ग्रहण रूप चेतना का यह परिणमन छद्मस्थ जीव के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल तक ही रह सकता है। इस साकार उपयोग में यही विशेषता है, कि यह वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है।

अनाकार उपयोग का स्वरूप-

इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जे गहणं।

अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो।। (675)

इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अन्तर्मुहूर्तकाल तक पदार्थों का जो सामान्य रूप ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं। दर्शन के चार भेद हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमें से आदि के तीन दर्शन छद्मस्थ जीवों के होते हैं।

नेत्र के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। और नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधि ज्ञान के पहले इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्ममात्र से जो रूपी पदार्थ विषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोग की तरह छद्मस्थ जीवों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

भावाणं सामण्ण विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।

वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि।। (483)

निर्विकल्प से जीव के द्वारा जो सामान्य विशेषात्मक पदार्थों की स्व-पर सत्ता का अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं।

पदार्थों में सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किंतु इनके केवल सामान्य धर्म की अपेक्षा से जो स्व-पर सत्ता का अवभासन होता है उसको 'दर्शन' कहते हैं। इसका शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसके चार भेद हैं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का स्वरूप

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेत्तिं।

सेसिंदयप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति।। (484)

जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रिय का विषय है उसका देखना, अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाय, अथवा उसके देखने को 'चक्षुदर्शन' कहते हैं चक्षु के सिवाय दूसरी सारी इन्द्रियों के अथवा मन के द्वारा जो अपने-अपने विषयभूत पदार्थ का सामान्य ग्रहण होता है उसको 'अचक्षुदर्शन' कहते हैं।

अवधिदर्शन का स्वरूप

परमाणु आदियाइं अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।

तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पचक्खं।। (485)

अवधिज्ञान होने से पूर्व समय में अवधि के विषय भूत परमाणु से लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्य को जो सामान्य रूप से देखता है उसको 'अवधिदर्शन' कहते हैं। इस अवधि दर्शन के अनन्तर प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान होता है।

केवल दर्शन का स्वरूप

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।

लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ।। (485)

तीव्र-मंद-मध्यम आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश जगत् में परिमित क्षेत्र में रहते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है, ऐसे प्रकाश को 'केवल दर्शन' कहते हैं।

समस्त पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है उसको 'केवलदर्शन' कहते हैं।

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च।(10)

They are of 2 kinds:

संसारी Mundane and मुक्त liberated Souls.

जीव दो प्रकार के हैं--संसारी और मुक्त।

वस्तुतः जीव द्रव्य एक प्रकार के होते हुए भी कर्म सहित एवं कर्म रहित की अपेक्षा जीव 2 प्रकार के हो जाते हैं। कर्म सहित जीव संसारी है तथा कर्म रहित जीव मुक्त है। कहा भी है-

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।

उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।। (109) पं.का.

जीव दो प्रकार के हैं-(1) संसारी अर्थात् अशुद्ध और (2) सिद्ध अर्थात् शुद्ध। वे दोनों वास्तव में चेतनास्वभाव वाले हैं और चेतना परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने योग्य है। उसमें संसारी जीव देह में वर्तनेवाले अर्थात् देह सहित है और सिद्ध जीव देह में न वर्तनेवाले अर्थात् देह रहित है।

.....मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।

विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा।। (32)

मिथ्यादर्शन-कषाय योगसहित संसारी है और अनेक मिथ्यादर्शन-कषाय योग रहित सिद्ध है।

संसारी जीवों के भेद

समनस्कामनस्काः। (11)

The mudane souls are of 2 kinds:

समनस्क Rational, those who have a mind; i.e. the facility of distinguishing right and wrong.

मन सहित तथा मन रहित ऐसे संसारी जीव हैं।

मन सहित जीव को समनस्क (सैनी) कहते हैं और मन रहित जीव को अमनस्क (असैनी) कहते हैं। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीव असैन होते हैं एवम् मन सहित पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी होते हैं। इन दोनों में से संज्ञी जीव श्रेष्ठ है क्योंकि संज्ञी जीव गुण और दोषों का विचारक होता है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होते हुए भी मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान, कुज्ञान के साथ-साथ बहुत ही अविकसित ज्ञान है, इतना ही नहीं असंज्ञी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं रखता है। संज्ञी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखता है। मन दो प्रकार का है (1) द्रव्य मन, (2) भाव मन।

उनमें से द्रव्य मन पुद्गलविपाकी आगोपाग नाम कर्म के उदय से होता है तथा वीर्यातराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भाव मन कहते हैं। यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे 'समनस्क' है और जिसके मन नहीं पाया जाता है वे 'अमनस्क' है। इस प्रकार मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा संसारी जीव दो भागों में बँट जाता है।

द्रव्य मन का स्वरूप

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअडुच्छदारविंदं वा।

अङ्गोवंगुदयादो मणवगणखंधदो णियमा।। (443)

अङ्गोपाङ्गनाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदय स्थान में नियम से विकसित आठ पांखुड़ी के कमल के आकार में द्रव्य मन उत्पन्न होता है।

णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।

वत्तताभावादो.....।। (444)

ज्ञान ज्ञेयों के समीप नहीं जाता

जैसे-आंखों के साथ रूपी मूर्तिक द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आंख शरीर में अपने स्थान पर है और रूपी पदार्थ अपने आकार का समर्पण आंखों में कर देते हैं तथा आंखे उनके आकारों को जानने में समर्थ होती है तैसे ही तीन लोक के भीतर रहने वाले पदार्थ तीन काल की पर्यायों में परिणमन करते हुए ज्ञान के साथ परस्पर प्रदेशों का सम्बन्ध न रखते हुए भी ज्ञानी के ज्ञान में अपने आकार के देने में समर्थ होते हैं तथा अखंडरूप से एक स्वभाव से झलकने वाला केवलज्ञान उन आकारों को ग्रहण करने में समर्थ होता है, ऐसा भाव है।

समीक्षा-यहाँ पर आचार्य देव ने ज्ञान एवं ज्ञेय का क्या संबंध है यह बताया है। ज्ञान उसे कहते हैं जो ज्ञेय को जानता है। ज्ञेय उसे कहते हैं जो ज्ञान का विषय बनता है। ऐसा संबंध होते हुए भी न ज्ञान, ज्ञेय रूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञान रूप होता है। यदि ऐसा हो जाये जो जड़तात्मक ज्ञेय भी चेतनात्मक ज्ञान बन जायेगा और चेतनात्मक आत्मा अचेतनात्मक हो जायेगा एवम् जड़तात्मक ज्ञेय, ज्ञान गुण के कारण चैतन्य बन जायेंगे और गुणों के अभाव से गुणी का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए ज्ञान, ज्ञेय का संबंध बताते हुए 'रत्नकरण्ड' में समन्तभद्रस्वामी ने कहा है-

‘सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।’

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र।। (1)

वह केवलज्ञान रूप परम ज्योति स्वरूप दर्पण में संपूर्ण लोक-अलोक के समस्त ज्ञेय एवं अनंत पर्यायें सम्यक् रूप में झलकती हैं ऐसी ज्योति जयवन्त हों। यहाँ पर द्वयाचार्य श्री ने केवलज्ञान की तुलना दर्पण से की है। उसका रहस्य जान लेना चाहिए क्योंकि दृष्टान्त और द्राष्टान्त में बहुत कुछ समानता होती है। यदि कुछ समानता न हो तो दृष्टान्त और द्राष्टान्त ही नहीं घट सकता है। भले केवल ज्योति चैतन्य स्वरूप है, दर्पण जड़तात्मक है। दर्पण में कुछ प्रतिबिम्बित होता है। केवलज्ञान में सब कुछ प्रतिबिम्बित होता है। इस तरह दोनों में महान् असमानता होते हुए भी कुछ समानता भी है। वह यह है कि जैसे दर्पण बिना प्रवेश हुए भी अपने प्रतिबिम्ब को झलकाता है। वैसे केवलज्ञान बिना रागद्वेष के तथा ज्ञेय में बिना प्रवेश किये हुए ज्ञेय को जानता है। इसलिए तो स्वामी कार्तिकेय ने कहा है-

णाणं ण जादि णेयं णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि।

णिय-णिय-देस ठियाणां व्यवहारो णाण-णेयाणं।। (256)

ज्ञान, ज्ञेय के पास नहीं जाता और न ज्ञेय ज्ञान के पास आता है। फिर भी अपने-अपने देश में स्थित ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञेयज्ञायक व्यवहार होता है।

ज्ञानी ज्ञेय में प्रवेश बिना जानता

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।

जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।। (29)

The knower, who is beyond sense-perception, necessarily knows and sees the whole world neither entering into nor entered into by the object of knowledge, just as the eye sees the objects of sight.

जैसे नेत्र रूपी द्रव्यों को यद्यपि निश्चय से स्पर्श नहीं करता है तथापि व्यवहार से स्पर्श कर रहा है ऐसा लोक में झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्व-रागद्वेष आदि आस्रव भावों के और आत्मा के संबंध में जो केवलज्ञान होने के पूर्व विशेष भेदभाव होता है, उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा तीन जगत् और तीन कालवर्ती पदार्थों को निश्चय से स्पर्श न करना हुआ भी व्यवहार से स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञान से जानता है और दर्शन से देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में परिणमन करता हुआ इन्द्रियों के विषयों से अतीत हो गया है। इसलिये जाना जाता है कि निश्चय से आत्मा पदार्थों में प्रवेश न करता हुआ ही व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में प्रवेश हुआ ही घटता है।

समीक्षा-पूर्व गाथा में यह सिद्ध किया गया था कि ज्ञान, ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेय में प्रवेश नहीं करता है यह कथन यथार्थ निश्चयनय से हैं परन्तु व्यवहार नय से विचार करने पर कथंचित् ज्ञान, ज्ञेय में प्रवेश करता भी है जैसे-कोई दर्पण को देख रहा है तब वस्तु स्वरूप से दर्पण और दर्शक अलग-अलग है। तथापि उसे दर्शक का प्रतिबिम्ब उस दर्पण में प्रवेश करता हुआ झलकता है। यदि उसका प्रतिबिम्ब सर्वथा दर्पण में प्रवेश नहीं करता तो दर्पण में प्रतिबिम्ब कैसे झलकता? इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से वह व्यक्ति दर्पण में प्रतिछाया (प्रतिबिम्ब) रूप में

प्रवेश किया हुआ है। विज्ञान की अपेक्षा वस्तु से जो प्रकाश निस्तुत होता है वह प्रकाश दर्पण के तल में जाकर प्रतिफलित होता है। प्रकाश जिस डिग्री में दर्पण तल में गिरेगा उतना ही कोण बनाकर प्रतिफलित होगा। इसके कारण ही दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है।

इसी प्रकार चक्षु दूर से वस्तु को देखती है वह उस वस्तु का प्रतिबिम्ब आंख के रेटिना (तारा) में पड़ता है। यदि यह प्रतिबिम्ब आंख में नहीं पड़ता तो वह वस्तु दिखाई नहीं देती तथापि वह वस्तु आंख में प्रवेश नहीं करती। यदि वह वस्तु आंख में प्रवेश कर जाती तो आंख फूट जाती अथवा इतनी छोटी आंख में इतनी बड़ी-बड़ी वस्तु कैसे प्रवेश कर जाती? इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी चक्षु में समस्त लोक-अलोक स्व प्रमेयत्व गुण के कारण प्रतिबिम्ब होते हैं। ज्ञान की स्वच्छता में प्रतिबिम्ब करने की शक्ति है और ज्ञेय में प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञान की स्वच्छता में प्रतिबिम्ब करने की शक्ति है और ज्ञेय में प्रतिबिम्ब होने की शक्ति है, उसे ही प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध या ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध कहते हैं। जैन दर्शनिक ग्रन्थ आलाप पद्धति में देवसेन सूरी ने कहा है-

प्रमेय स्वभावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्य प्रमेयम् (98)

प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं।

‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्’ (1) प.भु.

स्व और अपूर्व अर्थ (अनिश्चित अर्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। जो ज्ञान स्व और पर स्वरूप को विशेष रूप से निश्चय करे, वह प्रमाण है। उस प्रमाण के द्वारा जो जानने योग्य है अथवा जो प्रमाण के द्वारा जाना जाय वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ज्ञान का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण है। यदि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण न हो तो वह किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता था।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणण केवली भगवं।

केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेव अप्पाण।। (159) नियमसार

व्यवहारनय से केवली भगवान् सब कुछ जानते और देखते हैं निश्चयनय से केवल ज्ञानी आत्मा को जानते और देखते हैं।

ज्ञान का ज्ञेय में व्याप्त होने का उदाहरण

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।

अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु।। (30) प्र.सा.

The knowledge operates on the object Just as a sapphire, thrown in the milk, pervades the whole of it with its lustre.

भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नाम का प्रधानरत्न कर्ता होकर अपनी नीलप्रभारूपी कारण से दूध नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परम सामायिक नामा संयम के द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा-पर को जानने की शक्ति रखने के कारण सर्व अज्ञान के अन्धेरे को तिरस्कार करके एक समय में ही सर्व पदार्थों में ज्ञानाकार से वर्तता है-यहां यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थों के कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञान में झलकते हैं उनको उपचार से पदार्थ कहते हैं। उन पदार्थों में ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहार से दोष नहीं है।

समीक्षा-इस गाथा में आचार्य श्री ने ज्ञान-ज्ञेय का क्या सम्बन्ध है सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इन्द्रनीलमणि नाम का एक रत्न होता है जिसकी प्रभा दूध में फैलती है और दूध का वर्ण नीला हो जाता है। यदि एक पात्र में दो इंच प्रमाण दूध है और उसमें इन्द्रनीलमणि डाल दिया जाता है तब उस मणि की प्रभा उस दूध में 2 इंच तक फैलेगी और यदि दूध की मात्रा 4 इंच की हो जायेगी तब उस मणि की प्रभा 4 इंच तक फैल जायेगी। इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी इन्द्रनीलमणि, ज्ञेय रूपी दूध को प्रकाशित करता है वर्तमान जितना ज्ञेय है उस ज्ञेय से अनन्त गुणित ज्ञेय होता तो उसे भी केवलज्ञान प्रकाशित कर लेता और उससे कम होता तो भी उसे प्रकाशित कर लेता तो भी उस केवलज्ञान की शक्ति कम या अधिक नहीं होती। अथवा जैसे इन्द्रनीलमणी दूध नहीं बनता और दूध इन्द्रनीलमणि नहीं बनता उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमन नहीं करता और ज्ञेय ज्ञान रूप परिणमन नहीं करता।

ज्ञेय ज्ञान में वर्तन करते हैं-

जदि तेण संति अद्वा णाणे णाणं ण होदि सव्वगदं।

सव्वगदं वा णाणं कहं ण णाणड्डिया अद्वा।। (31) प्र.सार

If those objects are not within the knowledge, knowledge can not be all-pervasive; the knowledge is all-pervasive, how then objects are not existion in it?

यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहार नय से ही सब ज्ञेयों के ज्ञानकार को ग्रहण करने के द्वारा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है। इसलिए ही सब ज्ञेयों के ज्ञानाकार समर्पण द्वार से पदार्थ भी व्यवहार से ज्ञान में प्राप्त हैं, ऐसा कह सकते हैं। पदार्थों के आकार को जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञान को देते हैं, यह कहना होगा।

समीक्षा-जैसे प्रकाश पदार्थ को प्रकाशित करता है एवं पदार्थ प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेय को प्रकाशित करता है एवं ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है ज्ञान व्यवहार से ज्ञेयाकार रूप में परिणमन करता है, जैसे कैमरा में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं कैमरे का लैन्स एवं फ्लेट प्रतिबिम्ब रूप में परिणमन करता है, तब जाकर कैमरा में उस वस्तु का चित्रांकन होता है। इसी प्रकार केवल ज्ञान रूपी कैमरा में ज्ञानरूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस प्रतिबिम्ब रूप केवलज्ञान परिणमन करता है। यदि ऐसा नहीं होता तब लोकालोक व्याप्त ज्ञेय को केवलज्ञान नहीं जान सकता है और केवलज्ञान सर्वव्यापी भी नहीं होता परन्तु केवलज्ञान सर्वव्यापी है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से ज्ञेय, ज्ञानाकार रूप परिणमन करता है और ज्ञान, ज्ञेयाकार रूप परिणमन करता है।

केवली ज्ञेय को जानता न कि ज्ञेय रूप होता

गेणहदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।

पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।। (32)

The omniscient lord neither accepts nor abandons, nor transforms the external objectivity; he sees all around, and knows everything completely.

अथवा इसी का दूसरा व्याख्यान यह है केवली भगवान् भीतर तो काम, क्रोधादि भावों को और बाहर में पांचों इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, न अपने आत्मा के अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते हैं। यही कारण है जो केवल ज्ञानी आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल में ही एक साथ सर्व को देखते-जानते हुए भी अन्य विकल्प रूप परिणमन नहीं करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते हैं? अपने स्वभाव रूप केवलज्ञान की ज्योति से निर्मल स्फटिक मणि के समान निश्चल चैतन्य प्रकाश रूप होकर आत्मा के द्वारा आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं। इसी कारण से उनकी परद्रव्यों के साथ एकता नहीं है, भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

समीक्षा-उपरोक्त अनेक गाथाओं में वर्णित विषय एवं उदाहरण से सिद्ध होता है केवलज्ञान रूपी दर्पण/ज्योति ज्ञेय रूपी वस्तुओं को प्रतिबिम्बित प्रकाशित करती है, तो भी न ज्ञेय को ग्रहण करती है, न छोड़ती है, न परिणमन करती है। यदि ज्ञान अन्य रूप परिणमन करेगा तो आत्मा अचेतन हो जायेगा अथवा शून्य हो जायेगा क्योंकि ज्ञानगुण के अभाव से आत्मा ज्ञानशून्य होने के कारण अचेतन हो जायेगा अथवा ज्ञान गुण के अभाव से आत्मा गुणी का भी अभाव हो जायेगा। जैसे दीपक समीपस्थ योग्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ भी वस्तु रूप नहीं होता है, उसको ग्रहण नहीं करता, उसका त्याग भी नहीं करता है। उसी प्रकार केवलज्ञान रूपी आदित्य के बारे में जान लेना चाहिए।

ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।

णाणं परिमणदि सयं अट्टा णाणट्ठि सव्वे।। (35)

He who knows is knowledge; the self does not become a knower with knowledge (as an extraneous instrument.) The very self develops knowledge, and all the object stand (reflected) in the knowledge.

किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दंतीले से देवदत्त घास का काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा होवे तो कोई दोष नहीं है। उसके लिये कहते हैं कि

ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध में दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। वैसे ही ज्ञान की क्रिया में उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न है, तो हो, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुम्भ, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्ति में मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्टा) व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्टिया) ज्ञान में स्थित है अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा—ज्ञान गुण एवं गुणी कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। इसलिए कथंचित् ज्ञान-ज्ञानी हैं और कथंचित् ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण स्वरूप भी है। अथवा आत्मा स्वयं से भिन्न अन्य किसी ज्ञान गुण के संयोग से ज्ञेय को जानता है ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान के संयोग से पहले आत्मा अचेतन रहेगा। तथा ज्ञान के संयोग से चेतन होगा। और भी एक अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा वह यह है कि ज्ञान गुण आत्मा के संयोग के पहले किस आधार पर था? और ज्ञान गुण के बिना आत्मा की सत्ता कैसे संभव है? कोई दार्शनिक ज्ञान एवं ज्ञान का फल ही मानते हैं और कोई अभिन्न ही है ऐसा मानते हैं परन्तु ज्ञान एवं उसका फल कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, यह वस्तु स्वरूप है। प्रेमयरत्नमाला में कहा भी है—

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (1)

अज्ञान की निवृत्ति हान, उपादान और उपेक्षा से प्रमाण के फल है।

फल दो प्रकार का होता है—साक्षात्फल और परम्पराफल वस्तु सम्बन्धी अज्ञान

की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्पराफल हैं, क्योंकि यह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च। (2)

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः। (3)

जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽमिधायि यत्।

देवैर्भिन्नभिन्नं च प्रमाणात्तहोदितम्॥ (11)

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फलरूप से परिणाम देखा जाता है इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करण रूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक् नहीं कहा है।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न है और अभिन्न भी है, वही यहाँ पर मैंने कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञेय का स्वरूप

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।

दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं॥ (36)

Therefor the self is knowledge; the object of knowledge is the substance, which is said to be threefold; the substance comprises the soul and the (five) other (substances) which are prone to modification.

कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है। उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है, उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्वपर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायेगा तो अनंत आकाश में फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायेगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिये ज्ञान स्व-पर-प्रकाशित है ऐसा सूत्र का अर्थ है।

समीक्षा-जैसे दीपक स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् स्वयं प्रकाशित होता है एवं पर को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् ज्ञान गुण के द्वारा स्वयं को जानता है और दूसरों को भी जानता है। जब आत्मा स्वयं को जानता है उस समय वह कथंचित् ज्ञेय भी हो जाता है। अन्य दृष्टि से भी आत्मा ज्ञेय भी है क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य गुण भी ज्ञान ही के विषय बनते हैं इसलिए अन्यगुण की अपेक्षा आत्मा ज्ञेय भी बन जाता है। अन्य अचेतन द्रव्य केवल ज्ञेय ही होते हैं कभी ज्ञान नहीं होते क्योंकि उसमें चैतन्य शक्ति नहीं होती है। जैसे-जो द्रव्य स्वयं अप्रकाशी है वह अन्य द्रव्य को प्रकाश नहीं दे सकता परन्तु अन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है।

जैसे विज्ञान की अपेक्षा सूर्य स्वप्रकाशी एवं परप्रकाशी भी है। क्योंकि जब सूर्य उदय होता है तब सूर्य को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। कोई यह नहीं कहता कि मुझे उदित सूर्य को देखना है एक टार्च लेकर आओ परन्तु अंधकार में कोई अप्रकाशित वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला (जैन न्याय शास्त्र) में कहा भी है-

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (1)

स्व अर्थात् अपने आपको और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से पूर्व में जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। (6)

स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय है। अपने आपको जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वोन्मुखता कहिए स्वानुभव रूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया। (7)

जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है। सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण किया गया। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने-आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

घटमहमात्मना वेद्मि। (8)

मैं घटकों अपने आपके द्वारा जानता हूँ। यहाँ पर 'अहं' पद कर्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरुष अपने आपके द्वारा घटको जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

प्रदीपवत्। (12)

दीपक के समान। जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य है-ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है, क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने से गुण से युक्त होकर अदृष्ट-अनुयायी करनेवाला है, जैसे दीपक का भासुराकार। नियम सार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है-

'यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रतिमेः पृथक्।।'

यथार्थ रूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और पर अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति-जानने रूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है।

जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।

तो ण वि किं पि विणेयं विणा कहं णाणं।। (247)

यदि सब वस्तु ज्ञानरूप ही हैं और एक ज्ञान ही नाना पदार्थों के रूप में स्थित है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं रहा। ऐसी स्थिति में बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है?

अथ सर्वमेव ज्ञानमेकं ज्ञानाद्वैतं ज्ञेयमन्तरेण नानारूपेण घटपटादिपदार्थमन्तरेण घटपटादिज्ञानरूपेण संस्थितं यदि चेत् तो तर्हि किमपि ज्ञेयं ज्ञेयपदार्थवृन्दं घटपटादिलक्षणं नैव नास्त्येव। भवतु नाम ज्ञेयेन पदार्थेन किं भवेदिति चेत् ज्ञेयेन विना ज्ञातुं योग्येन गृहगिरिभूमिजलाग्निवातादिना विना तेषां गृहघटादीनां ज्ञानं कथं सिद्ध्यति। तदो णेयं परमत्थं। ततः ज्ञेयमन्तरेण ज्ञानानुत्पत्तेः परमार्थभूतं ज्ञेय अंगीकर्तव्यम्।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्य घट, पट आदि पदार्थों को असत् मानता है और एक ज्ञान को ही सत् मानता है। उसका कहना है कि अनादि वासना के कारण हमें बाहर में ये पदार्थ दिखाई देते हैं। किन्तु वे वैसे ही असत्य हैं जैसे स्वप्न में दिखाई देनेवाली बातें असत्य होती हैं। इस पर आचार्य का कहना है कि यदि सब ज्ञानरूप ही है तो ज्ञेय तो कुछ भी नहीं रहा और जब ज्ञेय ही नहीं है तो बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है, क्योंकि जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं और जो जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं। जब जानने के लिये कोई है ही नहीं, तो ज्ञान कैसे हो सकता है?

घट-पड-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।

णाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्णरूवाणि।। (248)

घट पट आदि जड़ द्रव्य ज्ञेयरूप से सुप्रसिद्ध हैं। उनको ज्ञान जानता है। अतः ज्ञान से वे भिन्न रूप हैं।

जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं-गेहादि-बाहिरं अत्थं।

जो तं पि णाण मण्णदि ण मुण्णदि सो णाण-णामं पि।। (249)

जो शरीर मकान वगैरह बाह्य पदार्थ समस्त लोक में प्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञानरूप मानता है वह ज्ञान का नाम भी नहीं जानता।

ज्ञान त्रिकाल की अवस्थाओं को जानता

तद्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वदुन्ते ते गाणे विसेसदो दव्वजादीणं। (37)

All modifications, present and absent, of all those types of substances, attend essentially (reflected) in the knowledge, as if in the present.

भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मति श्रुतज्ञानी पुरुष के भी अंतरंग में मन से विचारते हुए पदार्थों की भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमयी भीत पर बाहुबली भरत आदि के भूतकाल के रूप तथा श्रेणिक तीर्थकर आदि भावीकाल के रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं तैसे भीत के चित्र समान केवलज्ञान में भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान् पर द्रव्यों की पर्यायों को उनके ज्ञानाकार मात्र से जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणों का आधारभूत अपनी ही सिद्ध पर्याय को ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूप से तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीव को भी उचित है कि अन्य द्रव्यों का ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म द्रव्य की सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रयमयी अवस्था को ही सर्व तरह से तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

समीक्षा—त्रैकालिक पर्यायों का समूहभूत द्रव्य है। किसी न किसी समय में द्रव्य किसी न किसी अवस्था में रहेगी ही। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय रहती है। भूत एवं भावी पर्यायें वर्तमान द्रव्य में प्राग्भाव एवं प्रध्वंसाभाव रूप में रहती हैं। केवलज्ञान विशद्, निरपेक्ष, प्रत्यक्ष, अनंतानंत ज्ञान प्रतिच्छेद से युक्त होने के कारण वह केवलज्ञान वर्तमान पर्याय के माध्यम से भूत एवं भविष्यत् पर्यायों को भी जान लेता है। एक लौकिक उदाहरण से प्रस्तुत इस महान् गूढ रहस्य का विशदकरण कर रहा हूँ। जैसे-अल्पज्ञ (छद्मस्थ) व्यक्ति एक

किशोर को देखकर अपने क्षयोपशमिक ज्ञान से यह अनुमान लगाता है कि यह किशोर पहले माता के गर्भ में था, जन्म लेकर शिशु से बढ़ता-बढ़ता किशोर हुआ है एवं यह आयुक्रम से बढ़ता हुआ, युवक, प्रौढ़ वृद्ध होकर मृत्यु को भी प्राप्त करेगा। यदि इसकी आयु कम है तो वह युवक, प्रौढ़, वृद्ध बने या न बने पर निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त करेगा। और भी एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ-रोटी को देखकर हमें पहले यह ज्ञान होता है कि पहले गेहूँ को खेत में बोया गया था, फिर अंकुर होकर पौधा बनकर गेहूँ आया तथा पके हुए उस गेहूँ को काट-छाँट कर गेहूँ को अलग किया गया, पश्चात् गेहूँ को पीसकर रोटी बनाई गई यह हुआ भूत से वर्तमान का ज्ञान। वह अनुमान से जानता है कि यदि कोई इसको भक्षण करेगा तो यह रूधिर रूप में परिवर्तित होगी और यदि कोई भक्षण नहीं करेगा तो सड़गल जायेगी। छद्मस्थ व्यक्ति अल्पज्ञ होने के कारण द्रव्य की कुछ पर्यायों को जान सकता है परन्तु सर्वज्ञ अनन्त ज्ञानी होने से सम्पूर्ण द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं।

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व पर्यायेषु। तत्त्वार्थ सूत्र

मति ज्ञात और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

रूपिष्ववधेः। (27)

अवधि ज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य। (28)

मनः पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।

सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य। (29)

केवल की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।

कलिकाल सर्वज्ञ, तार्किक चूडामणि, बहुभाषा विद् 'महाप्रज्ञ' वीरसेन स्वामी ने जयधवला तथा धवला में इस सिद्धान्त का वर्णन बहुत ही तर्कसम्बद्ध आगमोक्त रूप में किया है-

15. असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनो व्यापार की अपेक्षा रहित होता है।

शंका-केवलज्ञान आत्मा के सहायता से होता है, इसलिए उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं?

समाधान-नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता है, इसलिए केवलज्ञान को अर्थात् असहाय कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका-केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं?

समाधान-नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और उत्पन्न न हुए अनागत पदार्थों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थ की सहायता से होता है यह नहीं कहा जा सकता है।

शंका-यदि विनष्ट और अनुत्पन्न रूप से असत् पदार्थ में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खर विषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होओ?

समाधान-नहीं, क्योंकि खर विषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है उसी प्रकार उस का भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता है। अर्थात् जैसे वर्तमान पदार्थ में उसकी अतीत पर्यायें, जो कि पहले हो चुकी हैं, भूत शक्ति रूप से विद्यमान हैं और अनागत पर्यायें, जो कि आगे होनेवाली हैं, भविष्यत् शक्ति रूप से विद्यमान हैं उस तरह खर विषाण-गधे का सींग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूत शक्ति रूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान होती अथवा वह आगे होने वाला होता तो भविष्यत् शक्ति से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान रहती। किन्तु खर-विषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा अतः उस में केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

शंका-जबकि अर्थ में भूत पर्यायें और भविष्यत् पर्यायें भी शक्ति रूप से विद्यमान रहती हैं तो केवल वर्तमान पर्यायों को ही अर्थ क्यों कहा जाता है?

समाधान-नहीं, क्योंकि अनागात और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागात पर्यायों भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें 'अर्थ' यह संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है इसलिये भी वह केवल

अर्थात् असहाय हैं। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना चाहिये। (जय धवला)

केवलणाणं णाम, सव्व दव्वाणि अदीदाणागय-वट्टमाणाणि सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।। (धवला)

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों सहित सम्पूर्ण द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।। (1) (श्रावकाचार)

जिनकी आत्मा ने कर्म रूप कलङ्क को नष्ट कर दिया है अर्थात् जो वीतराग है, अथवा जिनकी आत्मा ने हितोपदेश देकर अन्य आत्माओं-जीवों को कर्म कलङ्क से रहित किया है अर्थात् जो हितोपदेशी हैं और जिनका केवलज्ञान अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में दर्पण के समान आचरण करता है अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं उन अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी को अथवा अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त होने वाले चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ।

असद्भूत पर्यायों को भी ज्ञान जानता

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेत्ति।। (39)

If that omniscience would not directly visualise the future and past modifications, who than would call that knowledge supernatural?

भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्याय की तरह भूत और भावी पर्याय को केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञान के विधान से रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे। जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्य व उसकी पर्यायों को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनंदमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयीपने से ज्ञान क्रिया करते हैं तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य और उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते हैं तथापि निश्चय से विकार रहित

स्वसंवेदन पर्याय में अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्र का तात्पर्य है।

समीक्षा—इस गाथा के पहले-पहले आचार्य कुंदकुंद देव ने केवलज्ञान की अलौकिकता, विशिष्टता, दिव्यता, अनंतशक्ति सम्पन्नता, त्रिकालज्ञता, प्रत्यक्षता का वर्णन आगमोक्त सतर्क रूप से करने के बाद यहाँ प्रश्नात्मक रूप से उसको ही दृढीकरण किया है। उनका प्रश्नात्मक रूप में उत्तर देना यह है कि यदि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान के समान केवलज्ञान भी कुछ निश्चित पर्यायों द्रव्यों को जानेगा और भावी एवं भूत पर्यायों को समग्रता से नहीं जानेगा तो केवलज्ञानी, दिव्यज्ञानी कैसे होगा? अर्थात् ऐसा ज्ञान दिव्यज्ञान या केवलज्ञान नहीं हो सकता है इसलिये केवलज्ञान निश्चय से समस्त ज्ञेय एवं उनकी समस्त पर्यायों को जानता है।

इन्द्रियज्ञान असद्भूत पर्यायों को नहीं जानता

अथं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।

तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पणत्तं।। (40)

If it is declared that is impossible to know the past and future for those who (are accustomed to) know the object by means of discrimination and other stages (or perception), when it has fallen within the range of the senses.

आगे यह विचार करते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा जो होता है वह भूत और भावी पर्यायों को तथा सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थों को नहीं जानता है।

(जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिदं) इन्द्रिय गोचर (इन्द्रिय सम्बद्ध अट्टं) पदार्थों को (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते हैं (तेसिं) उनका (परोक्खभूदं) परोक्ष भूतज्ञान (णादुं) जानने के लिए अर्थात् सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानने के लिए (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पणत्तं) कहा गया है कि नैयायिकों के मत में चक्षु आदि इन्द्रिय घट पट आदि पदार्थों के पास जाकर फिर पदार्थ को जानती हैं। अथवा संक्षेप में इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है। ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थों में काल से दूर-राम-रावणादि में, स्वभाव से दूर भूत प्रेत आदि में तथा अति सूक्ष्म पर के मन विचार में व पुद्गल

परमाणु आदिकों में प्रवर्तन नहीं कर सकता। क्योंकि इन्द्रियों का विषय स्थूल है तथा मूर्तिक पदार्थ है। इस कारण से इन्द्रियज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिये ही अतीन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति का कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियों के सुख के कारण इन्द्रियज्ञान में तथा नाना मनोरथ के विकल्पजालस्वरूप मनसम्बन्धी ज्ञान में जो प्रीति करते हैं वे सर्वज्ञ पद को नहीं पाते हैं, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है।

समीक्षा-39 गाथा पर्यंत विशेषतः प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा केवलज्ञान का वर्णन किया और यह बताया गया कि केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है कि जिस ज्ञान में कोई भी ज्ञेय किसी भी अवस्था में किसी भी काल में अज्ञेय रूप में नहीं रह सकता अर्थात् छिपकर समग्रता से स्वयं को समर्पित नहीं करता है। विश्व में ज्ञेय रहते हुए भी और ज्ञेय में, ज्ञान में प्रतिबिम्बित शक्ति/प्रमेयत्व गुण होते हुए भी वे ज्ञेय ज्ञान में क्यों प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं? ऐसा प्रश्न होना स्वभाविक है। इसका उत्तर कुंदकुंद के वचन में निम्न प्रकार है-

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।

संसार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं।। (168)

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र को जानने-देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

जैसे उदित सूर्य भी घन बादल के कारण छिप जाता है तथा उसकी रश्मि पृथ्वी में नहीं पहुँचती है जिससे पृथ्वी पर अंधकार छा जाता है और जितने-जितने अंश में बादल हटता जायेगा, छटता जायेगा उतने-उतने अंश में सूर्यरश्मि प्रकट होती जायेगी और अंधकार घटता जायेगा, छटता जायेगा। मिथ्यात्व सहित कुमति ज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि ज्ञान रहेंगे। और सम्यक्त्व होते ही वह ज्ञान सुज्ञान में परिणमन हो जायेगा। ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान सामान्य होते हुए भी दर्शनमोहनीय और ज्ञानावरणीय के कारण उसके विभिन्न भेद-प्रभेद हो जाते हैं। ज्ञान सामान्य को आवृत्त करने वाला ज्ञानावरणीय एक होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के 5 भेद हो जाते हैं जिसके कारण ज्ञान भी पर्याय दृष्टि से 5 प्रकार के हैं और जिस-जिस

आवरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है उतना-उतना ज्ञान बढ़ता जाता है और पूर्ण क्षय से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस आवृत्त/आवरण के कारण ही क्षायोपशमिक ज्ञान (परोक्ष) इन्द्रिय ज्ञान सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानता है। कौन सा ज्ञान कौन से ज्ञेय को जानता है इसका निर्णय स्व-स्व क्षयोपशम या क्षय करता है। कहा भी है यथा-

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यास्थापयति। (9)

(प्रमेय रत्न.)

अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों को जानने की व्यवस्था करता है।

इन्द्रियज्ञान क्रमपूर्वक किस प्रकार जानता है इसका वर्णन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में निम्न प्रकार किया गया है-

अहिमुहणियमियबोहणभिणिबोहिययमणिंदिइंदियजं।

अवगहईहावाया धारणागा होंति पत्तेयं।। (306)

स्थूल, वर्तमान और योग्यदेश में स्थित अर्थ को अभिमुख कहते हैं। इस इन्द्रिय का यही विषय है इस अवधारणा को नियमित कहते हैं। अभिमुख और नियमित को अभिमुख नियमित कहते हैं। उस अर्थ के बोधन अर्थात् ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। अभिनिबोध ही अभिनिबोधिक हैं इस प्रकार स्वार्थ में ठण् प्रत्यय करने से इसकी सिद्धि होती है। स्पर्शन आदि इन्द्रियों की अपने स्थूल स्पर्श आदि विषयों में ही ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। अर्थात् सूक्ष्म परमाणु आदि, अन्तरित शंख-चक्रवर्ती आदि तथा दूरार्थ मेरू आदि को जानने की शक्ति उनमें नहीं है। इससे मतिज्ञान का स्वरूप कहा। वह मतिज्ञान अनिन्द्रिय मन और इन्द्रियां-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र से उत्पन्न होता है। इससे इन्द्रिय और मन को मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण दिखलाया है। इस प्रकार कारण के भेद से कार्य में भेद होने से मतिज्ञान छह प्रकार का कहा। पुनः प्रत्येक मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। यथा-मानस अवग्रह, मानस ईहा, मानस आवाय और मानसी धारणा। स्पर्शनजन्य अवग्रह, स्पर्शनजन्य ईहा, स्पर्शनजन्य अवाय और स्पर्शनजन्य धारणा। रसनाजन्य अवग्रह, रसनाजन्य ईहा, रसनाजन्य अवाय और

रसनाजन्य धारणा। घ्राणज अवग्रह, घ्राणज ईहा, घ्राणज अवाय और घ्राणज धारणा। चाक्षुष, अवग्रह, चाक्षुषी ईहा, चाक्षुष अवाय और चाक्षुषीधारणा। श्रोत्रजन्य अवग्रह, श्रोत्रजन्य ईहा, श्रोत्रजन्य आवाय और श्रोत्रजन्य धारणा। इस प्रकार मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं। अवग्रह आदि का लक्षण आगे ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे।

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।

अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा।। (308)

विषय अर्थात् अर्थ और विषयी अर्थात् इन्द्रियों का संयोग अर्थात् योग्य देश में स्थित होने रूप सम्बन्ध के होते ही नियम से दर्शन उत्पन्न होता है। वस्तु के सत्ता मात्र सामान्य रूप के निर्विकल्प ग्रहण को दर्शन कहते हैं। दर्शन के पश्चात् की दृष्ट अर्थ के वर्ण-आकार आदि विशेष रूप को ग्रहण करना अवग्रह नामक आद्य ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रीमद् भट्टाकलंक देव ने लघीयस्त्रय में कहा हैं-इन्द्रिय और अर्थ का योग होते ही सत्ता मात्र का दर्शन होता है। उसके अनन्तर अर्थ के आकारादि को लिये हुए जो सविकल्प ज्ञान होता है तब अवग्रह है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी कहा है कि छद्मस्थों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। यद्यपि इस गाथा सूत्र में यह नहीं कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने के अनन्तर दर्शन उत्पन्न होता है। फिर भी पूर्वाचार्यों के वचन के अनुसार व्याख्यान करना चाहिये। 'गृहीते' अर्थात् अवग्रह के द्वारा यह श्वेत है ऐसा जानने पर बलाकारूप या पताका रूप यथावस्थित अर्थ को जानने की आकांक्षा यह बलाका-बगुलों की पंक्ति होना चाहिये इस प्रकार बगुलों की पंक्ति में ही जो भवितव्यतारूप ज्ञान होता है वह ईहा है। अथवा पताका रूप विषय का आवलम्बन लेकर अर्थात् यदि अवग्रह से जानी हुई श्वेत वस्तु पताका प्रतीत हो तो यह पताका होनी चाहिये, इस प्रकार जो पताका में ही भविष्यता प्रत्यय रूप आकांक्षा होती है, वह दूसरा ईहा ज्ञान है। इस प्रकार अन्य अन्य इन्द्रियों के विषय में और मन के विषय में अवग्रह से गृहीत वस्तु में यथावस्थित विशेष की आकांक्षा रूप ज्ञान ईहा है यह निश्चय करना चाहिये। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की हीनाधिकता के भेद से अवग्रह और ईहाज्ञान में भेद होता है। इस सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में यह बलाका है या पताका इस संशय को तथा बलाका में यह पताका होनी चाहिए, इस विपरीत मिथ्याज्ञान को स्थान नहीं है।

ईणिकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।

कालंतरेवि णिण्णदवतथुसुमरणस्स कारणं तुरियं।। (309)

विशेष की आकांक्षा रूप ईहा ज्ञान के पश्चात् जब ईहित विशेष अर्थ का सुनिर्णय हो जाता है। जैसे ऊपर-नीचे होने तथा पंखों के हिलाने आदि चिह्नों से यह बलाका ही है इस प्रकार निश्चय के होने को अवाय कहते हैं। 'तु' शब्द पहले आकांक्षा किये गये विशेष वस्तु के निर्णय को ही 'अवाय' कहते हैं यह अवधारणा के लिए है। इससे यह ग्रहण करना चाहिये कि वस्तु तो कुछ है और और निर्णय अन्य वस्तु का किया तो वह अवाय नहीं है। वही अवाय बार-बार प्रवृत्ति रूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कार रूप होकर कालान्तर में भी निर्णीत वस्तु के स्मरण में कारण होता है तो धारण नामक चतुर्थ ज्ञान होता है।

जिस प्रकार मतिज्ञान क्रमपूर्वक निश्चित विषय एवं निश्चित पर्यायों को जानता है उस प्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कुछ निश्चित पर्यायों को ही जानते हैं। इसलिए ये चारों ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से परोक्ष ज्ञान ही हैं। परन्तु आगम में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को परोक्ष बताया गया एवं अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान को देश प्रत्यक्ष बताया गया है। जैन न्याय ग्रन्थ में चक्षु आदि से देखने को प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः यह लोक व्यवहार चलाने के लिए बताया गया है। क्योंकि उपरोक्त चारों ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण प्रगट होते हैं और किसी न किसी रूप में बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा को लिये हुए जानते हैं। परन्तु इस गाथा में कुन्दकुन्ददेव ने मुख्यतः इन्द्रिय परोक्ष ज्ञान को स्वीकार किया है। उपरोक्त विषय को जानकर मुमुक्षु को उस केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिये बद्ध परिकर होना चाहिए और अन्य ज्ञान को प्राप्त उस ज्ञान को सब कुछ मानकर अहंकारी या पुरुषार्थहीन बनकर नहीं रहना चाहिए यह उसका आध्यात्मिक पक्ष है।

अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।

पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।(41)

That is called supersensuous knowledge witch knows any

substance, with or without space-points, with or without form and those modifications which have not come into existence and those which are destroyed.

इस ही से सर्वज्ञ होता है। इस कारण से पूर्व गाथा में कहे हुए इन्द्रिय ज्ञान तथा मानस ज्ञान को छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमयी स्वसंवेदन ज्ञान में सब विभाव परिणामों को त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमयी सर्वज्ञपद को प्राप्त करते हैं, यह अभिप्राय है।

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होती हैं। ऐसे बौद्धों के मत को निराकरण करते हुए तीन गाथाएँ कहीं, उसके पीछे इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होता है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से होता है ऐसा कहकर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाले शिष्य को समझाने के लिए गाथा दो कही। ऐसे समुदाय के पाँचवें स्थल में पाँच गाथाएँ पूर्ण हुई।

इन्द्रियज्ञान, उपदेश-अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि को विरूप कारणपने से (बहिरंगपने) और उपलब्धि (क्षयोपशम) संस्कार आदि को अन्तरंग स्वरूप कारणपने से ग्रहण करके प्रवर्तता है। (इस प्रकार) प्रवर्तता हुआ (वह ज्ञान) (1) सप्रदेशी को ही जानता है क्योंकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेशी को नहीं जानता, क्योंकि वह सूक्ष्म को जानने वाला नहीं है। (2) मूर्तिक को ही जानता है क्योंकि वैसे उसका (मूर्तिक) विषय के साथ सम्बन्ध का सद्भाव है। अमूर्तिक को नहीं जानता, क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है। (3) वर्तमान को ही जानता है, क्योंकि वहाँ ही विषय-विषयी के सन्निपात का सद्भाव है। भूत में प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य में प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता, (क्योंकि भूत भविष्य के साथ विषय-विषयी के सन्निकर्ष का अभाव है)।

जो अनावरण अतीन्द्रियज्ञान है उसके, जैसे प्रज्वलित अग्नि के अनेक प्रकारता को धारण करने वाला दाह्य (ईन्धन) दाह्यता का उल्लंघन न करने के कारण दाह्य ही है, वैसे (ही) अप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय समूह, अपनी ज्ञेयता का उल्लंघन न करने से ज्ञेय ही हैं।

समीक्षा-कुन्दकुन्ददेव ने 40 नम्बर गाथा में परोक्षज्ञान स्वरूप जो इन्द्रिय

ज्ञान का वर्णन किया है उससे विपरीत 41 नम्बर गाथा में प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान का वर्णन किया है। इन्द्रिय ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानता है तो उससे विपरीत वह केवलज्ञान का धारी होते हुए भी केवलज्ञान को बिना प्राप्त किये दीनहीन होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। ऐसे जीवों के लिए बार-बार प्रबोधन दे रहे हैं कि हे जीव! तुम स्वयं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अखण्ड अक्षय, अनंत ज्ञानानंद जगत् के स्वामी होकर भी दीन हीन होकर सुख एवं ज्ञान के लिए क्यों संसार में यत्र-तत्र भ्रमण कर रहे हो। स्वयं को देखो, स्वयं को पहिचानो जिससे तुम स्वयं के वैभव को प्राप्त कर सकते हो। कहा भी है-

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्व विद्यामयं व्रजेत्॥(53) स.तं.

आत्म श्रद्धालु को (तत्) वह आध्यात्मिक, चर्चा (ब्रूयात्) करनी चाहिए (तत्) वह आत्मा-सम्बन्धी ही बातें (परान्) अन्य ज्ञानियों से (पृच्छेत्) पूछनी चाहिये (इच्छेत्) उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिए (तत्परःभवेत्) उसी आध्यात्मिक विषय में सदा तत्पर-तैयार या उत्सुक रहना चाहिए, (येन) जिसमें (अविद्यामयं रूपं) अपना आत्मा का अज्ञान भाव (त्यक्त्वा) छोड़कर (विद्यामयं) ज्ञानभाव (व्रजेत्) प्राप्त हो।

क्षायिक ज्ञान ही केवलज्ञान

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।

अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइगं भणियं॥ (47)

That knowledge is called Ksayika (i.e. produced after the destruction of Karmas) which knows completely and simultaneously the whole range of veriegated and unequal objectivity of the present and otherwise.

(1) वर्तमान काल में वर्तते, (2) भूत-भविष्यत् काल में वर्तते, (3) जिनमें पृथक् रूप से वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रकट हुआ है, (4) और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान-जातीयता के कारण वैषम्य प्रकट हुआ है, ऐसे (चार विशेषण वाले)

समस्त पदार्थ समूह को, एक समय में ही (युगपत्), सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से) क्षायिक ज्ञान वास्तव में जानता है। इसी बात को युक्तिपूर्वक स्पष्ट समझाते हैं:- (1) उस (केवल ज्ञान) के वास्तव में क्रम-प्रवृत्ति के हेतुभूत क्षयोपशम अवस्था में रहने वाले ज्ञानावरणीय कर्म-पुद्गलों का अत्यन्त अभाव होने से (वह क्षायिक ज्ञान) तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ समूह को समकाल में (युगपत्) ही प्रकाशित करता है। (2) सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) विशुद्ध (उस क्षायिक ज्ञान) के प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) ही प्रकाशित करता है (4) सर्व प्रकार ज्ञानावरणीय के क्षय से, असर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के नाश होने से (वह क्षायिक ज्ञान) विचित्र को (अनेक प्रकार के पदार्थों को) भी प्रकाशित करता है। (5) असमान जातीय ज्ञानावरण के क्षय से समान जातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) विषय को भी (असमान जाति के पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है।

सार- अथवा, अतिविस्तार से बस हो जिसका अनिवारित (रूकावट रहित फैलाव है) ऐसे प्रकाश स्वभावी होने से, क्षायिक ज्ञान अवश्य ही सर्वदा (सर्व कालीन त्रिकालीन), सर्वत्र (सब क्षेत्र के लोक अलोक के) सब पदार्थ को सर्वथा (सम्पूर्ण रूप से) जाने अर्थात् जानता है।

समीक्षा- इस गाथा में कुंदकुंददेव ने यह सिद्ध किया है कि जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है वही केवलज्ञान है और जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है वह केवलज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि क्षयोपशम में अभी भी कुछ ज्ञान को रोकने वाले कर्म की सत्ता विद्यमान है परन्तु क्षायिक ज्ञान को रोकने वाले कर्म का सर्वथा अभाव है। वीरसेन स्वामी ने धवला में कहा भी है-

संपुण्णं तु समगं केवलमवसत्त-सव्व-भाव विदं।

लोगालोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं।। (186)

जो जीवद्रव्य के शक्तिगत सर्वज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों के व्यक्त हो जाने के कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा नाश हो जाने के कारण जो अप्रतिहत शक्ति है, इसलिए समग्र है, जो इन्द्रिय और मन की सहायता से

रहित होने के कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थों में प्रवृत्ति करता है इसलिए असपत्न है और जो लोक और अलोक में अज्ञान रूपी अंधकार से रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिए।

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थं। (9) रा.वा.

निरवशेष का ज्ञान कराने के लिये सर्वशब्द को ग्रहण किया है। लोक-अलोक में त्रिकालविषयक जितने भी अनंतानंत द्रव्य और पर्यायें हैं उन सब में केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है अर्थात् उन सबको केवलज्ञान जानता है। जितने भी अनंतानंत लोक-अलोक द्रव्य है इससे भी अनंतगुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, ऐसा जानना चाहिए।

जो सब को नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।

णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।। (48)

He, who does not know simultaneously the objects of the three tenses and in the three worlds, cannot know even a single substance with its (infinite) Modifications.

भाव यह है कि आकाश द्रव्य एक है, धर्म द्रव्य एक है, तथा अधर्म द्रव्य एक है और लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य हैं, क्योंकि एक-एक जीवद्रव्य में अनन्त कर्म वर्गणाओं का सम्बन्ध है तैसे ही अनन्त नोकर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध है। तैसे ही इन सब द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं क्योंकि काल के समय पुद्गल द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे हैं। यह सब ज्ञेय-जानने योग्य हैं और इनमें एक कोई भी विशेष जीवद्रव्य ज्ञाता जानने वाला है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यहाँ जैसे अग्नि सब जलाने योग्य ईंधन को जलाती हुई सब जलाने योग्य कारण के होते हुए सब ईंधन पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अग्निस्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णता में परिणत तृण व पत्तों आदि के आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है।

तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयों को जानता हुआ सर्व ज्ञेयों रूप कारण के होते हुए सर्व ज्ञेयाकार की पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अखंडज्ञान रूप अपने ही आत्मा को परिणमता है अर्थात् सबको जानता है और जैसे वही अग्नि पूर्व में कहे हुए ईंधन को नहीं जलाती हुई उस ईंधन के आकार रूप नहीं परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्व में कहे हुए सर्वज्ञेयों को न जानता हुआ पूर्व में कहे हुए लक्षण रूप सर्व को जानकर एक अखंड ज्ञानाकार रूप अपने ही आत्मा को नहीं परिणमता है अर्थात् सर्व का ज्ञाता नहीं होता। दूसरा भी एक उदाहरण देते हैं। जैसे कोई अन्ध पुरुष सूर्य से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं देखता, दीपक से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ दीपक को भी नहीं देखता, दर्पण में झलकती हुई परछाई को न देखते हुए दर्पण को भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टि से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ, पैर आदि अंग रूप अपने ही देह के आकार को अर्थात् अपने को अपनी दृष्टि से नहीं देखता है। तैसे इस प्रकरण में प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं जानता हुआ सकल अखंड एक केवल ज्ञान रूप अपने आत्मा को नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सबको नहीं जानता है वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता है।

समीक्षा-सामान्यतः वस्तु स्वरूप को जानने की प्रणाली एवं प्रतिपादन की प्रणाली विधिपरक (अस्तिकपरक) एवं निषेधपरक (नास्तिकारक) होती है। क्योंकि द्रव्य स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से अस्तिरूप एवं परचतुष्टय (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से नास्तिरूप है। जिस प्रकार विज्ञान की प्रयोगशाला में कुछ मिले हुए तत्त्व को पृथक्-पृथक् करने के लिए मिले हुए संपूर्ण तत्त्वों का परिज्ञान चाहिए। उसके बिना तत्त्व विश्लेषण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप को एवं परस्वरूप को जानने के लिए एवं पृथक्करण करने के लिये भी स्वज्ञान के साथ-साथ पर का भी ज्ञान आवश्यक है। इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

जीवोऽन्यःपुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।

यदन्यदुच्यते किञ्चित् सोऽस्तु तत्स्यैव विस्तरः॥(50)

जीव शरीरादिक पुद्गल से भिन्न हैं और पुद्गल जीव से भिन्न हैं यही तत्त्व

का संग्रह है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इस ही का विस्तार है। इस गाथा में आचार्यश्री ने यह सिद्ध किया है कि जो ज्ञान संपूर्ण त्रिकालवर्ती ज्ञेय को नहीं जानता है वह एक द्रव्य या स्वद्रव्य को भी नहीं जान सकता है।

क्योंकि एक द्रव्य में भी अनन्त गुण एवं पर्यायें होती हैं उन अनन्त गुण एवम् पर्यायों को जानने के लिये अनन्त ज्ञान चाहिए। क्योंकि 'णाणं णेय पमाण मुद्दिट्ठं' अर्थात् ज्ञान ज्ञेय के बराबर होता है। यदि ज्ञेय अनन्त हैं तो उसको जानने वाला ज्ञान भी होना चाहिए अन्यथा छोटा ज्ञान बड़े ज्ञेय को नहीं जान सकता है। इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि जो केवलज्ञान अनन्तगुण पर्यायात्मक त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयों को जानता है वही ज्ञान अनन्त गुण पर्यायात्मक एक द्रव्य को या स्वआत्म द्रव्य को जान सकता है यह ज्ञान एवं ज्ञेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार दस लीटर पानी को एक ही बार में मापने के लिए कम से कम 10 लीटर वाला मापक चाहिये और यदि मापक उससे छोटा है तो जल एक बार में मापा नहीं जा सकता। इसलिए सर्वज्ञ सर्व ज्ञेयों को जानते हैं और एक ज्ञेय को भी जानते हैं।

आत्मविशुद्धि हेतु आत्मसुधार के लिए आत्मसबोधन

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1. यमुना किनारे...)

शुद्धभाव हेतु करूँ शुभभाव मैं, सांसारिक हानि-लाभ सीमा परे मैं।

आत्मा द्वारा आत्मा से आत्मा पाऊँ मैं, अनन्त-शक्ति-युक्त परमात्मा बनूँ मैं॥ (1)

श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या से यह करूँ मैं, मन वचनकायकृतकारित अनुमत से।

पर अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा परे मैं, संकल्प-विकल्प-संक्लेश परे मैं॥ (2)

स्वतंत्र-स्वावलम्बन से करूँ मैं, ख्यातिपूजालाभप्रसिद्धि परे मैं।

अन्धानुकरण-परप्रतिस्पर्धा परे, आत्मविशुद्धि हेतु पर प्रपंच परे॥ (3)

यह सब करूँ राग-द्वेष-मोह परे, ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-वैर-विरोध परे।

परनिन्दा-अपमान-हानि से परे, मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ पूरे॥ (4)

भले अधिसंख्य लोक होते अशुभयुक्त, मोह-माया-अहं-दीन-हीन सहित।

ख्यातिपूजालाभप्रसिद्धिवर्चस्वयुक्त, संकीर्णस्वार्थ भाव-व्यवहार सहित॥ (5)

तथापि उनसे न होऊँ मैं प्रभावित, कमलसम निर्लप्त रहूँ मैं।

उनकी भी मंगल कामना करूँ सतत, गुण-दोष समीक्षा से शिक्षा लहूँ सतत।। (6)

स्व-पर उपकारी भी बनूँ मैं सतत, तम नाश करूँ न बनूँ तम सम।

“सिस्साणुगुहकुसल” बनूँ हो पवित्र, शुद्धबुद्धआनन्द बनना ‘कनक’ का लक्ष्य।। (7)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-22/2/2021, प्रातः 7.26

अन्तरात्मा का स्वरूप

जो परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ।

सो पंडिउ अप्पा मुणहिं सो संसार मुएइ।।(8) योग.सा.

जो परिज्ञान करे आत्मा व पर, करता है पर भाव सभी त्याग।

वह है पण्डित आत्मा को माने, वह ही संसार से होता मुक्ति।।

आत्मज्ञान से होता पर का भी ज्ञान, जिसे कहते हैं भेदविज्ञान।

यह ही यथार्थ से होता सम्यग्ज्ञान, वह ही यथार्थ से पण्डित महान्।।

आत्मश्रद्धान सहित भेद विज्ञान से, होता है वैराग्य सहित आचरण।

श्रावक से ले साधु आचरण, समता शान्ति सह ध्यान अध्ययन।।

इससे होती आत्मिक शुद्धि वृद्धि, जिससे आध्यात्मिक शक्ति वृद्धि होती।

जिससे उत्तरोत्तर होती गुणस्थानवृद्धि, जिससे सर्वकर्म क्षय से मिलती सिद्धि।।

परमात्मा का स्वरूप

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विष्णुहं बुद्धु सिव संतु।

सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णिभंतु।। (9)

निर्मल निकल शुद्ध जिन, विष्णु बुद्ध शिव शान्त।

वह है परमात्मा जिनेन्द्र ने कहा, यह जानो ही निशंक।।

परमात्मा में होते अनन्त गुण, अष्टगुण होते उनमें प्रधान।

कुछ गुणों का कथन गाथा में हुआ, कर्ममल रहित से निर्मल कहा।

शरीर रहित से वे निकल होते, विभाव रहित से शुद्ध वे होते।

कर्म शत्रुजय से जिन वे होते, कल्याणकारी से शिव वे होते।।

सर्वज्ञ होने से बुद्ध वे होते, सर्वगत ज्ञान से विष्णु वे होते।

सर्व संक्लेश नाश से शान्त वे होते, श्रेष्ठ-ज्येष्ठ आत्मा से परमात्मा होते।।

परमात्मा स्वरूप

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुव्ययः।

परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः।।(6) स.तं.

निर्मल व केवल शुद्ध है, विविक्त प्रभु व अव्यय है।

परमेष्ठी परात्मा परमात्मा, परमेश्वर व जिन है।।(1)

स्व आत्मा का दर्शन मनन ध्यान चिन्तन करणीय।

सिद्ध के समान ज्ञान ज्योतिमय पुरुषाकार प्रमाण।।

आत्मज्ञानी सब शास्त्रों का ज्ञाता

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ, असुइ-सरीर-विभिण्णु।

सो जाणइ सत्थहँ सयल, सासय-सुक्खहँ लीणु।। (95) योग.

अशुचि शरीर से भिन्न स्वयं को जो मानता शुद्धात्मा।

वह जानता है सकल शास्त्र शाश्वत सुख में लीन।।

स्व शुद्धात्मा को जानने हेतु रचित है पूर्ण आगम।

अतः जो स्वशुद्धात्मा को जान लिया वह जानता पूर्ण आगम।।

ऐसा जीव ही शाश्वत सुख पाकर उसमें हो जाता लीन।

शास्त्र अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य है स्वयं का अध्ययन।।

ऐसा जो करता है वह ही करता स्वाध्याय रूपी परम तप।

अन्यथा शास्त्र अध्ययन व्यर्थ जिससे होता आत्मपतन।।

आत्मध्यान भाषा से सहज शुद्ध परम चैतन्य से शोभायमान तथा निर्भर आनंद के समूह को धारण करने वाला जो भगवान् निज आत्मा है उसमें उपादेय बुद्धि करके अर्थात् निज शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी बुद्धि को करके फिर जो “मैं अनंत ज्ञान का धारक हूँ” मैं अनंत सुख का धारक हूँ, इत्यादि भावना को करता है इस रूप अन्तरंग धर्मध्यान कहा जाता है और पंचपरमेष्ठी की

भक्ति को आदि ले उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठान का करना है, वह बहिरंग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज शुद्ध आत्मा में विकल्प रहित ध्यान रूप लक्षण का धारक शुक्लध्यान है।

पंचमकाल में क्या भावश्रुत केवली हो सकते हैं?

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुब्बं।

तं सुदकेवलिंमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।। (स.सा.)

जो द्वादशांग के द्वारा अपनी शुद्धात्मा को अपने में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान् निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो संपूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्यश्रुत केवली कहते हैं।

जो जीवकर्ता (करणता) को प्राप्त हुए निर्विकल्प समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है, उस प्रत्यक्षीभूत अपने आपकी आत्मा को सहाय रहित अर्थात् निरालम्ब रागादि रहित अनुभव में लाता है उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं। कौन कहते हैं? लोकालोक के प्रकाशक परमऋषि कहते हैं। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया है।

किन्तु जो पुरुष द्वादशांग द्रव्य श्रुतज्ञान को परिपूर्ण रूप जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्य श्रुतकेवली कहते हैं। क्योंकि द्रव्यश्रुत के आधार पर उत्पन्न हुआ जो भावश्रुत है वह आत्मा ही है जो कि आत्मा की संवित्ति को विषय करने वाला और पर की परिच्छित्ति को विषय करने वाला होता है। इसलिये वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है इसका अभिप्राय यह हुआ कि भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्धात्मा को जानता है। वह निश्चयय श्रुतकेवली होता है। किन्तु जो अपनी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है केवल बहिर्विषयक द्रव्य श्रुत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली होता है।

शंका-फिर तो स्वसंवेदन के बल से इस काल में श्रुतकेवली हो सकते हैं ऐसा समझना चाहिये क्या?

समाधान-इसका समाधान यह है कि इस काल में श्रुतकेवली नहीं हो सकते, है क्योंकि जैसा शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदन ज्ञान पूर्व पुरुषों को होता

था वैसा इस समय नहीं होता है। किन्तु इस काल में यथायोग्य धर्मध्यान ही हो सकता है।

जोड़य अप्पो जाणिएम जगु जाणियउ हवड़े।

अप्पह करेइ भावडइ बिंबउ जेण वसेइ।। (प.प्र.)

हे योगी ! एक अपनी आत्मा को जानने से यह तीन लोक जाना जाता है क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिंबित हुआ है, बस रहा है।

भावार्थ: वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा तत्त्व को जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है। क्योंकि जैस रामचन्द्र, पाँडव, भरत सगर आदि महापुरुष भी जिनदीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर द्वादशांग पढ़ने का फल निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो शुद्ध परमात्मा उसके ध्यान में लीन हुए बैठे हैं। इसलिये वीतराग स्वसंवेदन जानकर अपनी आत्मा को जानना का सार है। आत्मा के जानने से सबका जानपना सफल होता है। इस कारण जिन्होंने अपनी आत्मा जानी उन्होंने सबको जाना। अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुखरस उसके आस्वाद होने पर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरूप अलग है। और देह रागादिक मुझसे दूसरे है मेरे नहीं हैं। इसलिये आत्मा के जानने से सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपने को जान लिया उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जाने। अथवा आत्माश्रुतज्ञान रूप सब लोकालोक को जानता है। इसलिये आत्म के जानने से सब जाना गया। अथवा वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न करके दर्पण में घटपटादि पदार्थ झलकते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में सब लोकालोक भासते हैं। इससे यह बात निश्चय हुई कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है।

यहाँ पर सारांश यह है कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर बाह्य अभ्यन्तर सर्वपरिग्रह सर्वतरह से अपनी शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये।

अथ केवलज्ञान श्रुतज्ञानिनोरविशेष दर्शनेन विशेषाकांक्षा क्षोभं क्षपयति:।

अब केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञान के अविशेष दिखलाते हुए विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते हैं।

जो हि सुदेण विजाणादि अप्पाणं जाणगं सहावेण।

तं सुयकेवलिमिसिणो भणन्ति लोयप्पदीवयरा।। (प्रवचनसार)

जो वास्तव में श्रुतज्ञान से (निर्विकल्प रूप भावश्रुत परिणाम से) स्वभाव से ज्ञायक स्वभावी आत्मद्रव्य को जानता है। लोक के प्रकाशक ऋषिगण उसको श्रुतकेवली कहते हैं।

जो कोई पुरुष निश्चय से निर्विकार स्वसंवेदन रूप भावश्रुत रूप परिणाम के द्वारा समस्त विभावों से रहित स्वभाव से ही ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप निज आत्मा को विशेष करके जानता है। अर्थात् विषयों के सुख से विलक्षण अपने निजशुद्धात्मा की भावना के बल से पैदा होने वाले परमानन्दमयी एक लक्षण को रखने वाले सुख रस के अस्वाद को अनुभव करता है। लोक के प्रकाशक ऋषि उस महायोगीन्द्र को श्रुतकेवली कहते हैं।

इसका विस्तार यह है कि एक समय में परिणमन करने वाले चैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि अन्त से रहित अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यों में न पाइये ऐसा असाधारण अपने आपसे अपने में अनुभव आने योग्य परम चैतन्य रूप सामान्य लक्षण को रखने वाले तथा परमद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसी आत्मा का आत्मा में स्वानुभव करने से जैसे भगवान् केवली होते हैं वैसे ही यहाँ गणधर आदि निश्चय रत्नत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व में कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य का उदय होने से दिवस में देखता है और रात्रि में भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है, वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार अवस्था में दीपक के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपनी आत्मा को देखते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाए ऐसा सन्देह करके परमात्मा की भावना को नहीं छोड़ देना चाहिये।

सयलागमपारगया सुदकेवलिणाम सुप्पसिद्धा जे।

एदाण बुद्धि रिद्धि चोहसपुव्वित णामेण।। (ति. प.)

जो महर्षि संपूर्ण आगम के पारंगत है और श्रुत केवली नाम से प्रसिद्ध है उनके चौदह पूर्व नामक ऋद्धि बुद्धि होती है।

णमो चोद्दस पुव्वीगाणां।।13 (ध)

“सयलसुदणाण धारिणे चोद्दसपुव्विगो”

अर्थात् चौदह पूर्व के धारियों को नमस्कार हो। समस्त श्रुतज्ञान के धारक चौदह पूर्वी कहे जाते हैं।

जो चौदह पूर्व के धारक महामुनि होते हैं, वे मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होते हैं और उस भव में असंयत को भी प्राप्त नहीं करते हैं।

श्रुतकेवली भावलिङ्गी चौदह पूर्व धारी महामुनि ही होते हैं। संयम रहित चौदह पूर्वधारी भी श्रुतकेवली नहीं होते हैं। जैसे कोई देव चौदह पूर्व के धारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हुए भी वे श्रुतकेवली नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उनके संयम का अभाव है।

जो महामुनि भावश्रुत के माध्यम से स्वसंवेदन ज्ञानरूप निर्विकल्प परमसमाधि के बल से आत्मा को सम्पूर्ण ओर से जानता है, अनुभव करता है, भले वह सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के ज्ञान का ज्ञाता नहीं होते हुए भी वह भावश्रुत का ज्ञाता होता है। परन्तु सांप्रतिक पंचमकाल में शुक्ल ध्यानरूपी निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है इसलिये वर्तमान में कोई भावश्रुत केवली भी नहीं है। उसी प्रकार द्रव्यश्रुत केवली भी नहीं है। पंचमकाल में अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए हैं। उसके बाद श्रुतकेवली रूप सूर्य का अस्त हो गया। शुभोपयोग रूपी केवली नहीं है। क्योंकि शुभोपयोगी निर्विकल्प परम समाधि में लीन होकर आत्मा का पूर्णरूप अनुभव नहीं कर सकता है।

शुभ क्रियाओं से कर्म निर्जरा:-

आपासयाइ कम्मं, विज्जावच्चं च दाण पूजाइं।

जं कुणइ सम्मादिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरा णिमित्तं।।

देव वन्दनादि सामायिक कर्म मुनियों की सेवादि, दान कर्मादि जो शुभ क्रियायें सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं, उससे कर्म की निर्जरा होती है।

परभाव का त्याग कार्यकारी

जो णवि जाणइ अण्णु परु, णवि परभाउ चएइ।

सो जाणउ सत्थहँ सयल णहु, सिवसुक्खु लहेइ।। (96) योग.

जो न जानता है स्व-पर को न परभाव त्यागे।

वह जानता है सकल शास्त्र तो भी शिवसुख न पावे।।

शास्त्राध्ययन का दुरुपयोग

अधित्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो।

यदीच्छसि फलं तयोरहि हिलाभ पूजादिकम्।।

छिन्नासि सुत्तपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः।

कथं समुपलप्स्यसे सुर समय पक्कं फलम्।। (189) आत्मानु.

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके यदि उन दोनों का फल तू यहाँ सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुंदर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा? नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्ष को लगाता है, जलसिंचन आदि से उसे बढ़ाता है, और आपत्तियों से उसका रक्षण भी करता है, परन्तु समयानुसार जब उसमें फूल आते हैं तब वह उन्हें तोड़ लेता है और इसी में संतोष का अनुभव करता है। इस प्रकार से वह मनुष्य भविष्य में आने वाले उसके फलों से वंचित ही रहता है। कारण यह है कि फलों की उत्पत्ति के कारण तो वे फूल ही थे जिन्हें कि उसने तोड़कर नष्ट कर दिया है। ठीक इसी प्रकार से जो प्राणी आगम का अभ्यास करता है और घोर तपश्चरण भी करता है परन्तु यदि वह उसके फलस्वरूप प्राप्त हुई ऋद्धियों एवं पूजा प्रतिष्ठा आदि में ही संतुष्ट हो जाता है तो उसको तप का जो यथार्थ फल स्वर्ग-मोक्ष का लाभ था वह कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है। अतएव तपरूप वृक्ष के रक्षण एवं संवर्द्धन का परिश्रम उसका व्यर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि तप से ऋद्धि आदि की प्राप्ति रूप लौकिक लाभ होता है तो इससे साधु को न तो उसमें अनुरक्त होना चाहिए और न किसी प्रकार का

अभिमान ही करना चाहिए। इस प्रकार से उसे उसके वास्तविक फल स्वरूप उत्तम मोक्ष सुख की प्राप्ति अवश्य होगी।

प्रसिद्धि रूपी रोग दूर करने के उपाय

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोक पंक्ति बिना

शरीरमपि शोषय प्रथितकाय संक्लेशनैः।

कषाय विषय द्विषा विजय से यथा दुर्जयान्

शमं हि फलमामनन्ति मनुयस्तपः शास्त्रयोः॥ (190)

लोकेष्णा/प्रसिद्धि बिना अर्थात् प्रतिष्ठा आदि की अपेक्षा न करके निष्कपट से यहाँ इस प्रकार से निरन्तर शास्त्र का अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपों के द्वारा शरीर को भी इस प्रकार से सुखा कि जिससे तू दुर्जय कषाय एवं विषय रूप शत्रुओं को जीत सके। कारण कि मुनिजन राग द्वेषादि की शांति को ही तप और शास्त्राभ्यास का फल बतलाते हैं।

अभिप्राय इतना ही है कि प्राप्त हुए विशिष्ट आगम ज्ञान एवं तप के निमित्त से किसी प्रकार के अभिमान आदि को न प्राप्त होकर जो राग द्वेष एवं विषय वांछा आदि परमार्थ सुख की प्राप्ति में बाधक हैं अतः उन्हें ही नष्ट करना चाहिए। यही उस आगम ज्ञान एवं तप का फल है।

धर्म पालन, कर्तव्य निर्वहन, साधुत्व, प्रभावना, शिक्षा, दीक्षा, गुरु उपदेश आदि के माध्यम से आत्म कल्याण के साथ-साथ कीर्ति संपादन करनी चाहिए या यथार्थ से कहे तो कीर्ति/प्रसिद्धि आनुसंगिक रूप से हो जाती है, परन्तु ऐसा कोई भी कार्य व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे आत्मग्लानि, संक्लेश, तनाव, लोक निंदा, धर्म की हँसी, सद्गुरु की अपकीर्ति आदि हो।

कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार में आगम को साधु के चक्षु आगम के अनुसार चलने वाला सर्वश्रेष्ठ साधु, आगम श्रद्धा बिना सम्यक् दर्शन का अभाव आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन करते निम्न प्रकार कहा है।

आगम चक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्व भूदाणि।

देवा य ओहि चक्खूं सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु।। (234)

साधु आगम चक्षु है, सर्वप्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं। देव अवधि चक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं।

सव्वे आगम सिद्धा अत्था गुण पज्जएहिं चित्तेकहं।

जाणंति आगमेण हि पेच्छिता ते वि ते समणा।। (235)

विचित्र गुणपर्यायों सहित समस्त पदार्थ आगम सिद्ध हैं। उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं।

एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।

णिच्छित्त आगमदो आगमचेट्ट तदो जेट्ठा।। (232)

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् से होती है, पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है। इसलिए आगमाभ्यास तथा उसकी प्रवृत्ति मुख्य है।

आगम पुव्वा दिट्ठि ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।

णत्थेदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।। (236)

इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि (दर्शन) नहीं है, उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है, और जो असंयत है वह श्रमण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

आगम हीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।

अवि जाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। (223)

आगमहीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किस प्रकार क्षय करे।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्वहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु

आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो, सिद्धि नहीं होती, पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

तम्हा जिण मग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वे सु।

अभिगच्छदु इच्छादि णिम्मोहं जदि अप्पणो अप्पा।। (90)

इस कारण से जो आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिन मार्ग से द्रव्यों में

से गुणों के द्वारा स्व और पर को जानो। अतएव साधु का आगम निष्ठ आगम प्रमाण होना सर्व प्रथम कर्तव्य है। वीरसेन स्वामी ने तो धवला एवं जय धवला में अनेक स्थल में कहा है कि वह तर्क सुतर्क है, जो तर्क आगम को सिद्ध करता हो, सत्य को प्राप्त करता हो। परन्तु वह तर्क कुतर्क है जो आगम के विपरीत चलता हो, सत्य से दूर हटाता हो। वीरसेन स्वामी ने धवला में नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार में, शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में तथा कई-कई अन्य आचार्यों ने एक विषय को अत्यन्त जोर देकर कहा है कि जो व्यक्ति किसी कारणवशतः आगम के विरुद्ध भी श्रद्धा कर लेता है परन्तु वह नहीं जानता है कि वह विरुद्ध सिद्धान्त है तब तक तो वह अंतरंग श्रद्धा के कारण सम्यक् दृष्टि रहता है परन्तु विशेष आगम से आगम को दिखाकर पूर्वोक्त सिद्धान्त को आगम विरुद्ध सिद्ध करने पर भी हठग्राहिता के कारण, दुराग्राही होने के कारण, अहंकार के कारण या तुच्छ प्रसिद्धि/ख्याति/पूजा, सम्मान लोप हो जाएगा इस भय के कारण नहीं मानता है तब वह तत्क्षण मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

परम समाधि शिवसुख का कारण

वज्जिय सयल-वियप्पइँ परम-समाहि लहंति।

जं विंदहिं साणंदु क वि सिव-सुक्ख भणंति॥ (97) योग.

सकल विकल्पों को त्यागकर जो परम समाधि पाते।

जो अनुभव करते हैं आनन्द उसे ही शिवसुख कहते।।

संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्याग से होती है परमसमाधि।

तब तो आनन्द अनुभव होता वह ही होता है मुक्ति।।

शुद्ध होने से बुद्ध होते बुद्ध से होता आनन्द।

आनन्द हेतु सकल धर्म आनन्द बिन सभी अधर्म।।

शिवत्व प्राप्ति के उपाय

स्वं परं चेति वस्तु त्वं, वस्तुरूपेण भावय।

उपेक्षा भावनोत्कर्ष, पर्यन्ते शिवमाप्नुहि॥ (22) स्व.सं.

स्व-पर तत्त्व के परिज्ञान से, वस्तु स्वरूप की भावना करो।
उपेक्षा भावना उत्कर्ष पर्यन्त करने से, शिवपद स्वयं प्राप्त करो।।

सिद्धत्तणेण ण पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।

केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते।। (36)

यह केवलज्ञान रूप अर्थपर्याय सिद्धपने में उत्पन्न होती है। केवलभाव की अपेक्षा से यह कभी नष्ट नहीं होती। इस भाव को लेकर ही सूत्र में 'केवल' को शाश्वत बताया गया है। एक बार उत्पन्न होने के बाद वह कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार किसी प्रकार का आवरण भी उस पर नहीं आता। वास्तव में यह कथन व्यवहार दृष्टि से है, परमार्थ से तो वह अनादि, अनन्त है। जीव के स्वाभाविक गुण उसमें सदा, सर्वदा विद्यमान ही रहते हैं। इसलिये केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि शाश्वत ही हैं।

शुद्धोपयोग का फल पूर्ण स्वतंत्रता

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।

भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्धिदो।। (6) प्र.सा.

भाव यह है कि निश्चय से कर्ता कर्म आदि छः कारक आत्मा में ही है। अभिन्न कारक की अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमई एक चैतन्य स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्रता रखने से स्वयं ही अपने भाव का कर्ता है तथा नित्य आनन्दमय एक स्वभाव से स्वयं अपने स्वभाव को प्राप्त होता है इसलिये यह आत्मा स्वयं ही कर्म है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव से यह आत्मा आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भाव से ही आपका स्वरूप झलकता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण हैं। विकार रहित परमानन्दमयी एक परिणतिरूप लक्षण को रखने वाला शुद्धात्मभाव रूप क्रिया के द्वारा अपने आप को अपना स्वभाव समर्पण करने के कारण यह आत्मा आप ही संप्रदान स्वरूप है। तैसे ही पूर्व में रहने वाले मति श्रुत आदि ज्ञान के विकल्पो के नाश होने पर भी अखंडित एक चैतन्य के प्रकाश के द्वारा अपने अविनाशी स्वभाव से ही यह आत्मा आपका (स्वयं का) प्रकाश करता है इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है तथा यह निश्चय शुद्ध चैतन्य आदि

गुण स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से आप ही स्वयं अधिकरण होता है। इस तरह अभेदषट्कारक में स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्मास्वभाव तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति में भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं रखता है इसलिए आप ही स्वयंभू कहलाता है।

समीक्षा—जैसे बीज में शक्ति रूप से वृक्ष निहित है उसी प्रकार प्रत्येक जीव में भी शक्ति रूप में परमात्मा निहित है। जब योग्य बीज को जलवायु, सूर्यकिरण आदि बाह्य निमित्त मिलते हैं तब वह सुप्तरूप वृक्ष जागृत होता और शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त करता हुआ विशाल वृक्षरूप में परिणमन कर लेता है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा सुप्त रूप में गुप्त रूप में रहता है और योग्य अंतरंग बहिरंग साधनों से वह आत्मा ही परमात्मा रूप से परिणमति होकर प्रकट हो जाता है।

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।

द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता।। (2) इष्टो।

जिस तरह सुवर्णरूप पाषाण योग्य बाह्य कारण, योग्य उपादानरूप कारण के सम्बन्ध से पाषाण (पत्थर) सुवर्ण हो जाता है, उसी तरह द्रव्यादि चतुष्टयरूप-सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल और स्वभावरूप-सुयोग्य सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान होने पर निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्मा की उपलब्धि हो जाती है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरागमस्तथान्तज्योतिरेव यः।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। (24) गीता।

जिसे आंतरिक आनन्द है, जिसके हृदय में शांति है, जिसे निश्चित रूप से अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण पाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।

छिन्नद्वेधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (25)

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी शंकाएँ शांत हो गई हैं, जिन्होंने मन पर अधिकार कर लिए हैं और जो प्राणी मात्र के हित में ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म निर्वाण पाते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्।। (26)

जो अपने को पहचानते हैं, जिन्होंने काम क्रोध को जीता है और जिन्होंने मन को वश किया है, ऐसे यतियों को सर्वत्र ब्रह्म निर्वाण ही है।

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्बाह्याश्चक्षुवान्तरे ध्रुवोः।

प्राणापानो समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौः।। (27)

यतेन्द्रिय मनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एवं सः।। (28)

बाह्य विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु की गति को एक समान रखकर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्षपरायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है।

निस्पृहता से मुझे हो रही है उपलब्धियाँ

(धन-जन-मान-सम्मान-नाम-आडम्बर परे आत्मोपलब्धि करूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल-1.पायोजी मैंने... 2.सायोनारा...)

भाया है मैंने निस्पृहता की भावना,

इसके कारण लोप हो रही मम सांसारिक कामना।

इससे मुझे मिल रहे हैं अनेक विध लाभ,

ख्याति-पूजा, लाभ-प्रसिद्धि-वर्चस्व का अभाव।। (1)

इससे मुझे हो रही है अनेक विध उपलब्धियाँ,

संकल्प-विकल्प-संक्लेश-द्वन्द्वों का हो रहा है विलय।

धन-जन-मान-सम्मान आदि की नहीं रही कामना,

इसके हेतु माइक मंच-पाण्डाल-होर्डिंग की योजना।। (2)

आडम्बरपूर्ण स्वार्थ से युक्त पंथ-मत-विषमतायुक्त,

पूजा-विधान-पंचकल्याण-प्रवचनादि से विरक्त।

तथाहि मन्दिर, मठ, धर्मशाला, गिरि आदि के निर्माण,
चन्दा-चिढ्ढा-बोली-याचना-दबाव-प्रलोभन शून्य॥ (3)
इससे मम समय-शक्ति-बुद्धि का न होता दुरुपयोग,
लन्द-फन्द, दौड़-धूप, धनी-गरीब भेदभाव का अभाव।
इसके कारण समता-शान्ति से कर रहा हूँ शोध-बोध,
ध्यान-अध्ययन, लेखन, वेबिनार में शुभभाव॥ (4)
इसके कारण में बच जाता हूँ परिग्रह से ले प्रदूषण उत्पादन से,
त्रस व स्थावर हिंसा से ले दुर्घटना व दुश्चिन्ता से।
इससे मम तन-मन-आत्मा, हो रहे स्वस्थ-सबल,
आत्मविशुद्धि, आत्मशान्ति-आत्मउन्नति उत्तरोत्तर॥ (5)
इससे स्वप्रेरित देश-विदेशों के जैन-अजैन भक्तजन,
लाभान्वित होकर कर रहे हैं तन-मन-धन से दान-पुण्य।
वाद-विवाद व निन्दा प्रशंसा परे कर रहा हूँ आत्मसाधना,
आत्मा से परमात्मा बनना ही “कनक” की पावन भावना॥ (6)
आकिंचन्य से परमेश्वर बनना है मम परमलक्ष्य,
अन्य सभी क्षुद्र आकांक्षा क्यों करूँ मुझे पाना है परममोक्ष॥ (7)

ग.पु.कों. सागवाड़ा, दि-12/2/2021, रात्रि-9.00

सङ्गा शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीरिभिः।

तत्प्रागेव सुनिःसारं योगिभिः परिकीर्तितम्॥ (15) ज्ञानार्णव

संसार जीव शरीर को प्राप्त होकर ही परिग्रहों को ग्रहण करते हैं, सो योगी महात्माओं ने शरीर को पहिले ही निःसार कह दिया है।

हृषीकराक्षसानीकं कषायभुजगव्रजम्।

वित्तामिषमुपादाय धत्ते कामप्युदीर्णतां॥ (16)

इन्द्रियरूपी राक्षसों की सेना और कषायरूपी सर्पों का समूह धनरूपी मांस को ग्रहण करके कोई ऐसी उत्कटता धारण करते हैं कि जो चिन्तवन में ही नहीं आती।

उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरीः।

प्रत्यासत्तिं समायातः सतामपि परिग्रहः॥ (17)

यह परिग्रह निकट प्राप्त होने पर सत्पुरुषों के भी वैराग्यरूपी वृक्ष की मंजरियों का उन्मूलन कर देता है।

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः।

रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः सङ्गैरभिद्रुतः॥ (18)

यह मनुष्य परिग्रहों से पीडित होकर विषयरूपी सर्पों से तो काटा जाता है, काम से बाणों से चीरा जाता है और स्त्रीरूप व्याध से (शिकारी से) रोका जाता है, अर्थात् बाँधा जाता है।

यः संगपङ्कनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।

स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्त्रिदशाचलम्॥ (19)

जो प्राणी परिग्रहरूपी कीचड में फँसा हुआ भी मोक्षप्राप्ति के लिये चेष्टा (उपाय) करता है, वह मूढ फूलों के बाण से मेरुपर्वत को तोडना चाहता है।

भावार्थ-परिग्रह धारण करनेवालों को मोक्ष की प्राप्ति होना असंभव है।

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्।

विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये॥ (20)

अणुमात्र परिग्रह के रखने से मोहकर्म की ग्रन्थि (गाँठ) दृढ़ होती है इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शान्ति के लिये समस्त लोक के राज्य से भी पूरा नहीं पड़ता।

परीषहरिपुव्रातं तृच्छवृत्तैकभीतिदम्।

वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः सङ्गसङ्गताः॥ (21)

परिग्रह रखनेवाले यति तुच्छवृत्तवालों को ही भय के देनेवाले परीषहरूपी शत्रुओं के समूह को देखते ही धैर्य छोड़ देते हैं अर्थात् परिग्रही मुनि परिषहों के आने पर दृढ़ नहीं रह सकता, किन्तु मार्ग से हट जाता है।

सर्वसंगपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे।

यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः॥ (22)

श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान् के परमागम में समस्त परिग्रहों का त्याग ही महाव्रत

कहा है, उसको जो कोई अन्यथा कहता है, वह नीच है तथा अपना और दूसरों का घातक है।

यमप्रशमजं राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहं।

योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः॥ (23)

जो धनरूपी पिशाच से पीडित हैं ऐसे योगी मुनि भी यम, नियम व शान्त भावों से उत्पन्न राज्य को, तपको और शास्त्रस्वाध्यायादि के ग्रहण को छोड़ देते हैं।

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु।

कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः॥ (24)

धन का संग्रह पुरुषों के पुण्य कार्यों से उत्पन्न हुई समस्त मनोवांछित को देनेवाली सिद्धियों में विघ्न करता है।

अत्यक्तसंगसन्तानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः।

बध्नन्नपि न जानाति स्वं धनैः कर्मबन्धनैः॥ (25)

नहीं तजी है परिग्रह की वासना जिसने ऐसा पुरुष अपने को मुक्त करने के लिये उद्यमी है, परन्तु अपना आत्मा परिग्रह के कारण कर्मों के दृढ़ बंधनों से बाँधता है तो भी उसे नहीं जानता, क्योंकि परिग्रहलोलुप प्रायः अंधे के समान होता है।

अपि सूर्यस्त्यजेद्भ्राम स्थिरत्वं वा सुराचलः।

न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥ (26)

कदाचित् सूर्य तो अपना प्रकाश छोड़ दे और सुमेरु पर्वत स्थिरता (अचलता) छोड़ दे यह तो संभव है; परन्तु परिग्रहसहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता।

बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।

स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति॥ (27)

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ हैं वह नपुंसक (नामर्द वा कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?

स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनं।

क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम्॥ (28)

विद्वानों ने (ज्ञानी पुरुषों ने) धन को कामरूपी सर्प की बांबी तथा रागादि दुश्मनों के रहने का घर और अविद्याओं के क्रीडा करने के स्थानरूप कहा है।

अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि।

जगत्यस्मिन् जनः क्षिप्रं दोषलक्षैः कलङ्क्यते। (29)

थोड़े से धनरूपी कीचड-सेवाल में फँसा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जगत् में तत्काल लक्षावधि दोषों से कलंकित होता है। **भावार्थ**—थोड़े से भी धन से कालिमा लगती है।

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशङ्क्यते।

धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुष्यते।। (30)

धनाढ्य पुरुष समस्त परिग्रह के त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शंकायुक्त रहता है तथा धनकी रक्षा के लिये रात्री को सोता भी नहीं। **भावार्थ**—कोई मेरा धन न ले जाय ऐसी शंका उसे निरन्तर रहती है।

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात्।

बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं।। (31)

जो धनवान् होते हैं वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चोर, वैरी, बन्धु, मित्र, स्त्री अथवा परचक्र आदि से निरन्तर शंकित रहते हैं।

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः।

तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः।। (32)

यह जीव धन की आशा से मलिन होकर जो कर्म बाँधता है, उस कर्म की शान्ति बहुत ही करोड़ों जन्म से और बड़े कष्ट से होती है, क्योंकि एक जन्म का बाँधा हुआ कर्म अनेक जन्मों में क्लेश भोगने पर ही छूटता है।

सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः।

धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णितां।। (33)

समस्त परिग्रहों से तो रहित हो और इन्द्रियों का संवररूप करनेवाला हो ऐसा स्थिरचित्त संयमी मुनि ही श्री वर्धमान भगवान् की कही हुई ध्यान की धुरा को धारण कर सकता है, क्योंकि ऐसे हुए बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

सङ्गपङ्कात्समुत्तीर्णे नैराश्यमवलम्बते।

ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्र्यैः क्रचिन्मुनिः॥ (34)

जो मुनि परिग्रहरूपी कर्म से निकल गया हो वही निराशता का (निःस्पृहता) अवलंबन कर सकता है और उस निराशता होने पर वह मुनि परतन्त्रतास्वरूप दुःखों से कदापि घेरा या दबाया नहीं जाता; सो ठीक ही है, आशारहित होने पर फिर पराधीनता का दुःख क्यों हो?

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।

सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः॥ (35)

जो परिग्रह रहित संयमी है, वह चाहे तो निर्जन वन में रहो, चाहे वसती में रहो, चाहे सुख से रहो, चाहे दुःख से रहो, उसको कहीं भी प्रतिबद्धता नहीं है; अर्थात् वह सब जगह सम्बन्ध रहित निर्मोही रहता है।

दुःखमेव धनव्यालविषविध्वस्तचेतसां।

अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये॥ (36)

धनरूपी सर्प के विष से जिनका चित्त बिगड गया है, उन पुरुषों को धनोपार्जन में, रक्षा करने में अथवा नाश होने वा व्यय (खर्च) करने में सदैव दुःख ही होता है।

स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिदूयते धनी।

यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलैः॥ (37)

जिस प्रकार किसी पक्षी के पास मांस का खंड हो तो वह अन्यान्य मांसभक्षी पक्षियों से पीडित वा दुःखित किया जाता है, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष भी अपनी जातिवालों से दुःखित वा पीडित किया जाता है।

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात्।

जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे॥ (38)

जीवों के परिग्रह से इस लोक में तो आरम्भ होता है, हिंसा होती है, और कषाय होते हैं; उससे फिर नरकरूपी सागर में पतन होता है।

न स्याद्भ्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेऽपि निश्चलं।

मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा॥ (39)

जिस मुनि का चित्त परिग्रहरूपी पिशाचों से अनेक प्रकार पीडित है, उनका चित्त ध्यान करते समय कदापि स्वप्न में भी स्थिर (निश्चल) नहीं रह सकता।

अब आचार्य उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! यदि तू संसार के बंध का नाश करना चाहता है तो धन के समूह को छोड़कर मुनियों के समूह को आनंद देनेवाले सन्तोषरूपी राज्य को अंगीकार कर, क्योंकि धन का समूह समस्त इन्द्रियों के विषयका तो बीज है तथा समस्त पापों का मूल है और नरकनगर की ध्वजा है, सो ऐसे अनर्थकारी धन को छोड़कर संतोष को अंगीकार कर, जिससे संसार का फंद कटता है।

हे व्यामूढ आत्मन्! जिसका मन धन में लवलीन है उन्होंने क्या हिंसादिक कार्यों से पापार्जन नहीं किया? तथा उस धन के उपार्जन, रक्षण व व्यय करने से दुःखरूपी अग्नि से कौन नहीं जला? इस कारण पहिले ही विचार कर इस धन की स्पृहा को (इच्छा को) छोड़; जिससे तू विषयों सहित पाप ताप की एकता को प्राप्त न हो अर्थात् विषयों और पापतापों का संगी न हो।

हे आत्मन्! धन की आशारूपी रससे मन रुक जाने से तू ऐसा विचारता है कि 'प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदा को प्राप्त होऊँगा, फिर ऐसे उसकी रक्षा करूँगा, इस प्रकार वृद्धि करूँगा तथा अमुक प्रकार से उसको भोगकर व्यय करूँगा' इत्यादि विचार करता रहता है; परन्तु क्रोधायमान यमके दाँतों की दोनों पंक्तिरूपी चक्की के बीच में अपने को आया हुआ नहीं देखता, सो यह तेरा बड़ा अज्ञान है।

बाह्यान्तर्भूतानिः शेषसंगसंन्याससिद्धये।

आशां सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलंब्यते॥ (1)

जो सत्पुरुष हैं वे बाह्याभ्यन्तर के समस्त परिग्रहों के त्याग की सिद्धि के लिये प्रथम ही आशा को छोड़कर निराशताका आलंबन करते हैं, क्योंकि आशा के छूटने से ही परिग्रह का त्याग होता है।

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।

तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्॥ (2)

मनुष्यों के जैसे जैसे शरीर तथा धन में आशा फैलती है, वैसे वैसे उनके मोहकर्म की गाँठ दृढ़ होती जाती है।

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति।

ततो निबद्धमूलाऽसौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते।। (3)

इस आशा को रोका नहीं जाय तो यह निरन्तर समस्त लोकपर्यन्त विस्तरती रहती है और उससे इसका मूल दृढ़ होता जाता है, फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है, इसलिये इसका रोकना श्रेष्ठ है।

यद्याशा शान्तिमायाता तदा सिद्धं समीहितम्।

अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः।। (4)

यदि आशा शान्ति को प्राप्त हो जाती है तो फिर उसी समय सर्व मनोवांछित की सिद्धि हो जाती है, यदि शान्त न हुई तो फिर संसार से उत्पन्न हुआ दुःखरूपी समुद्र दुस्तर हो जाता है। **भावार्थ**—फिर संसार का दुःख नहीं मिटेगा।

यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च।

विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका।। (5)

लोगों के यम, नियम वा प्रशम भावों के राज्य का तथा सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य के उदय का प्रतिषेध (निषेध) करनेवाली और विवेक को रोकनेवाली एक मात्र यह आशा ही है; आशा के नष्ट होने से ही सर्व सिद्धि है।

आशामपि न सर्पन्तीं यः क्षणं रक्षितुं क्षमः।

तस्यापवर्गसिद्धयर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम्।। (6)

आचार्य देव कहते हैं कि जो पुरुष बढ़ती हुई आशा को क्षणभर भी रोकने को असमर्थ है उसका मोक्ष की सिद्धि के लिये परिश्रम करना व्यर्थ है; ऐसा मैं मानता हूँ।

आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी।

आशा मूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम्।। (7)

संसारी जीवों के आशा ही तो इन्द्रियों को उन्मत्त करनेवाली मदिरा है और आशा ही विष को बढ़ानेवाली मंजरी है तथा संसार में जितने दुःख होते हैं, उनकी एक मात्र यह आशा ही मूल कारण है।

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता।

महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः।। (8)

जिन पुरुषों ने आशा रूपा राक्षसी को नष्ट किया, वे ही पुरुष धीर, वीर और सुखी हैं तथा वे ही अनेक आपदा वा कष्टों के भरे हुए दुःखरूपा संसारसमुद्र से पार हुए हैं।

येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम्।

अतो नैराश्यमालंब्य शिवीभूता मनीषिणः॥ (9)

जिन पुरुषों को आशा लगी है, उनके मन की शुद्धि कैसे हो? इस कारण जो बुद्धिमान पुरुष हैं उन्होंने निराशता का अवलंबन करके ही अपना कल्याण साधन किया है। **भावार्थ**—जो जो निराश हुए उन्होंने ही अपना कल्याण किया है।

सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते।

तस्य क्वचिदपि स्वान्तं संगपङ्कैर्न लिप्यते॥ (10)

जो पुरुष समस्त आशाओं का निराकरण करके निराशा का अवलंबन करता है, उसका मन किसी काल में भी परिग्रहरूपी कर्दम से नहीं लिपता। **भावार्थ**—जो आशा छोड़े उसको परिग्रहरूपी मल काहे को लगे?

तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः।

निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता॥ (11)

जिस पुरुष के आशा रूपा पिशाची नष्टता को प्राप्त हुई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वों का निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ (सच्चे) हैं, वा सार्थक हैं।

यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः।

तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी॥ (12)

हे आत्मन्! जब तक तेरे चित्त में आशा रूपा अग्नि स्वतंत्रता से नितान्त प्रज्वलित हो रही है तब तक तेरे महा दुःखरूपी दाह की शान्ति कहाँ से हो?

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम्!

तमालिङ्गति सोत्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहदा॥ (13)

जिसका चित्त निराशतारूपी अमृत के प्रवाहों से पवित्र हो चुका है, उस पुरुष को प्रीति से बँधी हुई उपशम भावरूपी लक्ष्मी उत्कंठापूर्वक आलिंगन करती है। **भावार्थ**—आशा से मैले हुए चित्त में उपशम भाव नहीं आ सकते।

न मज्जति मनो येषामाशाम्भसि दुरुत्तरे।

तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादपः॥ (14)

इस जगत् में जिसका मन दुस्तर आशारूपी जल में नहीं डूबता, उनके ही ज्ञानरूपी वृक्ष फलता है। **भावार्थ**-आशारूपी दुस्तर जल में ज्ञानरूपी वृक्ष गल जाता है, इस कारण फल नहीं लगता।

शक्रोऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः।

विध्याप्याशानलज्वालां श्रयन्ति यमिनः शिवम्॥ (15)

स्वर्ग का इन्द्र भी आशारूपी अग्नि से जलता हुआ सुखी नहीं है और मुनिगण तो आशारूपी अग्नि की ज्वाला को बुझाकर मोक्ष का आश्रय कर लेते हैं अर्थात् मुनिगण निराशता का अवलंबन करके सर्वथा सुखी हो जाते हैं।

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता।

किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितं॥ (16)

आचार्य भगवन्त कहते हैं कि जिस पुरुष की चराचर (चित् अचित्) पदार्थों में आशा नष्ट हो गई है, उसके इस लोक में क्या-क्या मनोवांछित सिद्ध नहीं हुए? अर्थात् सर्व मनोवांछित सिद्ध हुए, ऐसा मैं मानता हूँ।

चापलं त्यजति स्वान्तं विक्रियाश्चाक्षदन्तिनः।

प्रशाम्यति कषायाग्रिनैराश्याधिष्ठितात्मनाम्॥ (17)

जिनके आत्मा ने निराशता को स्वीकृत किया है, उसका मन तो चपलता को छोड़ देता है और इन्द्रियरूपी हस्ती विषयविकारता को छोड़ देते हैं तथा कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है।

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता।

स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये॥ (18)

आचार्य देव कहते हैं कि बहुत कहाँ तक कहें? इतना ही बहुत कि जिसकी आशा नष्ट हो गई वही पुरुष उभय लोक की विशुद्धता के लिये महापुरुषों के द्वारा सेवा करने योग्य है। **भावार्थ**-आशारहित मुनि की बड़े-बड़े सत्पुरुष सेवा करते हैं।

आशा जन्मोग्रपङ्कय शिवायाशाविपर्ययः।

इति सम्यक्त्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर।। (19)

आशा है सो संसाररूपी कर्दम में फँसानेवली है और उसका विपर्यय अर्थात् आशा का अभाव मोक्ष का करनेवाला है। अब तू इन दोनों का भले प्रकार विचार कर, जिसमें अपना हित समझे उसी का आचरण कर, यह उपदेश है।

न स्याद्विक्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम्।

कथं प्रक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः।। (20)

जो आशा रूपी पिशाच से क्षत अर्थात् पीड़ित हैं, वे विक्षिप्त चित्त हैं, सो जिनका चित्त विक्षिप्त है, उन मनुष्यों की इष्टसिद्धि कहीं भी नहीं है, उनकी विक्षिप्तता कैसे नष्ट होगी सो नहीं कहा जा सकता।

विषयविपिनवीथीसंकटे पर्यटन्ती

झटिति घटितवृद्धिः क्वापि लब्धावकाशा।

अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नयन्ती

छलयति खलु कं वा नेयमाशापिशाची।। (21)

विषयरूपी वन की गलियों में फिरती हुई, तत्काल बढ़ती जहाँ तहाँ स्वतंत्र (बेरोकटोक) विचरनेवाली, संयमी मुनियों को आकुलित करनेवाली यह आशा रूपी पिशाची किस-किस को नहीं छलती? अर्थात् सबको छलती फिरती है।

सप्रदायमनादृत्य यस्त्विसं दीक्षयेदधीः।

स साधुभिर्बहिः कार्यो वृद्धात्यासादनारतः।। (161)

जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदाय का अनादर कर नवीन शिष्य को दीक्षा दे देता है वह वृद्ध पुरुषों के उल्लंघन करने में तत्पर होने से अन्य साधुओं के द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है। भावार्थ—जो आचार्य असमय में ही शिष्यों को दीक्षा दे देता है वह वृद्ध आचार्यों की मान्यता का उल्लंघन करता है इसलिए साधुओं को चाहिए कि वे ऐसे आचार्य को अपने संघ से बाहर कर दें।

तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगीन्द्रा सप्तविंशतिम्।

यैर्निणीतै भवेत्साक्षात् पारिव्राज्य लक्षणम्।। (162)

मुनिराज इस पारिव्रज्य क्रिया में उन सताईस सूत्र पदों का निरूपण करते हैं जिनका कि निर्णय होने पर पारिव्रज्य का साक्षात् लक्षण प्रकट होता है।

जातिमूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता।

प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते।। (163)

सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः।

अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने।। (164)

क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च।

भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः।। (165)

जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीर की सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं।

जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम्।

गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादरः।। (166)

ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियों के गुण कहलाते हैं। उस भव्य पुरुषको अपने जाति आदि गुणोंसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिए।

भावार्थ—ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले शिष्य में भी यथासम्भव रूप से होते हैं परन्तु शिष्य को अपने जाति आदि गुणों का सन्मान नहीं कर परमेष्ठियों के हो जाति आदि गुणों का सन्मान करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने-आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है।

जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ।

यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जाति चतुष्टयीम्।। (167)

स्वयं उत्तम जातिवाला होने पर भी अहंकाररहित होकर अरहन्तदेव के चरणों की सेवा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह भव्य दूसरे जन्म में उत्पन्न होने पर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियों को प्राप्त होता है।

जातिरैन्द्री भवेद्विव्या चक्रिणां विजयाश्रिता।

परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम्॥ (168)

इन्द्र के दिव्या जाति होती है, चक्रवतियोंके विजयाश्रिता, अरहन्तदेव के परमा और मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों के अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाली स्वा जाति होती है।

मूर्त्यादिष्वनि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी।

पुराणज्ञैरसंमोहात् क्वचिच्च त्रितयी मता॥ (169)

इन चारों की कल्पना मूर्ति आदिमें कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदि के भी समझ लेना चाहिए। परन्तु पुराणों को जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी-किसी जगह लीन ही भेदोंको कल्पना करते हैं। भावार्थ-सिद्धों में स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं।

कर्शयेन्मूर्त्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्तीः शरीरिणाम्।

तपोऽधितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः॥ (170)

जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियों को प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिए तथा अन्य जीवों के शरीरों की रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिए।

स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनाम्।

लक्षणान्यभिसंधाय तपस्येत् कृतलक्षणः॥ (171)

इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करनेवाला वह पुरुष अपने लक्षणों को निर्देश करने के अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्रदेवके लक्षणोंका चिन्तन कर तपश्चरण करे।

म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत्।

वाञ्छन्दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्यपरम्परम्॥ (172)

जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों की इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरके सौन्दर्य को मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे।

मलीमसाङ्गं व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः।

प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः॥ (173)

जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होने वाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अर्हन्त देव की प्रभा का ध्यान करता है ऐसा साधु

शीघ्र ही देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्य प्रभा आदि प्रभाओं को प्राप्त करता है।

स्वं मणिस्नेह दीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन्।

तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वलः॥ (174)

जो मुनि अपने मणि और तेल के दीपक आदि का तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है।

त्यक्त्वाऽस्त्र वस्त्र शस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक्।

जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत्॥ (175)

जो पहले के अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदि को छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्र का अधिपति होता है।

त्यक्तस्नानदिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं जिनम्।

मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनम्॥ (176)

जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तवन करता है वह मेरुपर्वत के मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है।

स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम्।

सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः॥ (177)

जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपने को छोड़कर परमस्वामी श्रीजिनेन्द्र देवकी सेवा करता है वह जगत् के जीवों के द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसकी सेवा करते हैं।

स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः।

सैहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत्॥ (178)

जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदों का त्याग कर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ को प्रसिद्ध करनेवाला अर्थात् तीर्थकर होता है।

स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरूप धिर्भुवि।

शयानः स्यण्डले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः॥ (179)

स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः।

देवैर्विरचितं दीप्रभास्कन्दत्युपधानकम्॥ (180)

जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथिवीके ऊँचे-नीचे प्रदेशपर शयन करता है वह महाअभ्युदय (स्वर्गादिकी विभूति) को पाकर जिन हो जाता है, उस समय सब लोग उसका आदर - सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने तकियाको प्राप्त होता है।

त्यक्तशीतातपत्राण सकलात्मपरिच्छदः।

त्रिभिश्चछत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयम्॥ (181)

जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रों से सुशोभित होता है।

विविधव्यजन त्यागादनुष्ठिततोविधिः।

चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये॥ (182)

अनेक प्रकारके पंखाओं के त्याग से जिसने तपश्चरण की विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्रपर्याय में चौसठ चमरों से वीजित होता है अर्थात् उस पर चौसठ चमर ढुलाये जाते हैं।

उज्झितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिम्।

स्याद् द्युदुन्दुभिनिर्घोषैर्घृष्यमाणजयोदयः॥ (183)

जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजय का उदय स्वर्ग के दुन्दुभियों के गम्भीर शब्दों से घोषित किया जाता है।

उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात्।

यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः॥ (184)

चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदि के द्वारा की हुई छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिए ही अब उसे (अरहन्त अवस्था में) महाअशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है।

स्वं स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः।

स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः॥ (185)

जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्व भावको प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजे पर खड़ी हुई निधियों से सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमि में निधियाँ दरवाजे पर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं।

गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः।

श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम्॥ (186)

जिसको रक्षा सब ओर से की गयी थी ऐसी घरकी शोभा को छोड़ कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिए श्रीमण्डप की शोभा अपने-आप इसके सामने आती है।

तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधिष्ठितः।

त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम्॥ (187)

जो तप करने के लिए सघन वन में निवास करता है उसे तीनों जगत् के जीवों के लिए स्थान दे सकने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकों के समस्त जीव सुख से स्थान पा सकते हैं।

क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात् क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः।

स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्यमस्योपजायते॥ (188)

जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग कर शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है उसे तीनों जगत् के क्षेत्र को अपने अधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयम्।

प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृताम्॥ (189)

जो मुनि आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरों के द्वारा शिरपर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं।

स्वामिष्ठभृत्यबन्धवादिसभामुत्सृष्टवानयम्।

परमाप्तपदप्राप्ता वध्यास्ते त्रिजगत्सभाम्॥ (190)

जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदि को सभा का परित्याग करता है

इसलिए उत्कृष्ट अरहन्त पद की प्राप्ति होने पर वह तीनों लोकों की सभा अर्थात् समवसरण भूमि में विराजमान होता है।

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपः।

स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः॥ (191)

जो सब प्रकार को इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणों को प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपाचरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दा में समान भाव रखता है, वह तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं।

वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तपः।

ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैर निन्द्यगुणसंनिधिः॥ (192)

इस मुनि ने वन्दना करने योग्य अर्हन्त देवकी वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिए यह वन्दना करने योग्य पूज्य पुरुषोंके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भाण्डार हुआ है।

तपोऽयमनुपानत्कः पदचारी विवाहनः।

कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति॥ (193)

जो जूता और सवारी का परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलों के मध्य में चरण रखने के योग्य होता है अर्थात् अर्हन्त अवस्था में देव लोग उसके चरणों के नीचे कमलों को रचना करते हैं।

वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या यतोऽयं तपसि स्थितः।

ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां सभाम्॥ (194)

चूँकि यह मुनि वचनगुप्ति को धारण कर अथवा हित मित वचनरूप भाषासमिति का पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ था इसलिए ही इसे समस्त सभा को सन्तुष्ट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है।

अनाश्चान्नियताहारपारणोऽतप्त यत्तपः।

तदस्य दिव्यविजय परमामृततृप्तयः॥ (195)

इस मुनि ने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएँ

कर तप तपा था इसलिए ही इसे दिव्यतृप्ति, विजय तृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

त्यक्ताकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाचिरं यतः।

ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दथुं भजेत्॥ (196)

यह मुनि काम जनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण में स्थिर रहा था इसलिए ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्द को प्राप्त हुआ है।

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम्।

त्यजेन्मुनिरसंकल्पः तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः॥ (197)

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है? संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्प रहित होकर जिस प्रकार को जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है।

प्राप्तोत्कर्ष तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणोः फलम्।

यतोऽर्हजातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुवर्णिता॥ (198)

जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणि का फल उत्कृष्ट पद को प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अर्हन्त देव की जाति तथा मूर्ति आदि की प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्रज्य नामकी क्रिया का वर्णन किया।

जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन्।

तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसम्॥ (199)

जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेव को आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसी के वास्तविक पारिव्रज्य होता है।

अन्यच बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितम्।

पारिव्राज्य परित्यज्य ग्राह्यं चेदमनुत्तरम्॥ (200)

अनेक प्रकार के वचनों के जाल में निबद्ध तथा युक्ति से बाधित अन्य लोगों के पारिव्रज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्य को ग्रहण करना चाहिए।

सा सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्।

सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुविर्णिता॥ (201)

पारिव्रज्य के फल का उदय होने से जो सुरेन्द्र पद की प्राप्ति होती है वही यह सुरेन्द्रता नाम की क्रिया है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याचक्ररत्नपुर सरम्।

निधिरत्नसमुद्भूतं भोगसंपरत्परम्परम्॥ (202)

जिसमें चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों और रत्नों से उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त होती है ऐसा चक्रवर्ती का बड़ा भारी राज्य साम्राज्य कहलाता है।

आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया।

यत्र स्वर्गावतारादिहमहाकल्याणसंपदः॥ (203)

अर्हत परमेशी का भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट किया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं। इस क्रिया में स्वर्गावतार आदि महाकल्याणकरूप सम्पदाओं की प्राप्ति होती है।

याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसंपदाम्।

तदाऽर्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम्॥ (204)

स्वर्ग से अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेशी को जो पंचकल्याणकरूप सम्पदाओं की प्राप्ति होती है उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिए, यह आर्हन्त्यक्रिया तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली है।

भवबन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः।

परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परंनिर्वाणमित्यपि॥ (205)

संसार के बन्धन से मुक्त हुए परमात्मा को जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं। इसका दूसरा नाम परंनिर्वाण भी है।

कृत्स्नकर्मभलापायात् संशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः।

सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो न गुणोच्छिदा॥ (206)

समस्त कर्मरूपो मलके नष्ट हो जानेसे जो अन्तरात्मा की शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं, यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्व को प्राप्तिरूप है अभाव रूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणों के नाशरूप ही है।

इस प्रकार आगम के अनुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ कही गयी हैं, इन क्रियाओं का पालन करने से योगियों को परम स्थान की प्राप्ति होती है।

जो भव्य आलस्य छोड़कर निरूपण की हुई इन तीन प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान करता है वह उस परमधाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है जिसके प्राप्त होने पर उसे उत्कृष्ट सुख मिल जाता है।

पवित्र बुद्धि को धारण करने वाला जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओं सहित जिनमत में कहे हुए इस पुराण के धर्म का अथवा प्राचीन धर्म का स्मरण करता है और उसी के अनुसार आचरण करता है वह संसार सम्बन्धी भय के बन्धनों को शीघ्र ही तोड़ देता है-नष्ट कर देता है। जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों में अनुराग को प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओंकी विधि का सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धन को नष्ट करता हुआ जन्म, बुढ़ापा और मरण का अन्त करनेवाला होता है।

यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरु की आज्ञा से उत्कृष्ट पारिव्रज्य को प्राप्त कर स्वर्ग जाता है, वहाँ उसे इन्द्र की लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पद को प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमा का धारक होता है और इसके बाद निर्वाण को प्राप्त होता है।

दिगम्बर जैन समाज की दुविधाएँ

-पं. विमल कुमार जैन सोरैया

जैन समाज को श्रीवृद्धि उसकी एकता और भगवान् महावीर स्वामी के कल्याणकारी उपदेशों का जन-जन में प्रभाव, प्रसार का दिनोदिन हो रहे ह्रास का हेतु मुख्यतः साधुवर्ग की स्थिति पर निर्भर है। भगवान् महावीर के हुंडावसर्पिणी इस काल में दो पुत्र हुए, एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। इससे भी बड़ा दुर्भाग्य है कि वर्तमान शताब्दी में दिगम्बर जैन धर्म के अनुयायियों में इतने फिरके पैदा हो गए जो जैनत्व के अभ्युदय में राहु है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के मध्य पारस्परिक वैमनस्य, ईर्ष्या, कलह और एक दूसरे के प्रति घृणा की भावना को मजबूती देने में साधुवर्ग द्वारा खाईयाँ खोदी गई है। एक पक्ष अर्हंत देव को देव मानता है, अन्य देव, देव नहीं। दूसरा पक्ष अर्हंत देव के समान अनेक सेवक देवी देवताओं की उसी प्रकार आराधना करता है जैसी

अर्हत देव की। एक पक्ष प्रासुक अष्ट द्रव्य से अपने आराध्य अर्हत की आराधना का पक्षपाती है तो दूसरा पक्ष फूल-फल, मिष्ठान से अर्हत की पूजा करने की परंपरा को मुख्यता प्रदान करता है। यहाँ तक तो सबकुछ ठीक है। यह तो भक्त के मन की प्रफुल्लता का प्रश्न है, परंतु हमारे साधुगण दोनों पक्षों में पंथवाद का पोषण करने की प्रेरणा देकर परस्पर घृणाभाव समाज में भर रहे हैं।

पाँच-सात दशक पूर्व में एक श्वेताम्बर समाज के साधु का दिगम्बर जैनधर्म का चोला पहनकर आने की खोखली प्रशंसा को दिगम्बर जैन समाज ने गौरव समझा, उसे बहुमान किया। उस व्यक्ति ने अपनी विलक्षण बुद्धि से दिगम्बर जैन समाज को दो और टुकड़ों में विभक्त कर दिया। **निश्चयभाषी और व्यवहारभाषी** के रूप में प्रताड़ित हुए इस परंपरा ने तो दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना कर ऐसा घृणा का बीज बोया जो 50 वर्ष तक इस दिगम्बर समाज में रोटी-बेटी तक के व्यवहार को बंद कर दिया। आज भी इसकी घृणास्पद भावनाएँ समाज में साकार हैं। परंतु जिस गति से समाज में यह पंथ फूला था, उसी गति से मुरझा गया तथा दिन-प्रतिदिन यह झुलसता जा रहा है। जो वयोवृद्ध कट्टर अनुयायी हैं, वह आज भी अपने पंथ पोषण की खड़ताले बजा रहे हैं। हुंदावसर्पिणी काल का प्रभाव तो पंचम काल तक ही रहेगा। यह तो आगम परंपरा है। अतः 400 वर्ष बाद भारत में दिगम्बर मुनि परंपरा का अभ्युदय हुआ, इस परंपरा के अभ्युदय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शातिसागरजी महाराज का और मुनिकुञ्जर श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर को श्रेय है। दोनों महान् मंगल आचार्यों द्वारा मुनि परंपरा का सद्भाव व्यापक रूप से आज भारत में प्रवाहमान है। **दुर्भाग्य है कि दोनों महान् आचार्यों की परंपरा के साधुओं ने एक अखाड़ा तैयार किया।** चारित्र चक्रवर्ती की परंपरा के साधु इन्हें ज्येष्ठ प्रथमाचार्य के रूप में समाज में पक्षपात का बीज बो रहे हैं, तो अंकलीकर परंपरा में कुछ साधु इन्हें प्रथमाचार्य के रूप में मान्यता दे रहे हैं। आचार्य तो दोनों मंगलकारी और महान् हैं, परंतु दोनों को परंपरा के कुछ साधक एक-दूसरे के प्रति समाज में घृणा-भाव का विषवमन कर रहे हैं और संतुष्टि का अनुभव कर रहे हैं। ऐसे साधक पक्षपात की घृणित भावना समाज में फैलाकर समाज में विग्रह कर अशांति, अश्रद्धा का भाव साकार करने में अपने आपको गौरवान्वित मान रहे हैं।

गत 3-4 दशकों से मुनि परंपरा में एक और जबरदस्त दुर्भाग्य की परंपरा पल्लवित हुई है। प्रभावशाली वक्ता मुनिराजों ने गृहस्थों की तरह करोड़ों की लागत के अपने-अपने स्थल बनाना आरंभ कर दिए। समाज अंध भक्त है ही और अपनी इस अंध भक्ति में आकर अपनी लक्ष्मी का उपयोग इन मुनिराजों के आवासीय स्थल बनवाने में किया। वर्तमान में अर्धशतक से अधिक मुनिराजों, उपाध्यायों एवं आचार्यों ने यह आवासीय स्थल उनके नाम के साथ धर्म स्थल के रूप में विकसित किए। ऐसे साधुगण अपने गढ़ तैयार कराकर उनमें अपने साधक जीवन को गृहस्थों की तरह सर्व सुख साधन सुविधा के साथ बिताने के स्वप्न को साकार कर अपने आपको धन्य मान रहे हैं तथा दिगम्बर जैन समाज के अरबों रुपये की क्षति कर अपने पुण्य प्रभाव को वाहवाही लूटने में उत्सुक हैं। कुछ साधुगण जो बोलने की कला में निपुण हैं, वह समाज का करोड़ों रुपये खर्च करवाकर बड़े-बड़े पाण्डाल बनवाकर, जैनागम से रहित ऐसे भाषण व चर्चाएँ भारी जन समुदाय में करते हैं, जो मात्र लौकिक हैं, जिनका अध्यात्म से कोई सरोकार नहीं है। आत्म प्रशंसा में ही अपने साधक जीवन की आहुति दे रहे हैं।

अब एक और दिगम्बर जैन समाज के दुर्भाग्य से गत 4-5 दशकों से जैन समाज में कुछ ऐसे संत खड़े हुए जो अपने आपको सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर अहम की पराकाष्ठा पर अधिष्ठित हैं। यद्यपि उनके पुण्य का भी उदय तीव्र है, जिससे समाज उनसे कुछ भी कह सकने की सामर्थ्य नहीं रखता। भारत के सभी आचार्यों, मुनिराजों को वह नगण्यवत मानने में तत्पर हैं। उनके शिष्य वर्ग में भी यही मनोभाव साकार है। कुछ युवक मंदिरों अथवा प्रवचन हालों से ऐसे दूसरे आचार्यों को निकाल कर पृथक् करने की प्रवृत्ति चरितार्थ करने लगे हैं। परिणामतः समाज में परस्पर कलह और एक संत का दूसरे संत के प्रति घृणा का, पक्षपात का भाव साकार होने लगा है।

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी जैसे महामंगलकारी संत ने 400 वर्षों से पतित, या यूँ कहें अभावग्रस्त विद्वत परंपरा को जीवित करने एवं वृद्धिगत बनाने में सम्पूर्ण जीवन लगाया और जैन समाज में विद्वत वर्ग की व्यापक रूप में साकारता सामने आई। आज बह्वाचारियों में त्याग के बजाय राजभोग विलास और मायाचारी

के इतने प्रकार समाज के बीच पनपते हुए दिख रहे हैं, जिससे समाज में अनमनस्कता बढ़ी है। तीसरी दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति कुछ साधुवर्ग ने आरंभ की कि **प्राचीन मंदिरों को नष्ट कर नवीन निर्माण कराना**, जबकि मंदिर नव देवों में समाहार है। यह उतना ही दुर्भाग्यपूर्ण है जितना प्राचीन प्रतिमा को नष्ट कर नवीन स्थापित करना। कुछ साधु कार्यो में एक हाथ आगे चलकर भोली समाज को अपनी वाक्पटुता से मोहित कर श्रमण संस्कृति की प्राचीनता पर कुठाराघात करने में अग्रणी है। साधु के प्रति जैन समाज में अंधश्रद्धा भक्ति है। उसी का लाभ यह वर्ग उठा रहा है। मुझे ज्ञात है कि एक विद्वान् ने किसी साधक की प्रेरणा से किसी मंदिर को ध्वस्त करने का विरोध किया था और अपनी कलम चलाई थी तो उस विद्वान् के समीप सैकड़ों पत्र साधु एवं साध्वियों के आए। **एक गृहस्थ इतने क्रूर और गंदे पत्र नहीं लिख सकता, जितने शालीनता से क्रूर पत्र इस विद्वान् को लिखे गए।** यदि साधारण विद्वान् होता तो उसको कभी का हार्ट अटैक हो गया होता। परंतु उस विद्वान् महापुरुष ने गंभीरता से उसे सहन किया। उन सैकड़ों पत्रों को वे दस्तावेज की तरह आज भी सुरक्षित रखे हैं इस लेखक ने उसे बड़ी गंभीरता से पढ़ा है। इन तथ्यों से सिद्ध है कि **कुछ साधक अपने आपको श्रेष्ठ मानने का परिणाम** साकार होना अनुभूत कर रहे है। भला समाज इनसे क्या सीखेगा ? वर्तमान में प्रबुद्ध समाज के कुछ युवक ऐसे साधु वर्ग के प्रति अश्रद्धा का भाव रखने लगा है। भविष्य में यह किस रूप में पल्लवित होगा, अनुमान से परे है। ऐसे साधुओं से किसका भला होने वाला है ? **समाज का या साधु का?** साधुओं से तो श्रावक सीखकर आचरित करने का प्रयत्न करता है। श्रावक **जीवनभर झूठ बोले और साधु एक बार झूठ बोले, दोनों का पाप बराबर है।** साधु की मायाचारी, साधु का अहं, साधु की स्वयं की आत्मप्रशंसा पूजा सुनकर, देखकर, श्रावकोचित कार्यो को करना और करने की प्रेरणा देना, इस हेतु से साधु को कहाँ ले जायेगा, सर्वज्ञ ही जाने। **साधु तो चला जायेगा। समाज में पारस्परिक घृणा, द्वेष की भावनाओं का संस्कार रूप में प्रदान कर क्या अपने साधक जीवन को धन्य कर सकेगा? बहुत गंभीरता से विचारणीय है।** अभी हम देख रहे हैं कि दिगम्बर जैन समाज में एक और कटुता का अभ्युदय समाज के कुछ घिनौने व्यक्तियों द्वारा अंग्रेजों की तर्ज **फूट डालो और राज करो** की

घृणित परंपरा को बढ़ावा दे रहा है। दिगम्बर जैन समाज में जो उपजातियाँ हैं, एक उपजाति दूसरे उपजाति वालों पर घृणा, ईर्ष्या, द्वेष की घिनौनी भावनाओं से अंदर से घृणा का भाव रखने लगती है। ऐसा उनका व्यवहार उन्हें कभी ऊँचा नहीं उठा सकेगा। उनकी घृणा दूसरी उपजाति से है। उनका घृणा भाव उनकी उपजाति का अहित तो करेगा ही साथ ही अपनी आत्मा को भी पतित करेगा। हमें अपनी खोटी मनोभावनाओं से ही उपरत होना चाहिए।

भगवान् महावीर ने कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों के प्रति आत्मीय भाव रखने की आज्ञा दी, तब साधर्मि के प्रति घृणा का भाव हमारी आत्मा को क्या गति प्रदान करेगा, बहुत गंभीरता से सोचने की बात है।

दिशाबोध: फरवरी-2021

स्व श्रद्धा-प्रज्ञा के अनुसार करूँ भाव-व्यवहार (अयोग्य के अनुसार भाव-व्यवहार न करूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल-1.दुनिया में रहना है तो... 2.यमुना किनारे...)

मुझमें है जो अधिक श्रद्धा प्रज्ञा, उसके अनुसार करूँ मैं सही चर्या।

श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या का भी न करूँ घमंड, निम्न स्तर वालों से भी न करूँ अयोग्य भाव॥ (1)

केवल संकीर्ण कट्टर ढोंग पाखण्ड, दिखावा वर्चस्व हेतु जो क्रियाकाण्ड।

यही मेरे लिये नहीं उत्कृष्ट चर्या, समता आत्मविशुद्धि योग्य उत्कृष्ट चर्या॥ (2)

अज्ञानी कुज्ञानी के जो भाव व्यवहार, उनके अनुसार न करूँ भाव-व्यवहार।

तथाहि आलसी प्रमादी दंभी के सम, न करूँ भाव-व्यवहार संकीर्ण सम॥ (3)

तथाहि वृद्ध असमर्थ रोगी के सम, प्राथमिक विद्यार्थी या मन्दमति के सम।

न करूँ भाव-व्यवहार अनुभव विहीन, किन्तु करूँ इनसे श्रेष्ठ गुरु के सम॥ (4)

अन्य नहीं करते मैं क्यों करूँ एकला, ऐसा जो करते वह अन्धानुकरण वाला।

“महाजन गता सः पन्था” सम बनूँ आदर्श, “भेड-भेड़ीया चाल” को करूँ बहिष्कार॥ (5)

शक्ति न छिपाऊँ किन्तु करूँ विस्तार, सर्वोदय तक मैं करूँ सतत विस्तार।

परम पुरुषार्थ से बनूँ परमेश्वर, स्वकर्ता-भोक्ता बनना ‘कनक’ का विचार॥ (6)

मेरे भाव व्यवहार का मैं कर्ता-भोक्ता, अन्य का नहीं हूँ मैं कर्ता व भोक्ता।
आत्महित सहित परहित भी करूँ, पर के कारण आत्मअहित कदा न करूँ॥ (7)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा-दि. 22/02/2021 मध्याह्न-1.34, व 2.39

“मेरा स्व-शुद्धात्मा के अनन्त वैभव का स्मरण”

(चाल : चौपाई (मैं हूँ तम्बाखू...)...नरेन्द्र छन्द...आत्मशक्ति से...)

दोहा...मैं मेरा शुद्ध स्वरूप का...कर रहा हूँ स्मरण।

सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात है...आचार्यों ने किया वर्णन।

मैं हूँ आत्मा सबसे महान्...सबसे महान् मेरे गुण।

द्रव्य में हूँ श्रेष्ठ द्रव्य...तथाहि तत्त्व पदार्थ महान्॥

मुझमें गुण (गण) अनन्त होते...तथाहि पर्याय होती अनन्त।

अतः सर्वज्ञ ही मुझे जानते...विज्ञानी भी न जानते मेरा रूप॥

सर्वगुण भी अभी मुझे है न ज्ञात...स्मरण करूँ जो सूरी प्रणीत।

स्व-स्मरण रूपी स्व-आत्म ध्यान...करने हेतु मैं यहाँ किया वर्णन॥

चैतन्यभाव धारण करने योग्य...“जीवत्व” शक्ति से मैं संयुक्त।

जड़रहित मेरा होना स्वभाव...“चिति” शक्ति से हूँ मैं संयुक्त॥

अनाकार उपयोगमय मेरा रूप...“दर्शन” शक्ति से मैं हूँ मण्डित।

साकार उपयोगमय मेरा रूप...“ज्ञान” शक्ति से मैं हूँ पण्डित॥

अनाकुलतामय है “सुख” शक्ति...स्व-स्वरूप रचने की “वीर्य” शक्ति।

अखण्डित प्रतापशाली “प्रभुत्व” शक्ति...सर्वभावों में व्यापक “विभुत्व” शक्ति॥

लोकलोक के “अवलोकन” शक्ति...सत्तामात्र दर्श “सर्वदर्शी” शक्ति।

विश्व-प्रतिविश्व “ज्ञायक” शक्ति...अविशेष जानना “सर्वज्ञ” शक्ति॥

विश्व प्रतिबिम्बित “स्वच्छत्व” शक्ति...स्वयं प्रकाशमान “प्रकाश” शक्ति।

क्षेत्रकालादि “असंकुचितविकास” शक्ति...अव्याबाध अमोघ परम शक्ति॥

“अकार्य-कारणत्व” विशेष शक्ति...स्वयम्भू अन्य अकारक स्वतंत्र शक्ति।

“परिणम्य-परिणामकत्व” जो शक्ति...ज्ञेय-ज्ञानाकार ग्रहण शक्ति॥

“त्याग-उपादान शून्यत्व” शक्ति...हीनाधिकरहित स्वरूप/(नियत) शक्ति।

षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि परिणति...“अगुरुलघुत्व” यह विशेष शक्ति॥

“उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व” की शक्ति...क्रमवर्ती पर्याय व गुणों की शक्ति।
 इससे युक्त है “परिणाम” शक्ति...कर्मबन्ध रहित “अमूर्तत्व” शक्ति।
 “अकतुत्व” शक्ति से मैं हूँ सम्पन्न...अन्य का नहीं हूँ मैं कर्ता निदान।
 “अभोक्तृत्व” शक्ति से मैं हूँ पूर्ण...स्व का भोक्ता हूँ न अन्य सम्पूर्ण।
 “निष्क्रियत्व” शक्ति से मैं हूँ युक्त...कर्मरहित से निश्चल युक्त।
 असंख्यात ही है मेरे आत्मप्रदेश...अतएव मेरे हैं नियतप्रदेश।।
 सर्व शरीरों में है एक स्वरूप...“स्वधर्मव्यापकत्व” यह स्वरूप।
 “अनन्तधर्मत्व” है मेरी शक्ति...विलक्षण स्वभावों की मैं (हूँ) समिष्टी।।
 “विरुद्धधर्मत्व” है मेरी शक्ति...तद्-अतद्रूपों की मैं (हूँ) समिष्टी।
 मैं हूँ “तत्त्व” मैं हूँ “अतत्त्व”...मैं हूँ “एकत्व” तथा “अनेकत्व”।।
 मैं हूँ “भाव” तथा “अभाव”...“भावाभाव” व “अभाव भाव”।
 मैं हूँ “क्रिया” मैं हूँ “कर्म”...मैं हूँ “कर्ता” मैं हूँ “करण”।।
 “सम्प्रदान” व “अपादान” मैं हूँ...“अधिकरण” व “सम्बन्ध” मैं हूँ।
 “अस्तित्व” “वस्तुत्व” “प्रमेयत्व” मैं हूँ...“ज्ञाता” “ज्ञेय” “उपादेय” मैं हूँ।।
 “सच्चिदानन्द” “ब्रह्मरूप” हूँ...“ज्ञानानन्द” सिद्ध स्वरूप हूँ।
 देव मानव व नारकी तिर्यच...कर्मजनित व शुद्ध स्वरूप।।
 नीलवर्ण नहीं आकाशरूप...कर्मजनित नहीं मम स्वरूप।
 राजा-महाराजा व चक्री वैभव...कर्मजनित है जड़ स्वभाव।
 मेरा वैभव है चैतन्य भाव...अनन्त अविनाशी आत्म-वैभव।
 इसी हेतु चक्री बनते मुनि...आत्म-वैभव हेतु बनते ध्यानी।।
 मैं भी इसका ही करता ध्यान...आत्म-वैभव इच्छुक ‘कनक’ मुनि।
 निश्चय-व्यवहार दृष्टि से

सूक्ष्म व्यापक आध्यात्मिक 12 अनुचिन्तन

(बहुरागीय द्वादशानुप्रेक्षा...)

सतत अनुप्रेक्षा चिन्तनीय...आत्म विशुद्धि करणीय...

राग-द्वेष-मोह त्यजनीय...समता भाव सेवनीय...

1. कर्मजनित भाव अस्थिर...शुद्धात्मा भाव है स्थिर...

- उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्य...चैतन्य भाव सदा ध्रौव्य...
2. गुणपर्यायमय होते द्रव्य...द्रव्य में ही होते गुणपर्याय...
स्वात्म द्रव्य ही स्व शरण...अन्य सब होते अशरण...
 3. संसरणमय होता (है) संसार...कर्मजनित दशा है संसार...
शुभाशुभ कर्म है संसार...शुभाशुभ परे है असंसार...
 4. हर द्रव्य स्वतंत्र है मौलिक...स्व-आत्म द्रव्य भी मौलिक...
कर्ता भोक्ता हर्ता/(धर्ता) स्वभाव का...शुभाशुभ शुद्ध भाव का...
 5. एक स्थान अवगाही होते द्रव्य...अन्योन्य प्रवेश भी होते द्रव्य...
परस्पर उपकारी होते द्रव्य...तथापि स्वतंत्र है आत्मद्रव्य...
 6. परम शुचि होता आत्म स्वभाव...राग-द्वेष-मोह अशुचि भाव...
कर्मजनित भाव होते अशुचि...सच्चिदानन्द भाव परम शुचि...
 7. संक्लेश भाव से होता आस्रव...शुद्ध भाव होते अनास्रव...
संसार भ्रमण होता आस्रव से...संसार विच्छेद शुद्ध भाव से...
 8. शुद्धात्म भाव से होता संवर...व्रत समिति गुप्ति से होता संवर...
संवर से होता कर्म निरोध...जिससे होता है दुःख निरोध...
 9. संवर पूर्वक होती निर्जरा...सविपाक व अविपाक निर्जरा...
अविपाक निर्जरा मोक्ष हेतुक...समता सहित तपस्या युक्त...
 10. कर्म से भ्रमण होता लोक में...ऊर्ध्व-मध्य-पाताल लोक में...
कर्मक्षय से लोकाग्रवास...जिसे कहते हैं सिद्ध निवास...
 11. बोधिलाभ है अति दुर्लभ...सत्ता-सम्पत्ति से संसार लाभ...
बोधि से मिले परिनिर्वाण...परम विकास है परिनिर्माण...
 12. धर्म होता है वस्तु स्वभाव...सच्चिदानन्द है आत्म स्वभाव...
रत्नत्रय दशविध है धर्म...धर्म से मिलता अनन्त शर्म...
आत्मचिन्तन से चिन्ता घटती...आत्मविशुद्धि समता आती...
संवर निर्जरा सह मोक्ष मिलता...‘कनक’ सदा चिन्तन करता...

‘पूर्वोक्त प्रकार से अनेकांत, अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों का ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है-समझा देता है’ इस अर्थ का काव्य कहा जाता है:-

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।

आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते।। (262)

भावार्थः—ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है परन्तु अनादिकाल से प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवाद का उपदेश सुनकर ज्ञानमान आत्मतत्त्व सम्बन्धी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवों को) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनेकान्त स्वरूपपना प्रगट करता है—समझाता है। यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके—अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वाद के उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती हैं। इसलिये हे प्रवीण पुरुषों! तुम ज्ञान को तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीति में लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है।

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।

अलंघयं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः।। (263)

भावार्थः—अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थिति को कहनेवाला है। कहीं किसी ने असत् कल्पना से वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिये हे निपुण पुरुषों! भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण से अनुभव कर देखो।

(प्रश्नः) आत्मा अनेकान्तमय है फिर भी यहाँ उसका ज्ञानमात्रता से क्यों व्यपदेश (कथन, नाम) किया जाता है? (यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है तथापि उसे ज्ञानमात्ररूप से क्यों कहा जाता है? ज्ञानमात्र कहने से तो अन्यधर्मों का निषेध समझा जाता है।)

(उत्तरः—) लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य को प्रसिद्धि करने के लिये आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है। आत्मा का ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान

आत्मा का असाधारण गुण है (अन्य द्रव्यों में ज्ञानगुण नहीं है)। इसलिये ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उसके लक्ष्य की आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

प्रश्न:- इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्धि करने योग्य है। (इसलिये लक्षण को प्रसिद्ध किये बिना मात्र लक्ष्य को ही आत्मा को ही प्रसिद्ध क्यों नहीं करते?)

(उत्तर:-) जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (अर्थात् जो लक्षण को नहीं जानता ऐसे अज्ञानी जन को) लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। (इसलिये अज्ञानी को पहले लक्षण बतलाते हैं उसके बाद वह लक्ष्य को ग्रहण कर सकता है।)

(प्रश्न:-) ऐसा कौनसा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उससे (ज्ञान से) भिन्न प्रसिद्ध होता है?

(उत्तर:-) ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है।

तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः प्रसिद्ध हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धे न प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा। ततो ज्ञानमात्राचलितखातया दृष्टया क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यद्यावलक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः।

(प्रश्न:-) तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिये किया गया है?

(उत्तर:-) प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्र को स्वसंवेदन से सिद्धपना है (अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है); वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान, तद्-अविनाभूत (ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मों का समुदायरूप मूर्ति आत्मा है। (ज्ञान प्रसिद्ध है; और ज्ञान के साथ जिनका अविनाभावी सम्बन्धी है ऐसे अनन्त धर्मों का समुदायस्वरूप आत्मा उस

ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यामान है।) इसलिये ज्ञानमात्र में अचलितपने से स्थापित दृष्टि के द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, तद्-अविनाभूत (ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्तधर्मसमूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब वास्तव में एक आत्मा है।

इसी कारण से यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है।

ननु क्रमाक्रमपृवत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वम्? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतः पातिन्योऽनंताः शक्तयः उत्प्लवन्ते। आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारण लक्षणा जीवत्वशक्तिः 1 अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः 2 अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः 3 साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः 4 अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः 5 स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः 6 अखंडितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः 7

सर्व भावव्यापकैक भावरूपा विभुत्वशक्तिः 8
 विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः 9
 विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः 10
 नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकार मेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः 11 स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः 12 क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्वशक्तिः 13 अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः 14 पशतमनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकासग्रहण ग्राहणस्वभावरूपा पसिम्यपरिणामकत्वशक्तिः 15 अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः 16

षट् स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारण विशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः 17 क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः 18

द्रव्यस्वभावभूतद्रव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः 19 कर्मबंधव्यपगमव्यजितसहजस्पर्शादिशून्यात्माप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः 20 सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकृतत्वशक्तिः। 21 सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः 22 सकलकर्मापरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः 23

आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिञ्चिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थित लोकाकाशसम्मितात्मावयत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः 24 सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः 25 स्वपरसमानासमानसामनासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः 26

विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्वशक्तिः 27 तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः 28 तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। 29 अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः 30 अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः 31 एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः 32 भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः 33 शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः 34 भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः 35 अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः 36 भवत्पर्यायभवनरूपा भावाभावशक्तिः 37 अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः 37 कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्त भवनमात्रमयी भावशक्तिः 38 कारकानुगतभवत्तारूप भावमयी क्रियाशक्तिः 40 प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः 41 भवत्तारूप सिद्धरूपभावभावकत्वमयी कृतृशक्तिः 42 भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः 43 स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः 44 उत्पादव्ययालिङ्गितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः 45 भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः 46 स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः 47

(प्रश्न:-) जिसमें क्रम और अक्रमसे प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रता किस प्रकार है?

(उत्तर:-) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय से परिणमित जो एक जाननक्रिया है उस जाननक्रियामात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिये) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्तःपातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेद से भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणामन रहता है। इसलिये आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिये ज्ञानमात्र भाव में-ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में अनन्त शक्ति उछलती हैं।) उनमें से कितनी ही शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं-

आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राण का धारण) करना जिसका लक्षण है ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भाव में-आत्मा उछलती है। अजडत्वस्वरूप चितिशक्ति (अजडत्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है ऐसी चितिशक्ति)। अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी-सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होने रूप दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।) साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।) अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुखशक्ति। स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्य वीर्यशक्ति। जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्य से (स्वीधनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्वशक्ति। सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।) समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से (अर्थात् सब पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करने रूप) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति। समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी

सर्वज्ञत्वशक्ति। अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।) स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट) ऐसी स्वसवेदनमयी (स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति। क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसी चिद्विलास स्वरूप (चैतन्य के विलासस्वरूप) असंकुचितविकाशत्वशक्ति। जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति। (जो अन्य का कार्य नहीं है और अन्य का कारण नहीं है ऐसा जो एक द्रव्य उस-स्वरूप अकार्यकारणत्व-शक्ति।) पर और सब जिनके निमित्त हैं ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने के और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणगम्यपरिणामकत्व शक्ति। (पर जिनके कारण है ऐसे ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के और स्व जिनका कारण है ऐसे ज्ञानाकारों को ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति।) जो कमबढ़ नहीं होता ऐसे स्वरूप में नियतत्वरूप (निश्चित्यता यथावत् रहनेरूप) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप से परिणमित, स्वरूप प्रतिष्ठत्व का कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप) ऐसा जो विशिष्ट (खास) गुण है उस-स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति। (इष्ट षट्स्थानपतित वृद्धिहानि का स्वरूप 'गोम्मटसार' ग्रन्थ से जानना चाहिये। अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट् स्थानों में पतित-समाविष्ट-वस्तुस्वभाव की वृद्धिहानि जिससे (जिस गुण से) होती है और जो (गुण) वस्तु को स्वरूप में स्थिर होने का कारण है ऐसा कोई गुण आत्मा में है; उसे अगुरुलघुत्व कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्व शक्ति भी आत्मा में है।) क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति। (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है।) द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिङ्गित (स्पर्शित), सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति। कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिशून्य (स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण से रहित) ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति। समस्त, कर्मों के द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्र भिन्न जो परिणाम उन परिणामों के कारण के उपरमस्वरूप

(उन परिमाणों को करने की निवृत्ति-स्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति। (जिस शक्ति से आत्मा ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्मों से किये गये परिणामों का कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मा में है)। समस्त, कर्मों से किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणाम के अनुभव की (भोक्तृत्व की) उपरमवस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति। समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप (अकम्पतास्वरूप) निष्क्रियत्वशक्ति। (जब समस्त कर्मों का अभाव हो जाता है तब प्रदेशों का कम्पन मिट जाता है इसलिये निष्क्रियत्व शक्ति भी आत्मा में है)। जो अनादि संसार से लेकर संकोचविस्तार से लक्षित है और जो चरम शरीर के परिमाण से कुछ न्यून परिमाण से अवस्थित होता है ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है ऐसी नियतप्रदेशत्वशक्ति। (आत्मा के लोक परिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही है)। वे प्रदेश संसार अवस्था में संकोचविस्तार को प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्था में चरम शरीर से कुछ कम परिमाण में स्थित रहते हैं। सर्व शरीरों में एकस्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति। (शरीर के धर्मरूप न होकर अपने अपने धर्मों में व्यापनेरूप शक्ति सो स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है)। स्व-पर के समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकार के भावों की धारणस्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति। विलक्षण (परस्पर भिन्न लक्षणयुक्त) अनन्त स्वभावों से भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्त धर्मत्वशक्ति। तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति। तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन चेतनरूप से रहता है-परिणमित होता है)। अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा तत्स्वरूप नहीं परिणमने रूप अतत्त्वशक्ति आत्मा में है)। इस शक्ति से चेतन जड़रूप नहीं होता। अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसी एकद्रव्यमयतारूप एकत्व। एक द्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें उसमयपने रूप अनेकत्वशक्ति। विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उसरूप भावशक्ति। शून्य (अविद्यमान) अवस्थायुक्ततारूप अभावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उस रूप अभाव शक्ति)। भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के व्ययरूप भावाभावशक्ति। नहीं

भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति। भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के भवनरूप भावभावशक्ति। नहीं भवते हुये (अप्रवर्तमान) पर्याय के अभवनरूप अभावाभाव शक्ति। (कर्ता, कर्म आदि) कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (होनेमात्रमयी) भाव शक्ति। कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूपी भावमयी क्रियाशक्ति। प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव उसमयी कर्मशक्ति। होनेपनरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति। भवते हुए (प्रवर्तमान) भाव के भवन के (होने के) साधकतमपनेमयी (उत्कृष्ट साधकत्वमयी, उग्र साधनत्वमयी) करणशक्ति। अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (उसे प्राप्त करके के योग्यपनामय, उसे लेने के पात्रपनामय) सम्प्रदान शक्ति। उत्पादव्यय से आलिङ्गित भाव का अपाय (हानि, नाश) होने से हानि को प्राप्त न होने वाले ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति। भाव्यमान (अर्थात् भाव में आते हुये) भावके-आधारत्वमयी अधिकरणशक्ति। स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति। (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है-ऐसे सम्बन्धीमयी सम्बन्धशक्ति।)

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि

यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं

तद्द्रव्यपर्यायमयं चिदिहास्ति वस्तु॥ (264)

भावार्थः—कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है इसलिये वह एक स्वरूप ही होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है फिर भी ज्ञान की जो कि असाधारणभाव है उसे-नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ-परिणाम-पर्याय ज्ञानमय ही हैं।

नेकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-

तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।

स्याद्वाद्दशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो

ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः॥ (265)

भावार्थः—जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तु स्थितिको देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके-जान करके जिनदेव के मार्ग को-स्याद्वाद न्याय को-उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं।

अब इसके (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) (उपेय अर्थात् प्राप्त करने योग्य, और उपाय अर्थात् प्राप्त करने योग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे। आत्मा का शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है, और मोक्षमार्ग उपाय है।)

उपाय-उपेयभाव विचारा जाता है (अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होतेहैं सो इसका विचार किया जाता है:-)

आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय-उपेयभाव (उपाय उपेयपना) है ही, क्योंकि वह एक होने पर भी स्वयं साधकरूप से और सिद्धरूप से दोनों प्रकार से परिणमित होता है। उसमें जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध-रूप है उपेय है। इसलिये, अनादिकाल से मिथ्यादर्शनज्ञान चारित्र द्वारा (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा) स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आरोहण कराये जाते इस आत्मा को, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप भेद हैं तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ तथा परम प्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय उससे प्रज्वलित (देदीप्यमान) हुवे जो अस्खलित विमल स्वभाव द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थः—यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यादर्शनज्ञान चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की वृद्धि की परम्परा से क्रमशः जब से स्वरूपानुभव करता है तबसे ज्ञान साधकरूप से परिणमित होता है, क्योंकि ज्ञान में निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं। निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के प्रारंभ से लेकर स्वरूपानुभव की वृद्धि करते करते जब तक निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता न हो, तब तक ज्ञान का साधक रूप से परिणमन है। जब निश्चय

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष होता है तब ज्ञान सिद्ध रूप से परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तु की उपाय-उपायेता को साधित करता है।

इस प्रकार दोनों में (उपाय तथा उपेय में) ज्ञानमात्र की अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है; इसलिये सदा अस्खलित एक वस्तु का (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का) निष्कम्प ग्रहण करने से, मुमुक्षुओं को, कि जिन्हें अनादि संसार से भूमिका की प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है; फिर उसी में नित्य मस्ती करते हुए (लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक अन्त की (अनेक धर्म की) मूर्तियाँ है वे-साधकभाव से उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्ष की (कोटि=अन्तिमता; उत्कृष्टता; ऊँचे में ऊँचे बिन्दु; हृद।) कोटिरूप-सिद्धिभाव के भाजन होते हैं। परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं ऐसे एक ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भाव का स्वरूप से अभवन और पररूप से भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में परिभ्रमण ही करते हैं।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां

भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।

ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा

मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ (266)

भावार्थः—जो भव्य पुरुष, गुरु के, उपदेश से अथवा स्वयमेव काललब्धि को प्राप्त करके मिथ्यात्व से रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं; वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र-निजको प्राप्त नहीं करते, वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां

यो भावयत्यरहरहः स्वमिहोपयुक्तः।

ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री

पात्रीकृतः श्रयति भूमिममां स एकः॥ (267)

भावार्थः—जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुष को इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो क्रियानय को ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभकर्म से संतुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो पुरुष अनेकान्तमय आत्मा को जानता है (अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है (रागादिक अशुद्ध परिणति का त्याग करता है), और इस प्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिका का आश्रय करनेवाला है।

ज्ञाननय और क्रियानय के ग्रहण-त्याग का स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय संग्रह' ग्रन्थ के अन्त में कहा है, वहाँ से जानना चाहिये।

चित्पिण्डचंडिमविलासिविकासहासः।

शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।

आनंदसुस्थितसदास्वखिलैकरूप-

स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा॥ (268)

भावार्थः—यहाँ 'चित्पिण्ड' इत्यादि विशेषणों से अनन्तदर्शन का प्रगट होना, शुद्ध प्रकाश, इत्यादि विशेषण से अनन्तज्ञान का प्रगट होना, 'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषण से अनन्त सुख का प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्य का प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमि का आश्रय लेने से ही ऐसे आत्मा का उदय होता है।

स्याद्वाददौपितलसन्महसि प्रकाशे

शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।

किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-

नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः॥ (269)

भावार्थः—स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा

का प्रगट होना है। इसलिये मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि-मेरा पूर्ण-स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्धमोक्षमार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या काम है?

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा

सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।

तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-

मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि।। (270)

भावार्थः-आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक एक शक्ति का ग्राहक एक एक नय है; इसलिये यदि नयों की एकान्त दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाये ऐसा होने से स्याद्वादी, नयों का विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तु को अनेकशक्तिसमूहरूप, सामान्यविशेषरूप, सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।

(न द्रव्येण खंडयामि, न क्षेत्रेण खंडयामि, न कालेन खंडयामि, न भावेन खंडयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।)

(ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि-) मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूँ; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।

भावार्थः-यदि शुद्धनय से देखा जाये तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भेद दिखाई नहीं देता। इसलिये ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।

ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गुन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः।। (271)

भावार्थः-ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है। और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार रूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे ज्ञान तरंगों ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इस प्रकार स्वयं

ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है। और स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-इन तीनों भावों से युक्त सामान्यविशेष स्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है।

कचिहसति मेचकं कचिन्मेचकामेचकं

कचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।

तथापि न विमोहहयत्यमलमेधसां तन्मनः

परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥ (272)

भावार्थः—आत्मतत्त्व अनेक शक्तियों वाला होने से किसी अवस्था में कर्मोदय के निमित्त से अनेकाकार अनुभव में आता है; किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल के कारण भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता।

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-

मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।

इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-

रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥ (273)

भावार्थः—पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है और दृष्टि से देखने पर एकरूप; क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है और सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर ध्रुव; ज्ञान की अपेक्षावाली सवंगतदृष्टि से देखने पर परम विस्तार को प्राप्त दिखाई देता है और प्रदेशों की अपेक्षावाली दृष्टि से देखने पर अपने प्रदेशों में ही व्याप्त दिखाई देता है। ऐसा द्रव्यपर्यायात्मक अनन्तधर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। वह (स्वभाव) अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भवसी बात है! यद्यपि ज्ञानियों का वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है, और इसलिए आश्चर्य भी होता है।

कषायकलिरेकतः स्वलति शांतिरस्त्येकतो
 भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
 जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
 स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥ (274)

भावार्थः—यहाँ भी 273 वे श्लोक के भावार्थनुसार ही जानना चाहिये। आत्मा का अनेकांतमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियों को भारी आश्चर्य होता है। उन्हें इस बात में विरोध भासित होता है। वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभाव की बात को अपने चित्त में न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं। यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्था में उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि- 'अहो! यह जिनवचन महा उपकारी है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने वाले हैं, मैंने अनादिकाल ऐसे यथार्थ स्वरूप के बिना ही व्यतीत कर दिया है।' वे इस प्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान कर रहे हैं।

जयति सहजतेजःपुंजमज्जत्रिलोकी-
 स्वलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
 स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
 प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः॥ (275)

श्लोकार्थः—(सहजः तेजः पुञ्च-मज्जत्-त्रिलोकी-स्वलत्-अखिल-विकल्पः अपि एकः एव स्वरूपः) सहज (अपने स्वभावरूप) तेजः पुञ्ज में त्रिलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं इसलिये जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं इसलिये जो अनेक ज्ञेयाकार रूप दिखाई देता है तथापि जो चैतन्यमय ज्ञानाकार की दृष्टि में एकस्वरूप ही है), **स्व-रस-विसर-पूर्ण-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भः** जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अच्छिन्न तत्त्वोपलब्धि है (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म का अभाव हो जाने से जिसमें स्वरूपानुभव का अभाव नहीं होता) (**प्रसभ-नियमित-अर्चिः**) और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्तवीर्य से निष्कम्प रहता है) (**एषः चित्-चमत्कारः जयति**) ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्य

चमत्कार जयवन्त वर्तता है। (किसी से बाधित नहीं किया जा सकता ऐसा सर्वोत्कृष्ट विद्यमान है)।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथन में जो चैतन्यचमत्कार का सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मङ्गल है।)

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-

न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्॥

उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंता-

ज्वलतु विमलपूर्ण निःसपत्नस्वभावम्॥ (276)

भावार्थः—जिसका न तो मरण होता है और न जिससे दूसरे का नाश होता है वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट (मीठा) होता है उसे लोग रूढ़ि से अमृत कहते हैं। यहाँ ज्ञान को-आत्मा को अमृतचन्द्रज्योति (अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समाप्त करने पर 'वत् का लोप होकर अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है।

(यदि 'वत्' न रखकर 'अमृतचन्द्ररूप ज्योति' अर्थ किया जाय तो भेदरूपक अलङ्कार होता है। और 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ही आत्मा का नाम कहा जाय तो अभेदरूपक अलङ्कार होता है।)

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांध-कारका दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाया है, और 'समंतात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्वकाल में प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है।

इस श्लोक में टीकाकार आचार्य देव ने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है। समास बदलकर अर्थ करने से 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्रज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं जो कि यथासंभव जानने चाहिये।

मेरी अनन्तशक्ति से मेरा अस्तित्व शाश्वत

(मेरे ही समान समस्त जीव व समस्त द्रव्यों में अनन्तशक्ति होने से
वे भी अनादि अनन्त/अविनाशी/ शाश्वत)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल-1.यमुना किनारे... 2.दुनिया में रहना है तो... 3.तुम दिल की...)

यदि मुझमें न होती शक्तिअनन्त, अनादि अनन्त तक न होता अस्तित्व।

अनन्त पंचपरिवर्तन में अस्तित्व, चौरासीलक्षयोनियों में अस्तित्व॥ (1)

नरक में भूख-प्यास सर्दी-गरमी में, नाश न हुआ मेरा मरना-मारना में/(से)।

छेदन-भेदन न जलना-जलाना, अनेक बार हुआ तथापि अस्तित्ववान्॥ (2)

मुझमें अनन्त अस्तित्व तथाहि वस्तुत्व, अनन्त जीवत्व और भी प्रभुत्व, विभुत्व।

अनन्तवीर्यशक्ति व असंकुचितविकास, अकार्यकारणशक्ति, परिणम्य-परिणामकत्व॥ (3)

त्याग-उपादान शून्यत्व, अगुरुलघुत्व, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व, परिणामकत्व।

नियतप्रदेशकत्व, सर्वधर्मव्यापकत्व, अनन्तधर्मत्वशक्ति, विरुद्धधर्मत्व॥ (4)

तथाहि मुझमें है अनन्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म, अपरिग्रह/(आकिञ्चन्य) धर्म।

क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-संयम, समता-शान्ति-तृप्ति आदि आत्मिक धर्म॥ (5)

तत्त्व, अतत्त्व व एकत्व, अनेकत्व, भाव, अभाव, भावाभाव, अभाव भाव।

क्रिया, कर्म,कर्त्ताकरण, सम्प्रदान, उपादान, अधिकरण, सम्बन्ध अनन्त॥ (6)

तथाहि मुझमें अनन्तज्ञानदर्शनसुख, विद्यमान होने से उसे पाना है लक्ष्य।

चक्री तक अतः अनन्तशक्ति प्राप्ति हेतु, राज्यवैभव त्यागकर बनते साधु॥ (7)

तथाहि हर जीव चाहते सुख सम्पृद्धि, निर्जीवों में ऐसी न होती प्रवृत्ति।

निर्जीव द्रव्यों में भी अनन्तशक्ति, जिसके कारण से अजीवों में स्थिति॥ (8)

मेरे सम समस्त जीवों की शक्ति, सभी जीव एक सम है द्रव्यदृष्टि।

यह है परम आध्यात्मिक सम्यग्दृष्टि, 'कनक' का लक्ष्य अनन्तशक्ति प्राप्ति॥ (9)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा, दि-23/02/2021, रात्रि-9.07

संदर्भ-

अनेकान्तात्मक वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।

बहु-धम्म-जुदं अत्थं कज्ज-करं दीसदे लोए।। (225) स्वा.अ.

जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही नियम से कार्यकारी है; क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है।

अनेक धर्मात्मक वस्तु ही कोई कार्य कर सकती है। इसी से पूज्यपाद स्वामी ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण का प्रथम सूत्र 'सिद्धिरनेकान्तात्' रखा है। जो बतलाता है कि किसी भी कार्य की सिद्धि अनेकान्त से हो सकती है। उदाहरण के लिये जो वादी वस्तु को नित्य अथवा क्षणिक ही मानते हैं, उनके मत में अर्थक्रिया नहीं बनती। कार्य करने के दो ही प्रकार हैं-एक क्रम से और एक एक-साथ। नित्यवस्तु क्रम से काम नहीं कर सकती; क्योंकि सब कार्यों को एक साथ उत्पन्न करने की उनमें सामर्थ्य है। यदि कहा जाये कि सहायकों के मिलने पर नित्य पदार्थ कार्य करता है और सहायकों के अभाव में कार्य नहीं करता तो इसका यह अर्थ हुआ कि पहले वह नित्य पदार्थ कार्य करने में असमर्थ था, पीछे सहकारियों के मिलने पर समर्थ हुआ। तो असमर्थ स्वभाव को छोड़कर समर्थ स्वभाव को ग्रहण करने के कारण वह सर्वथा नित्य नहीं रहा। सर्वथा नित्य तो वही हो सकता है जिसमें कुछ भी परिवर्तन न हो। यदि वह नित्य पदार्थ एक साथ सब काम कर लेता है तो प्रथम समय में ही सब काम कर लेने से दूसरे समय में उसके करने का कुछ भी काम शेष न रहेगा। और ऐसी अवस्था में वह असत् हो जायेगा; क्योंकि सत् वही है जो सदा कुछ न कुछ किया करता है। अतः क्रम से और एक साथ काम न कर सकने से नित्य वस्तु में अर्थक्रिया नहीं बनती। इसी तरह से जो वस्तु को पर्याय की तरह सर्वथा क्षणिक मानते हैं उनके मत में भी अर्थक्रिया नहीं बनती। क्योंकि क्षणिक वस्तु तो क्रम से कार्य नहीं कर सकती; क्योंकि क्षणिक तो एक क्षणिकवर्ती होता है, अतः वहाँ क्रम बन ही कैसे सकता है? क्रम से तो वही कार्य कर सकता है जो कुछ क्षणों तक ठहर सके। और यदि वह कुछ क्षणों तक ठहरता है तो वह क्षणिक नहीं रह सकता। इसी तरह क्षणिक वस्तु एक साथ भी काम नहीं कर सकती, क्योंकि वैसे होने से कारण के रहते हुए ही

कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी तथा उस कार्य के कार्य की भी उत्पत्ति उसी क्षण में हो जायेगी। इस तरह सब गड़बड़ हो जायेगा। अतः वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानना ही उचित है। तभी वस्तु अर्थक्रियाकारी बन सकती है।

सर्वथा एकान्त रूप वस्तु कार्यकारी नहीं

एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण करेदि लेस-मेत्तं पि।

जं पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं।। (226)

एकान्त स्वरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता और जो कार्य नहीं करता उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है।

यदि जीवादि वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा सत् या सर्वथा भिन्न, अथवा सर्वथा एक या सर्वथा अनित्य आदि एकान्त रूप हो तो वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकती और जो कुछ भी कार्यकारी नहीं उसे वस्तु या द्रव्य कैसे कहा जा सकता है; क्योंकि जो कुछ न कुछ भी कार्यकारी है, वही वास्तव में सत् है। सत् का लक्षण ही अर्थक्रिया है। अतः जो कुछ भी काम नहीं करता वह गधे के सींग की तरह अवस्तु ही है। कहा भी है-‘दुर्नय के विषयभूत एकान्त रूप पदार्थ वास्तविक नहीं है, क्योंकि दुर्नय केवल स्वार्थिक हैं, वे अन्य नयों की अपेक्षा न करके केवल अपनी पुष्टि करते हैं, और जो स्वार्थिक अतएव विपरीत होते हैं वे नय सदोष होते हैं।’ इसका खुलासा इस प्रकार है। यदि वस्तु को सर्वथा एकान्त से सद्व्य माना जायेगा तो संकर आदि दोषों के आने से नियत अर्थ की व्यवस्था नहीं बनेगी। अर्थात् जब प्रत्येक वस्तु सर्वथा सत् स्वरूप मानी जायेगी तो वह सब रूप होगी। और ऐसी स्थिति में जीव, पुद्गल आदि के भी परस्पर में एक रूप होने से जीव पुद्गल का भेद ही समाप्त हो जायेगा। इसी तरह जीव, जीव और पुद्गल, पुद्गल का भेद भी समाप्त हो जायेगा तथा वस्तु को सर्वथा असद्व्य मानने से समस्त संसार शून्यरूप हो जायेगा। इसी तरह वस्तु को सर्वथा नित्य मानने से वह सदा एकरूप रहेगी और सदा एकरूप रहने से अर्थक्रिया नहीं कर सकेगी तथा अर्थक्रिया न करने से वस्तु का अभाव हो जायेगा। वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानने से दूसरे क्षण में ही वस्तु का सर्वथा विनाश हो जाने से वह कोई कार्य कैसे कर सकेगी और कुछ भी कार्य न कर सकने से वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसी तरह वस्तु को सर्वथा एक रूप मानने पर

उसमें विशेष धर्म का अभाव हो जायेगा, क्योंकि वह सर्वथा एक रूप है और विशेष धर्म का अभाव होने से सामान्य धर्म का भी अभाव हो जायेगा; क्योंकि बिना विशेष के सामान्य गधे के सींग की तरह असत् है और न बिना सामान्य के विशेष रह सकता है और न बिना विशेष के सामान्य रह सकता है। अतः दोनों का ही अभाव हो जायेगा तथा वस्तु को सर्वथा अनेक रूप मानने पर द्रव्य का अभाव हो जायेगा; क्योंकि उस अनेक रूपों का कोई आधार आप नहीं मानते तथा आधार और आधेय का ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि सामान्य के अभाव में विशेष और विशेष के अभाव में सामान्य नहीं रह सकता। सामान्य और विशेष में सर्वथा भेद मानने पर निराधार होने से विशेष कुछ क्रिया नहीं कर सकेंगे और कुछ भी क्रिया नहीं करने पर द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा। सर्वथा अभेद मानने पर सब एक हो जायेंगे, और सबके एक हो जाने पर अर्थक्रिया नहीं बनती। अर्थक्रिया के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा। इस प्रकार सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक, सर्वथा अनेक, सर्वथा भेद सर्वथा अभेदरूप एकान्तों के स्वीकार करने पर वस्तु में अर्थक्रिया नहीं बन सकती तथा आत्मा को सर्वथा अचेतन मानने से चैतन्य का अभाव हो जायेगा। सर्वथा मूर्त मानने से उसे कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा। सर्वथा अमूर्त मानने से संसार का अभाव हो जायेगा। सर्वथा अनेक प्रदेशी मानने से आत्मा में अर्थक्रिया कारित्व नहीं बनेगा; क्योंकि उस अवस्था में घट पट की तरह आत्मा के प्रदेश भी पृथक्-पृथक् हो सकेंगे और इस तरह आत्मा स्वभावशून्य हो जायेगा तथा आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने से कभी वह कर्म मल से लिप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह सर्वथा निर्मल है। इन कारणों से सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है।

सर्वथा नित्य में अर्थक्रिया का अभाव

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव।

णो उप्पज्जेदि सया एवं कज्जं कहं कुणदि।। (227)

परिणाम से रहित नित्य द्रव्य न तो कभी नष्ट हो सकता है और न कभी उत्पन्न हो सकता है। ऐसी अवस्था में वह कार्य कैसे कर सकता है।

यदि वस्तु को सर्वथा ध्रुव माना जायेगा तो उसमें उत्पाद और व्ययरूप पर्याय

नहीं हो सकेंगी और उत्पाद तथा व्यय के न होने से वह वस्तु कभी नष्ट नहीं होगी। यदि इसकी पूर्व पर्याय का विनाश माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगी। इसी तरह उस वस्तु में कभी भी नवीन पर्याय उत्पन्न नहीं होगी। यदि होगी तो वह नित्य नहीं ठहरेगी और पूर्व पर्याय का विनाश तथा उत्तर पर्याय की उत्पत्ति न होने से वह वस्तु कुछ भी कार्य न कर सकेगी; क्योंकि कुछ भी कार्य करने से वस्तु में परिणमन अवश्य होगा और परिणमन के होने से वस्तु सर्वथा नित्य नहीं रहेगी। अतः नित्य वस्तु में अर्थक्रिया संभव नहीं है।

क्षणिक वस्तु में अर्थक्रिया नहीं

पञ्जय-मित्तं तच्चं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।

अण्णइ-दब्बं-विहीणं ण य कज्जं पि साहेदि।। (228)

क्षण-क्षण में अन्य-अन्य होने वाला पर्याय मात्र विनश्वर तत्त्व, अन्वयी द्रव्य के बिना कुछ भी कार्य नहीं कर सकता।

यदि नाना पर्यायों में अनुस्यूत एक द्रव्य को न मानकर केवल पर्याय मात्र को ही माना जायेगा अर्थात् मति ज्ञानादि पर्यायों को ही माना जाये और जीव द्रव्य न माना जाये, या मिट्टी को न माना जाये और स्थास, कोश, कुसूल, घट, कपाल आदि पर्यायों को ही माना जाये तो बिना जीव द्रव्य के मत्यादि पर्याय और बिना मिट्टी के स्थास आदि पर्याय हो कैसे सकती है? इसी से आप्तमीमांसा में कहा है कि नाना पर्यायों में अनुस्यूत एकत्व को न मानने पर सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, पुनर्जन्म वगैरह कुछ भी नहीं बन सकता। इसका खुलासा इस प्रकार है-एक वस्तु की क्रम से होने वाली पर्यायों की परम्परा का नाम संतान है। जब एकत्व को नहीं माना जायेगा तो एक संतान कैसे बन सकेगी? जैसे एकत्व परिणाम को न मानने पर एक स्कन्ध के अवयवों का समुदाय नहीं बन सकता वैसे ही सदृश परिणामों में एकत्व को न मानने पर उनमें साधर्म्य भी नहीं बन सकता। इसी प्रकार इस जन्म और परजन्म में रहने वाले एक आत्मा को न मानने पर पुनर्जन्म नहीं बनता तथा देन-लेन का व्यवहार भी एकत्व के अभाव में नहीं बन सकता है; क्योंकि जिसने दिया और जिसने लिया, वे दोनों तो उसी क्षण नष्ट हो गये, तब

न कोई देने वाला रहा और न कोई लेने वाला रहा। अतः नित्यैकान्त की तरह क्षणिकैकान्त में भी अर्थक्रिया नहीं बनती।

अनेकान्त में कार्य कारण भाव

णवणव-कज्ज-विसेसा तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणां।

एक्केक्कम्मि य समये पुव्वत्तर-भावमासिज्ज।। (229)

वस्तु में तीनों ही कालों में प्रतिसमय पूर्व और उत्तर परिणाम की अपेक्षा नये-नये कार्य विशेष होते हैं। वस्तु को सर्वथा क्षणिक और सर्वथा नित्य न मानकर परिणामी नित्य मानने से कार्यकारण भाव अथवा अर्थक्रिया बनती है; क्योंकि वस्तुस्वरूप से ध्रुव होते हुए भी वस्तु में प्रतिसमय एक पर्याय नष्ट होती है और एक पर्याय पैदा होती है। इस तरह पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद प्रति समय होते रहने से नये-नये कार्य (पर्याय) होते रहते हैं।

पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाम से युक्त

द्रव्य में कार्य कारण भाव

पुव्व परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं।

उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा।। (230)

पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य नियम से कारण रूप होता है और वही द्रव्य जब उत्तर परिणाम से युक्त होता है, तब नियम से कार्यरूप होता है।

अनेकान्तरूप एक ही द्रव्य में कार्यकारण भाव नियम से बनता है। पूर्व परिणाम से युक्त वही द्रव्य कारण होता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड पर्याय कारण रूप होती है और वही द्रव्य जब उत्तर पर्याय से युक्त होता है तो कार्यरूप होता है। जैसे घट पर्याय से युक्त वही मिट्टी पूर्व पर्याय का कारण होने से कार्यरूप है, क्योंकि मृत्पिण्ड घट कार्य का उपादान कारण होता है। इस प्रकार अनेकान्तरूप परिणामी नित्य द्रव्य में कार्यकारण भाव नियम से बन जाता है।

अनादिनिधन जीव में कार्यकारण भाव

जीवो आणाइ-णिहणो परिणममाणो हु णव णवं भावं।

सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा।। (231)

जीव द्रव्य अनादिनिधन है, किन्तु वह नवीन-नवीन पर्यायरूप परिणामन करता हुआ प्रथम तो अपनी सामग्रीयुक्त होता है, पीछे कार्यों को करता है।

जीव द्रव्य अनादि और अनन्त है अर्थात् न उसकी आदि है और न अन्त है। परन्तु अनादि होते हुए भी वह सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु उसमें प्रतिसमय नई-नई पर्याय उत्पन्न होती रहती है। नई-नई पर्यायों को उत्पन्न करने के लिये प्रथम वह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदि रूप सामग्री से युक्त होता है फिर नई-नई पर्यायों को उत्पन्न करता है। जैसे कोई जीव देव पर्याय रूप परिणामन करने के लिये पहले समीचीन व्रतों का धारण, सामायिक, धर्मध्यान आदि सामग्री को अपनाता है, पीछे वर्तमान पर्याय को छोड़कर देवपर्याय धारण करता है। कोई जीव नारकी अथवा तिर्यच पर्यायरूप परिणामन करने के लिये पहले सात व्यसन, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, मायाचार कपट छल छद्म आदि सामग्री को अपनाता है पीछे नारकी अथवा तिर्यच पर्याय धारण करता है। इस प्रकार अनादिनिधन जीव में भी कार्यकारण भाव बन जाता है।

स्व चतुष्टय युक्त जीव कार्य करता

ससरूत्वथो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि।

खेत्ते एक्कम्मि ठिदो णिय-दव्वे संठिदो चेव।। (232)

स्वरूप में स्वक्षेत्र में, स्वद्रव्य में और स्वकाल में स्थित जीव है, अपने पर्यायरूप कार्य को करता है।

जो इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों से या सुख सत्ता चैतन्य और ज्ञानरूप भाव प्राणों से जीता है, जिया था अथवा जियेगा उसे जीव कहते हैं। वह जीव नवीन नवीन नर नारक आदि रूप वर्तमान पर्याय का और 'अपि' शब्द से अतीत और अनागत पर्यायों का कर्ता है। अर्थात् वह स्वयं ही अपनी पर्यायों को उत्पन्न करता है, किन्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में स्थित होकर ही जीव अपनी पर्यायों को उत्पन्न करता है। अर्थात् अपने चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य में स्थित जीव ही अपने कार्य को करता है, आत्मान्तर में स्थित हुआ जीव स्वकार्य को नहीं करता। अपनी आत्मा से अवष्टब्ध क्षेत्र में स्थित जीव ही स्वकार्य को करता है, अन्य क्षेत्र में स्थित जीव स्वकार्य को नहीं करता। अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता आदि स्वरूप में स्थित जीव

ही अपनी पर्याय को करता है, पुद्गल आदि स्वभावन्तर में स्थित जीव अपनी पर्याय को नहीं करता तथा स्वकाल में वर्तमान जीव ही अपनी पर्याय को करता है, परकाल में वर्तमान जीव स्वकार्य को नहीं करता। आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु का वस्तुपना दो बातों पर निर्भर है-एक वह स्वरूप को अपनाये, दूसरे वह परवस्तु को न अपनाये। इन दोनों के बिना वस्तु का वस्तुत्व कायम नहीं रह सकता। जैसे, स्वरूप की तरह यदि पररूप से भी वस्तु को सत् माना जायेगा तो चेतन अचेतन हो जायेगा तथा पररूप की तरह यदि स्वरूप में भी वस्तु को असत् माना जायेगा तो वस्तु सर्वथा शून्य हो जायेगी। स्वद्रव्य की तरह परद्रव्य से भी यदि वस्तु को सत् माना जायेगा तो द्रव्यों की निश्चित संख्या नहीं रहेगी तथा परद्रव्य की तरह स्वद्रव्य की अपेक्षा भी यदि वस्तु को असत् माना जायेगा तो सब द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे तथा स्व क्षेत्र की तरह पर क्षेत्र में भी यदि वस्तु को सत् माना जायेगा तो किसी वस्तु का प्रतिनियत क्षेत्र नहीं रहेगा और पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी यदि वस्तु असत् माना जायेगा तो वस्तु निःक्षेत्र हो जायेगी तथा स्व काल की तरह परकाल से भी यदि वस्तु से को सत् माना जायेगा तो किसी वस्तु का प्रतिनियत क्षेत्र नहीं रहेगा और परकाल की तरह स्वकाल से भी यदि वस्तु को असत् माना जायेगा तो वस्तु किसी भी काल में नहीं रहेगी। अतः प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में स्थित रहकर ही कार्यकारी होती है। सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु चार भागों में विभाजित है। वे चार भाग हैं-द्रव्य, द्रव्यांश, गुण और गुणांश। (इन चारों की विशेष चर्चा के लिये पंचाध्यायी पढ़ना चाहिये। अनु.) अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड को तो द्रव्य कहते हैं। उस अखण्ड पिण्डरूप द्रव्य की प्रदेशों की अपेक्षा जो अंश कल्पना की जाती है उसे द्रव्यांश कहते हैं। द्रव्यों में रहने वाले गुणों को गुण कहते हैं और उन गुणों के अंशों को गुणांश कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में ये चार बातें होती हैं। इनको छोड़कर वस्तु और कुछ भी नहीं है।

इन्हीं चारों की अपेक्षा एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् मानी जाती है, इन्हीं को स्वचतुष्टय कहते हैं। स्वचतुष्टय से स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव लिये जाते हैं। अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड रूप जो द्रव्य है, वही स्वद्रव्य है। वह द्रव्य अपने जिन प्रदेशों में स्थित है, वही उसका स्वक्षेत्र है। उसमें रहने वाले गुण ही उसका

स्वभाव है और उन गुणों की पर्याय ही स्वकाल है। अर्थात् द्रव्य, द्रव्यांश गुण और गुणांश ही वस्तु के स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव है। वस्तु का स्वद्रव्य उसके अनन्त गुण रूप अखण्ड पिण्ड के सिवा दूसरा नहीं है। वस्तु का क्षेत्र उसके प्रदेश ही है, न कि वह जहाँ रहती है। उस वस्तु के गुण ही उसका स्वभाव है और उन गुणों की कालक्रम से होने वाली पर्याय ही उसका स्वकाल है। प्रत्येक वस्तु का यह स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न है। इस स्वचतुष्टय में स्थित द्रव्य ही अपनी-अपनी पर्यायों को करता है।

पररूप में स्थित जीव कार्य नहीं करता

स-सरूवत्थो जीवो अण्ण-सरूवम्मि गच्छदे जदि हि।

अण्णोण्ण-मेलणादो एक्क-सरूवं हवे सव्वं।। (233)

यदि स्वरूप में स्थित जीव परस्वरूप में चला जावे तो परस्पर में मिल जाने से सब द्रव्य एक स्वरूप हो जायेंगे।

यदि अपने चेतन्य स्वरूप में स्थित जीव चैतन्य स्वरूप को छोड़कर पुद्गल आदि द्रव्यों के अचेतन स्वरूप हो जायें अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव को अपना लें तो सब द्रव्यों का कोई निश्चित स्वरूप न होने से सब एकरूप हो जायेंगे। चेतन द्रव्य अचेतन रूप हो जायेगा और अचेतन द्रव्य चेतनरूप हो जायेगा और ऐसा होने से जब सब वस्तु सब रूप हो जायेंगी और किसी वस्तु का कोई विशेष धर्म नहीं रहेगा तो किसी मनुष्य से यह कहने पर कि 'दही खाओ' वह ऊँट को भी खाने को दौड़ पड़ेगा; क्योंकि उस अवस्था में दही और ऊँट में कोई भेद नहीं रहेगा। अतः स्वरूप में स्थित वस्तु ही कार्यकारी है।

अनेकमेकंचतदेवतत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।

मृषोपचारोऽन्यतरस्यलोपेतच्छेषलोपोऽपिततोऽनुपाख्यम्।। (2) स्व.सो.

वही सुयुक्तिनीत तत्त्व अनेक तथा एक रूप हैं। निश्चय से अनेक को विषय करने वाला यह भेदज्ञान और एक को विषय करने वाले यह अन्वयज्ञान यथार्थ हैं। इनमें से किसी एक को उपचार रूप कल्पित मानना मिथ्या है, क्योंकि दो में से किसी एक का लोप अभाव होने पर उससे शेष अन्य धर्म का भी अभाव हो जाता है और

दोनों का अभाव हो जाने से तत्त्व निःस्वभाव होने से अवाच्यहो जाता है।

जीवादि तत्त्व सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है। तत्त्व के इन दोनों अंशों को ग्रहण करने के लिये जैनागम में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस तरह दो नय स्वीकृत किये गये हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीव तत्त्व आदि के भेद से अनेक रूप हैं, परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर तथा बाल कुमार आदि बाह्य रूपों में यह वही है, इस तरह एकत्व की प्रतीति होने से तत्त्व एक रूप है। तत्त्व की यह द्विविधता सत्य है, इसलिये उसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान भी सत्य है।

सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिःखेनास्तिपुष्पंतरुषुप्रसिद्धम्।

सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणंस्ववाग्विरुद्धंतवदृष्टितोऽन्यत्॥ (3)

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अपेक्षा सद् रूप जीवादि पदार्थ के किसी अपेक्षा परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अपेक्षा सद् रूपता है जैसे कि फूल वृक्षों पर प्रसिद्ध और आकाश में नहीं है। यदि तत्त्व को सत्त्व और ससत्त्व-दोनों प्रकार के स्वभाव से च्युत माना जावेगा तो वह प्रमाण रहित हो जावेगा। हे भगवन्! तुम्हारे दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शन स्ववाणी से विरुद्ध है अर्थात् स्ववचनबाधित हैं।

पदार्थ में सत्, असत्, एक, अनेक भेद, अभेद आदि अनेक विरोधी धर्म अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। उनमें यहाँ मात्र सत् धर्म की द्विविध रूपता का वर्णन किया गया। संसार का प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत्ता रूप है, विद्यमान है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अपेक्षा असत् रूप है, अविद्यमान है। यहाँ दृष्टान्त है कि जिस प्रकार फूल का अस्तित्व वृक्ष पर है अर्थात् वृक्षाधिकरण की अपेक्षा फूल अस्ति रूप है, परन्तु आकाश फूल नहीं है अर्थात् आकाशाधिकरण की अपेक्षा फूल अस्ति रूप नहीं है। इस तरह पदार्थ में परस्पर विरोधी सदसद्भाव सद्-असद् रूपता स्वभाव से ही विद्यमान है परन्तु एक सत्ता ही के अद्वैत को स्वीकृत करने वाले लोग असत्त्व के पक्ष का निषेध करते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका ऐसा मानना अप्रमाण है, क्योंकि जब दोनों धर्मकथंचित्-विवक्षा भेद से परस्पर अविनाभूत है तब एक का अभाव मानने पर दूसरे का अभाव स्वयं हो जायेगा और इस स्थिति में प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का अपलाप करना 'मेरी माता बन्ध्या है' इस वाक्य के समान स्ववचन बाधित होने से अप्रमाण-प्रमाण रहित माना जायेगा।

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रिया कारक मत्र युक्तम्।

नैवासतो जन्म सतो ननाशो दीपस्तमः पुद्गल भावतोऽस्ति।। (4)

सब प्रकार से नित्य वस्तु न उत्पन्न होती है, न नष्ट ही होती है और न इस मान्यता में क्रिया कारक भाव ही संगत होता है, क्योंकि असत् अविद्यमान पदार्थ का जन्म नहीं होता और सत् विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता। यदि कहा जाय कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें क्या शेष रह जाता है। यहाँ तो सत् का नाश मानना ही पड़ेगा तो उसका उत्तर यह है कि दीपक अन्धकार रूपपुद्गल द्रव्य के रूप में विद्यमान रहता है।

संसार के प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय रूप हैं। द्रव्य अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्याय अपेक्षा से अनित्य है। इस तरह अनेकान्त शैली से पदार्थों के नित्यानित्यात्मक होने पर भी योग, सांख्य और मीमांसक पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते हैं और बौद्ध सर्वथा अनित्य। इस श्लोक में आचार्य महाराज ने सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य इन दोनों एकान्त मान्यताओं का निराकरण किया है। वे कहते हैं कि यदि पदार्थ सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश नहीं बन सकेगा। जीव द्रव्य में मनुष्य पर्याय के नष्ट होने पर ही देव पर्याय की उत्पत्ति होती है और पुद्गल द्रव्य में घट पर्याय के नष्ट होने पर ही कपाल पर्याय की उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार के उत्पाद और व्यय को प्रत्यक्षदेखते हैं, अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। नवीन आकार का उत्पन्न होना उत्पाद है और पूर्व आकार का विनाश होना व्यय है। ये दोनों प्रकार के परिणमन सर्वथा नित्य पदार्थ में संभव नहीं है, इसके सिवाय सर्वथा नित्यपना की मान्यता में क्रियाकारक भाव भी नहीं बनता है। ठहरना तथा गमन करना आदि क्रिया कहलाती है और इन क्रियाओं का जो निर्वर्तक रचयिता है वह कारक कहलाता है। वस्तु को सर्वथा एक रूप मानने पर यदि उसमें गमन रूपक्रिया होरही है तो गमन ही होता रहेगा और ठहरना रूपक्रिया हो रही है तो ठहरना ही होता रहेगा। विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकता, क्योंकि विरुद्ध परिणमन मानने पर सर्वथा एकरूपता नित्यपना का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। इसी तरह सर्वथा अनित्य पक्ष का निरन्वयनाश स्वीकृत करना पड़ेगा और उस स्थिति में अविद्यमान पदार्थ की और विद्यमान पदार्थ का नाश मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि

जो पदार्थ है ही नहीं उसका जन्म नहीं हो सकता और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश होसकता। यदिकहा जाय कि जलते हुए दीपक को बुझा देने पर क्या शेष बचता है ? यहाँ तो सत् का नाश अनुभव में आता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भी दीपक का सर्वथा नाश नहीं माना जाता जो दीपक पहले प्रकाश रूप पुद्गल द्रव्य था, अब बुझ जाने पर वही दीपक अंधकार रूप पुद्गल द्रव्य के रूप में शेष रहता है, सर्वथा नाश कहाँ हुआ? इस तरह कथंचित् नित्यानित्यत्व की मान्यता ही युक्तिसंगत है।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौविवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।

इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तुनाव।। (5)

अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही किसी अपेक्षासे इष्ट हैं। वक्ता की इच्छा से उनमें मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। इस तरह यह तत्त्व निरूपण की पद्धति आप सुमतिनाथ स्वामी की है। हे स्वामिन्! आपकी स्तुति करते हुए मुझे मतिका उत्कर्ष प्राप्त होवे। नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि परस्पर विरोधी दो धर्मों में प्रथम पक्ष विधि पक्ष कहलाता है और दूसरा पक्ष उससे विरुद्ध होने के कारण निषेध पक्ष कहलाता है। यहाँ पूर्व श्लोक में नित्य और अनित्य का प्रसंग उठाया गया था इसलिये विधि से नित्य पक्ष और निषेध से अनित्य पक्ष लिया गया है। पदार्थ किसी विवक्षा से नित्य है और किसी विवक्षा से अनित्य है, वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। उसी विवक्षा के अनुसार नित्य और अनित्य पक्ष में मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। वक्ता जिस समय द्रव्य का निरूपण करने में प्रवृत्त होता है, उस समय नित्य पक्ष मुख्य होता है और अनित्य पक्ष गौण होता है तथा जिस समय पर्याय का निरूपण करने में प्रवृत्त होता है उस समय अनित्य पक्ष मुख्य होता है और द्रव्य पक्ष गौण होता है। वक्ता की इच्छा नय भेद के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। नय परार्थ श्रुतज्ञान के भेद हैं। परार्थ श्रुतज्ञान को प्रयोजन पर का अज्ञान दूर करना है। वक्ता के सामने श्रोता होता है, उसके अनुसार वह पदार्थ को निरूपण करता है, परन्तु दोनों प्रकार के निरूपण के समय उसकी दृष्टि दूसरे पक्ष पर भी स्थित रहती है। सुमतिनाथ भगवान् चूँकि (सुष्ठु मतिर्यस्यौ सुमतिः) उत्तम मति से युक्त है। अतः उनकी तत्त्व के निरूपण

की पद्धति सर्वोत्कृष्ट थी। हे भगवन्! आपकी स्तुति के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ही श्रेष्ठ मति प्राप्त हो, ऐसी कामना आचार्य देव ने प्रकट की है।

सर्व पर्यायों में द्रव्य वही रहता है

जीवो भवं भविस्सदिणरोऽमरोवा परोभवीय पुणो।

किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।। (112) प्र.सा.

When the soul (in its course) is or will be born as a man, god or any one else, does it leave its substantiality; if it does not leave, how is it different (in different births)?

आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्य से अभिन्न है , ऐसा खुलासा करते हैं- (जीवो) यह आत्मा (भवं) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य , देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (किं दव्वत्तं पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपने को छोड़ बैठेगा? (ण जहदि अण्णो कह हवदि) नहीं छोड़ता हुआ, वह भिन्न कैसे होवेगा? अर्थात् द्रव्यपने से अन्य नहीं होगा। यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोग से विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोग से परिणमन करके मनुष्य, देव, नारकीया पशुअथवा निर्विकार शुद्धोपयोग में परिणमन करके सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार होकर के भी अथवा वर्तमान काल में होता हुआ भाविकाल में होगा व भूतकाल में हुआ था, इस तरह तीनों कालों में पर्यायों को बदलता हुआ भी क्या अपने द्रव्यपने को छोड़ देता है ? द्रव्यार्थिक नय से द्रव्यपने को कभी नहीं छोड़ता है तब अपनी अनेक भिन्न-भिन्न पर्यायों में दूसरा कैसे हो सकता है? अर्थात् दूसरा नहीं होता, किन्तु द्रव्य को अन्वय रूप शक्ति से सद्भावुत्पाद रूप वही अपने द्रव्य से अभिन्न है। यह भावार्थ है।

समीक्षा-जो विभिन्न अवस्थाओं में द्रवित होता है/ परिणमन करता है/गमन करता है उसे द्रव्य कहते हैं। इसलिये अन्वय रूप में हर अवस्थाओं में द्रव्य रहता ही है। जिस प्रकार पानी तरल, घन, वाष्पावस्था में अन्वयरूप में रहता है। मिट्टी, पत्थर, सोना, चांदी, पानी, वायु, अग्नि, शब्द, प्रकाश, अंधकार, पुद्गल की 23 वर्गणायें, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त अवस्थाओं में पुद्गल द्रव्य अन्वयरूपसे रहता है। इसी प्रकार जीव भी नित्यनिगोद से लेकर त्रस पर्याय, मिथ्यात्व अवस्था, सम्यक्त अवस्था,

मुनि अवस्था, अरहंत अवस्था, मोक्ष अवस्था में द्रव्य रूप से अन्वय रूप से हमेशा रहता है। इसके बिना उपरोक्त कोई भी अवस्था में नहीं है। इसी प्रकार शुद्ध हो या अशुद्ध हो, चेतन हो या अचेतन, मूर्तिक हो या अमूर्तिक द्रव्य उसकी हर अवस्था में रहेगा, क्योंकि द्रव्य का परिणमन ही पर्याय होती है। इसलिये द्रव्य बिना पर्याय किस प्रकार हो सकती है अर्थात् द्रव्य बिना पर्याय हो ही नहीं सकती है।

द्रव्य के असत् उत्पाद पूर्व पर्याय से भिन्न है

मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।

एवं अहोज्जमाणोअणणभावं कधं लहदि।। (113)

Aman (so long he has a human body) is not a god; nor is a god a man or a liberated being ; if it is not so possible , how can their mutual non-difference be established?

आगे असत् उत्पाद को पूर्व पर्याय से भिन्न निश्चय करते हैं (मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (माणुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। (एवं अहोज्जमाणो) ऐसा नहीं होने पर भी (अणणभावं कधं लहदि) एकपने को कैसे प्राप्त हो सकता है? आकुलता-जनक देव मनुष्यादि पर्यायों से विलक्षण तथा निराकुल स्वरूप अपने स्वभाव में परिणमन रूप लक्षण को धरने वाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चय से मनुष्य पर्याय में तथा देव पर्याय में समान है तथापि मनुष्य देव नहीं होता है, क्योंकि देव पर्याय के काल में मनुष्य पर्याय की प्राप्ति नहीं है, मनुष्य पर्याय के काल में देव पर्याय की तथा निज आत्म-उपलब्धि रूप सिद्ध पर्याय की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि पर्यायों का परस्पर भिन्न-भिन्न काल है। जैसे सुवर्ण द्रव्य में कुण्डल कंकण आदि पर्यायों का भिन्न-भिन्न काल है। इस तरह एक पर्याय रूप द्रव्य दूसरे रूप न होता हुआ एकपने को कैसे प्राप्त हो सकता है? किसी भी तरह प्राप्त नहीं हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ है कि असद्भाव उत्पाद या सत् रूप उत्पाद पूर्व पर्याय से भिन्न होता है।

समीक्षा-जब अन्वय रूप में देखते हैं तब द्रव्य हर पर्याय में होने से असत् का उत्पाद नहीं होता है। इसलिये सत् का ही उत्पाद होता है। असत् का उत्पाद नहीं होता है, परन्तु जब पर्याय दृष्टि से देखते हैं तब पूर्व पर्याय उत्तर पर्यायरूप नहीं है।

इसलिये इस पर्याय दृष्टि से असत् का उत्पाद होता है। जिस प्रकार दूध से दही बना। दूध अवस्था में दही अवस्था नहीं थी, क्योंकि दही से दूध अधिक तरल होता है और दही दूध से अधिक ठोस होता है। दूध का स्वाद मीठा होता है और दही का स्वाद खट्टा होता है। जिस रोगी के दूध पथ्य हो सकता है, उस रोगी के दही अपथ्य भी हो सकता है। दूध पर्याय में दही पर्याय नहीं थी, इसलिये दूध पर्याय अलग है और दही पर्याय अलग है इसलिये नवीन पर्याय पूर्व पर्याय से पृथक् होने से असत् उत्पाद है। जीव की अपेक्षा संसार अवस्था में मुक्त अवस्था प्रकट रूप में नहीं थी। इसलिये मुक्त अवस्था जब प्रारम्भ होती है वह असत्पूर्वक ही उत्पन्न होती है। यदि मुक्त अवस्था को, संसारी अवस्था को प्रगट रूप में मान लिया जायेगा तो कोई भी जीव संसारी नहीं रहेंगे। यदि संसारी नहीं होंगे तो मोक्षमार्ग तथा मोक्ष भी नहीं होगा, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्षमार्ग है और मोक्ष बन्धनपूर्वक होता है।

एक ही द्रव्य में अन्यत्व एवं अनन्यत्व है

द्व्वद्विण सव्वं दव्वंतं पज्जयद्विण पुणो।

हवदि य अण्णमण्णं तक्काले तम्मयत्तादो।। (114)

All substances are non-different from the substantial view-point, but again they are different from the modificational view-point, because of the individual modification pervading it for the time being.

(द्व्वद्विणेण) द्रव्यार्थिक नय से (तं सव्वं) वह सब (दव्वं) द्रव्य (अण्णं) अन्य नहीं है, वही है (पुणो) परन्तु (पज्जयद्विणेण) पर्यायार्थिक नय से (अण्णं य) अन्य भी (हवदि) है, क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) उस काल में द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय हो रहा है। शुद्ध अन्वयरूप द्रव्यार्थिक नय से यदि विचार किया जाय तो विवक्षित अविवक्षित सर्व ही जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यच मनुष्य देव रूप विभाव पर्यायों के साथ तथा केवलज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य रूप अनन्त चतुष्टयशक्ति रूप सिद्ध पर्याय के साथ अन्य-अन्य नहीं है, किन्तु तन्मय है, एक है। जैसे कुण्डल, कंकण आदि पर्यायों में सुवर्ण का भेद नहीं है, वही सुवर्ण है। परन्तु यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार किया जावे तो अपनी पर्यायों के साथ वह द्रव्य भिन्न-भिन्न है,

क्योंकि जैसे-अग्नि तृण की अग्नि, काष्ठ की अग्नि, पत्र की अग्नि रूप से भिन्न-भिन्न है, अपनी पर्यायों के साथ उस समय तन्मय है। इससे यह बात कही गई है कि जब द्रव्यार्थिकनय से वस्तु की परीक्षा की जाती है, तब पर्यायों में संतान रूप से सब पर्यायों का समूह द्रव्य ही प्रगट होता है, परन्तु जब पर्यायार्थिकनय की विवक्षा की जाती है तब पर्याय रूप से वही द्रव्य भिन्न भिन्न झलकता है और जब परस्पर अपेक्षा से दोनों नयों के द्वारा एकही काल में विचार किया जाता है और तब वह द्रव्य एक ही साथ एकरूप और अनेक रूप मालूम होता है। जैसे-यहाँ जीव द्रव्य के सम्बन्ध में व्याख्यान किया गया है तैसे सब द्रव्यों के यथा सम्भव जान लेना चाहिए, यह अर्थ है।

समीक्षा-जिस प्रकार गाय का दूध ही परिणमन करके दही बनता है, मट्ट बनता है, मक्खन बनता है, घी बनता है इसीलिए दही आदि गोरस स्वरूप ही है और सब अवस्था में दूध के ही परमाणु विद्यमान रहते हैं। इसीलिए जिसके गोरस का त्याग है वह न दूध सेवन कर सकता है न दही-मट्ट, परन्तु जिसका केवल दही का त्याग है, वह दूध, घी, मट्ट आदि का सेवन कर सकता है, क्योंकि जिसने केवल दही रूप पर्याय का त्याग किया है उसका अन्य पर्यायगत दूध का त्याग नहीं है। इसलिए ऐसे व्यक्ति दूध आदि सेवन करते हुए भी दोषी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि कथंचित् द्रव्य दृष्टि से दूध, दही आदि एक ही है और पर्याय दृष्टि से दूध, दही आदि पृथक्-पृथक् है। समन्तभद्र स्वामीने कहा भी है-

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिवतः।

अगोरसवतो नोभेतस्मात्त्वं त्रयात्मकम्॥ (60)

जिसके दुग्ध लेने का व्रत है-आज मैं दूध ही लूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा है-वह दही नहीं खाता, जिसके दही लेने का व्रत है, वह दुग्ध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेने का व्रत है वह दूध दही दोनों ही नहीं खाता। इससे ज्ञात होता है कि वस्तुत्त्वं त्रयात्मक है, युगपत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है।

घट मौलिक-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ (59)

(सुवर्ण घट को तोड़कर मुकुट के बनाये जाने पर) नाश उत्पाद और स्थिति की जो अवस्थाएं होती हैं, उनमें यह घटका अर्थी जनशोक (विषाद) को मुकुट का

अर्थी हर्ष को और सुवर्ण का अर्थी शोक तथा हर्ष से रहित मध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है और यह सब सहेतुक होता है-घटार्थी के शोक का कारण घट का नाश मुकुटार्थी के हर्ष का कारण मुकुट का उत्पाद है और सुवर्णार्थी के मध्यस्थ भाव का कारण सुवर्ण की स्थिति है जो सुवर्ण घटके रूप में था वही मुकुट के रूप में विद्यमान है। इससे उसके लिए शोक तथा हर्ष का कोई कारण नहीं रहता। बिना हेतु के उन घट मुकुट सुवर्णार्थियों के शोकादि की उत्पत्ति नहीं बनती। सन्मत्तिसूत्र में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी कहा है-

दवद्वियस्स जो चेवकुणइसोचेव वेयइणियमा।

अण्णोकरेइ अण्णोपरिभुंजइपज्जवणयस्स।।

द्रव्यार्थिकस्ययोचैवकरोतिसचैववेदयतं नियमेन।

अन्यः करोति अन्यः परिभुंक्ते पर्यवनयस्य।। (52)

द्रव्यार्थिकनय के अनुसार जीव जो कुछ कर्म का बन्ध करता है, नियम से वही भोगता है, किन्तु पर्यायार्थिक नय की दृष्टि में करता, कोई अन्य है और भोगता कोई अन्य है। द्रव्य दृष्टि से कर्मों को करने वाला और भोगने वाला एक ही है, किन्तु पदार्थ को क्षण-क्षण में उत्पन्न मानने वाला कर्म के करने वाले और भोगने वाले को भिन्न-भिन्न मानता है, क्योंकि जिसने कर्म किया वह दूसरे क्षण में ही परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार किया किसी अन्यने और भोगा किसी अन्यने, यह पर्यायार्थिकनय की मान्यता है।

सर्व विरोधों को दूर करने वाला स्याद्वाद

अस्थित्तियणस्थित्तियहवदि अवत्तव्वमिदिपुणोदव्वं।

पज्जायेणदुकेण वितदुभयमादिद्वमण्णं वा।। (115)

According to some modification or the other it is stated that a substance exist, does not exist, is indescribable, is both or otherwise.

(दव्वं) द्रव्य (केणविपज्जायेण) किसी एक पर्याय से (दु) तो (अस्थित्ति) अस्तिरूप ही है (य) और किसी एक पर्याय से (णास्थित्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्याय से (अवत्तव्वमिदि) अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है

(पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्याय से अस्ति-नास्ति दोनों रूप ही है। (वाअण्णं) अथवा किसी अपेक्षा से अन्य तीन रूप अस्ति एवं अवक्तव्य, नास्ति एवं अवक्तव्य तथा अस्ति-नास्ति एवं अवक्तव्य रूप (आदिट्टम्) कहा गया है। यहाँ स्याद्वादका कथन है, स्यात् का अर्थ कथंचित् है, अर्थात् किसी एक अपेक्षा से, वाद का अर्थ कथन करना है। वृत्तिकार यहाँ शुद्ध जीव के सम्बन्ध में स्याद्वाद काया सप्तभंग का प्रयोग करके बताते हैं।

(1) शुद्ध जीव द्रव्य अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव के चतुष्टय की अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप ही है अर्थात् जीव में अस्तिपना है। शुद्ध चतुष्टय गुण तथा पर्यायों का आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है, वह सद्व्य है। लोकाकाश प्रमाणशुद्ध असंख्यात प्रदेश है सो स्वक्षेत्र कहा जाता है। वर्तमान शुद्ध पर्याय में परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है। इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीव में अस्तित्व स्वभाव है। यह 'स्यात् अस्ति एव' प्रथम भंग है।

(2) तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावरूप परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप ही है अर्थात् शुद्ध जीव में अपने सिवाय सब द्रव्यों के द्रव्यादि चतुष्टयका अभाव है। यह 'स्यात् नास्ति एव' दूसरा भंग है।

(3) एक समय में ही जीव द्रव्य किसी अपेक्षा से अस्तिरूप ही है, वह किसी अपेक्षा से नास्ति रूप ही है तथापि वचनों में एक समय में कहा नहीं जा सकता, इससे अवक्तव्य ही है। यह तीसरा 'स्यात् अवक्तव्य एव' भंग है।

(4) वह परमात्म द्रव्य स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति रूप है, परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है। ऐसे क्रम से कहते हुए अस्ति नास्ति स्वरूप ही है। यह चौथा 'स्यात् अस्तिनास्ति एव' भंग है। इस तरह प्रश्नोत्तर रूपनय विभाग से जैसे ये चार भंग हुए, तैसे तीन भंग और है जिन को संयोगी कहते हैं।

(5) स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति ही है, परन्तु एक समय में स्वद्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और परद्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है। यह पाँचवा भंग है।

(6) परद्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति रूप ही है, परन्तु एक समय में स्व-पर

द्रव्यादि की अपेक्षा 'अस्तिनास्ति' होने पर भी अवक्तव्य है। इससे 'स्यात् नास्ति एव अवक्तव्य', यह छठा भंग है।

(7) क्रम से कहते हुए स्वद्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति रूप ही है तथा परद्रव्यादि की अपेक्षानास्ति रूप ही है, तथापि एक समय में अस्तिनास्ति रूप कहा नहीं जा सकता। इससे 'स्यात् अस्ति नास्ति एव अवक्तव्य' रूप है। यह सातवां भंग है।

पहले पंचास्तिकाय ग्रंथ में स्यात् अस्ति इत्यादि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया गया, यहाँ 'स्यात् अस्ति एव' के द्वारा जो 'एव' का ग्रहण किया गया है, वह नय सप्तभंगी के बताने के लिए किया गया है। जैसे यहाँ शुद्ध आत्म द्रव्य में सप्तभंगी नय का व्याख्यान किया गया है, तैसे यथासम्भवसब पदार्थों में जानलेना चाहिये।

समीक्षा-प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण एवं पर्यायों होने के कारण उसका ज्ञान तो सर्वज्ञ भगवान् को हो जाता है तथापि सर्वज्ञ भगवान् ही उसका प्रतिपादन एक साथ एक बार में नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिपादन करने का माध्यम जो शब्द वर्गणा है, उसकी सीमित शक्ति है। इसलिये भगवान् की दिव्य ध्वनि भी सामान्य विशेषात्मक होती है। कहा भी है-

तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणौ।

द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च शेषा विकल्पास्तयोः॥ (3)

तीर्थकरों के वचन सामान्य विशेषात्मक हैं। वे सामान्य रूप से द्रव्य के प्रतिपादक हैं और विशेष रूप से पर्याय के। द्रव्यार्थिक (निश्चय या परमार्थ) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयों (सापेक्ष दृष्टियों) से मूल वस्तु की व्याख्या की गयी है। शास्त्रों में जिन सात नयों का वर्णन मिलता है, वह इन दो नयों का विस्तार है। सभी नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयों में गर्भित है। इनमें द्रव्यार्थिक नय का विस्तार नैगम, संग्रह एवं व्यवहार रूप है तथा पर्यायार्थिक नय का विस्तार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवं भूत रूप है। मूल में जिनवाणी का विवेचन करने वाले ये दो ही नय हैं।

वस्तु में अनेक गुण एवं पर्यायों होने के कारण आवश्यकतानुसार जिसका प्रतिपादन किया जाता है, उसको मुख्य करके कथन किया जाता है एवं जिसका प्रतिपादन नहीं किया जाता है, वे गुण एवं पर्यायों उस समय उस द्रव्य में से लोप नहीं होती है, परन्तु उस समय में अविविधित होने के कारण गौण हो जाती हैं। इसलिये विधि हो या निषेध दोनों सापेक्ष होते हैं और दोनों का ही सद्भाव होता है, भले एक का कथन होता है, एक का कथन नहीं होता है। इसलिए कथंचित् सद्भाव और कथंचित् अभाव रूप में होता है। इस कथंचित् विषय को बताने के लिये स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्यात् शब्द का अर्थ संशयात्मक नहीं है परन्तु निश्चयपरक अस्तिरूप है या नास्तिरूप है। किसी भी द्रव्य की गुण एवं पर्याय सर्वथा अस्तिरूप ही नहीं होती और न ही नास्तिरूप ही होती है। केवल अस्तिरूप होने पर एक द्रव्य भी दूसरे द्रव्य रूप हो जायेगा और केवल नास्तिरूप होने पर कोई भी द्रव्य नहीं रहेगा।

फ्लोरिडा में आयोजित द्वितीय

जैन कान्फ्रेन्स हेतु शोध निबन्ध

सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित परम सत्य जो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परे-
शाश्वतिक अनन्त विश्व-अनन्त (6) द्रव्य-अनन्त जीव

-आचार्य कनकनन्दी

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवतु॥

प्रध्वस्त घाती कर्माणः केवलज्ञान भास्कराः।

कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः॥

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

अनन्तानन्त शुद्धात्मा को नमन करते हुए अनन्तानन्त अशुद्ध आत्मा शुद्ध बने ऐसी मंगल भावना के साथ-साथ सबको मेरा शुभाशीर्वाद। वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मा के शोध-बोध करने वाले वैज्ञानिकों को शुभाशीर्वाद व शुभकामनाएँ। वे इस कार्य में सफल बनें।

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहाविणव्वतो।

जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासावयवो णिच्चो।। (4) त्रि.सा.

निश्चय से लोक अकृत्रिम, अनादि अनिधन, स्वभाव से निष्पन्न जीवाजीवादि द्रव्यों से सहित, सर्वाकाश के अवयव स्वरूप और नित्य है।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्डुगई।। (2) द्र.सं.

जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।

ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदण जस्स।। (3) द्र.स.

तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु और आनपान इन चारों प्राणों को जो धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चयनय से जिसके चेतना है, वह जीव है।

मगगणगुणठाणेहि य चउदसहि हवन्ति तह असुध्दणया।

विण्णेया संसारी सव्वे सुध्दा हु सुध्दाणया।। (13) द्र.स.

संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणास्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुध्दनय से तो सब संसारी जीव शुध्द ही हैं।

उत्तमगुणाणधामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।

तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो।। (1) स.सु.

आत्मा उत्तम गुणों का धाम है, सर्व पदार्थों में उत्तम पदार्थ आत्मा है, सर्व तत्त्वों में उत्तम तत्त्व आत्मा है-यह विषय निश्चित रूप से समझ लो।

आत्मा में अनन्त चैतन्य आदि गुण हैं, इसीलिए आत्मा विश्व के सब पदार्थ में उत्तम पदार्थ है और सब तत्त्व में उत्तम तत्त्व है।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।

जाण अलिंगगहणं, जीवमणिहिट्टसंठाणं।। (9) स.सु.

वास्तविक दृष्टि से आत्मा में रस-रूप-गन्ध-शब्द नहीं है; आत्मा अव्यक्त है, आत्मा बाह्य चिह्नों से परिज्ञान नहीं होता, आत्मा में कोई आकार भी नहीं है।

आत्मा अमूर्तिक होने के कारण आत्मा में भौतिक किसी भी प्रकार के गुण या पर्याय नहीं होती है।

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।

कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।। (13) स.सु.

मैं देह नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं, इनका कारण भी नहीं। नहीं किसी का प्रेरक और नहीं किसी का अनुमोदक।

शुद्धात्मा अमूर्तिक चैतन्यमय होने के कारण भौतिक कर्माणु से निर्मित देह, मन, वाणी नहीं है व इसका कारण भी नहीं है।

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।

तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि।। (15) स.सु.

ममताविहीन, ज्ञान-दर्शनमय मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, शुद्ध स्वरूप में स्थित होकर, तन्मय बनकर ये सभी बाह्य भावों का क्षय करूँ।

आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए मुमुक्षु श्रद्धा एवं प्रज्ञा से चिन्तन करते हैं कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ अतएव मैं अहंकार-ममकार को त्यागकर स्व आत्मा में ही लीन होकर समस्त विभाव भावों को क्षय करूँ।

निश्चय नय से आत्मा भौतिक रासायनिक तत्त्व यथा-शरीर, मन, इन्द्रियाँ, मस्तिष्क से लेकर D.N.A., R.N.A. तक ही नहीं है। ये सब निर्जीव भौतिक तत्त्व हैं भले अनादि काल से संसारी जीव अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं से बन्धे होने के कारण अशुद्ध अवस्था में व्यवहार नय से पौद्गलिक मय भी है।

आत्मा की शक्तियाँ

सभी जीवों में असंख्यात आत्म प्रदेश, अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें होते हैं। ये सभी शुद्ध जीवों में शुद्धरूप में होते हैं वे अशुद्ध जीवों में अशुद्ध रूप में होते हैं। जब अशुद्ध जीव योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव को प्राप्त कर आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र्य युक्त समता, शान्ति, आत्मविशुद्धि के द्वारा आत्मध्यान करते हैं तब वे भी

समस्त द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म को क्षय करके परमात्मा अर्थात् शुद्धात्मा बन जाते हैं। आत्मा की अनन्त शक्तियों में से कुछ शक्तियाँ निम्न प्रकार की हैं-

1. **जीवत्वशक्ति**-“आत्मद्रव्य हेतुभूत चैतन्य मात्र भाव धारण लक्षणा जीवत्व शक्तिः।” आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी जीवत्वशक्ति।

2. **चितिशक्ति**-अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः।

अजडत्व स्वरूप चितिशक्ति।

3. **सुखशक्ति**-अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः।

अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुखशक्ति।

4. **वीर्यशक्ति**-स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः।

स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्य रूप वीर्यशक्ति।

5. **प्रभुत्व शक्ति**-अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्व शक्तिः।

जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित नहीं किया जा सकता ऐसे स्वातन्त्र्य से (स्वीधीनता से) शोभायमान पना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्व शक्ति।

6. **विभुत्व शक्ति**-सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः।

सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भाव रूप विभुत्व शक्ति।

7. **सर्वज्ञत्व शक्ति**-विश्व विश्व विशेष भाव परिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्तिः

समस्त विश्व के विशेष भावों को जानने रूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति।

8. **स्वच्छत्व शक्ति**-नीरूपात्मप्रदेश प्रकाशमान लोकालोकाकार मेचकोपयोग लक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः।

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक आकार रूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्व शक्ति।

9. **अकार्यकारणत्व शक्ति**-अन्याक्रियमाणा न्याकारकैक द्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः।

जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्व शक्ति।

10. अगुरुलघुत्व शक्ति-षट्स्थान पतित वृद्धि हानि परिणतस्वरूप प्रतिष्ठत्व कारण विशिष्ट गुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

षट्स्थान पतित वृद्धिहानि से परणमित, स्वरूप प्रतिष्ठत्व का कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारण रूप) ऐसा जो विशिष्ट (विशेष) गुण है, उस स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति।

11. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति-क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पाद व्यय ध्रुवत्व शक्तिः।

क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है ऐसी उत्पाद व्यय ध्रुवत्व शक्ति।

12. अमूर्तत्व शक्ति-कर्मबन्धव्यपगम व्यञ्जित सहज स्पर्शादि शून्यात्म प्रदेशात्मिका अमूर्तत्व शक्तिः।

कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादि शून्य (स्पर्श, रस, गन्ध व वर्ण से रहित) ऐसे आत्म प्रदेश स्वरूप अमूर्तत्व शक्ति।

13. अनन्तधर्मत्व शक्ति-विलक्षणान्तस्वभाव भावितैकभाव लक्षणा अनन्तधर्मत्व शक्तिः।

विलक्षण (परस्पर भिन्न लक्षण युक्त) अनन्त स्वभावों से भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्तधर्मत्व शक्ति।

14. विरुद्ध धर्मत्व शक्ति-तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्ध धर्मत्वशक्ति।

तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति।

इस अकृत्रिम शाश्वतिक विश्व में अनन्तानन्त संसारी व मुक्तजीव हैं। आध्यात्मिक शुद्धि से संसारी जीव मुक्त होकर उक्त आध्यात्मिक गुणों से सहित होकर अक्षय अनन्तकाल तक अनन्त आध्यात्मिक सुख को भाग करते हैं। यह ही जीवों की परम अवस्था है। इसे ही प्राप्त करने के लिए धर्म की साधना की अनिवार्यता है हर संसारी जीव ऐसी परम अवस्था को प्राप्त करे ऐसी मेरी पावन

भावना है। मैं भी (आचार्य कनकनन्दी) ऐसे महान् लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु सतत साधनारत हूँ।

इस सम्बन्धी विशेष शोध-बोध-प्रयोग हेतु प्रचुर प्राचीन जैन आगम के साथ-साथ मेरे द्वारा लिखित भी प्रायः 100 ग्रन्थ हैं। इनमें सम्बन्धी मेरा प्रवचन प्रायः 8 महीनों के वेबिनार में चल रहा है इनमें 21 प्रवचन शुद्धात्मा के बारे में हुए व 11 प्रवचन इसरो के वैज्ञानिक डॉ. सुरेन्द्रसिंह पोखरना के अनुरोध से आत्मा की 47 शक्तियों के बारे में हुए। इससे भी सभी लाभान्वित हो ऐसी मेरी पावन भावना के साथ-

-आचार्य कनकनन्दी

ग.पु.काँ. सागवाड़ा (राजस्थान, भारत)

दि-7/3/2021

समता युक्त एकान्त शान्तभावी मितभाषी

अलौकिक प्रतिभाधारी वैज्ञानिकाचार्य

श्री कनकनन्दी गुरुवर की विशेषताएँ (8 खूबियाँ)

हिंगलिश प्रयोगी कविता...

गुणानुमोदक-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल: फूलों का तारों का...)

समताधारी-शान्तभावी-निस्पृही...

एकान्तवासी-मितभाषी गुरुवर हैं.....

वैज्ञानिक सूरी प्रतिभाशाली हैं...

कनकनन्दी सन्त जीनियस/(पुरोगामी/अद्वितीय) हैं...

जय हो गुरु...वैश्विक गुरु...(स्थायी)...

स्वतन्त्र निर्धारण (Self Assesment) के क्षमताधारी...

सकारात्मक दृष्टि (Positive Attitude) प्रभावशाली...जय हो गुरु...

स्व का आदर (Self Respect) मूल्यांकन श्रेष्ठ करे...

पर का आदर (Other Respect) यथायोग्य करे...
 रचनात्मक सोच (Creative Mind) से अग्रगामी हैं...
 ख्याति-लाभ (Name-Fame) परे आनन्दित हैं...कनकनन्दी...(1)...
 आत्मनिर्भरता (Self Dependent) का गुण विशेष हैं...
 आत्म विश्वास (Self Confident) अलौकिक है...जय हो गुरु...
 अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा रहित...
 प्रगतिशील (Progressive) सनम सत्यग्राही हैं...
 भावात्मक सशक्त (Emotional Power) धैर्यशाली हैं...
 अन्य का समादर-गुणग्राही हैं...कनकनन्दी...(2)...
 नवाचारक (Innovative) मूल्यवान् (Valuable) उत्पादकता (Productivity)
 आनन्ददायी विविध (Multi Diamentional) आयामी विधा...जय हो गुरु...
 उच्चतम सफलता (High Success Rate) पुरोगामी (Forward the date) हैं...
 पर चिन्ता व्यर्थ चर्चा (Non Productive Acitivity) नहीं है...
 हर विषय का शोध-बोध-प्रयोग...
 'सुविज्ञ' जनों के अभिप्रेक (Mottivator) हैं...कनकनन्दी...(3)...

ग.पु.कों., दि-6/3/2021, रात्रि प्रायः 10.00

फ्लोरिडा में पठित आचार्य श्री के परिचय

ACHARYA KANAKNADI IS A UNIQUE SCHOLAR. HE IS A MASTER OF THIRTY LANGUAGES AND IS WELL VERSED IN ADVANCED TOPICS SUCH AS COSMOLOGY, QUANTOM THEORY OF BLACK HOLES. HE IS ALSO A SCHOLAR OF ASTROLOGY, MANTRAL SCIENCE, SHAKUN SCIENCE, ANGSTURAN, POLITICS, WORLD PHILOSOPHIES, INTERNATIONAL LAW, SUPERNATURAL MATHMATICS, PSYCHOLOGY,

HISTORY, CHEMISTRY PHYSICS, ETIOLOGY, (हेतु विज्ञान)GEOGRAPHY, ECONOMICS, AND MATEMATICS. FROM LAST 7-8 MONTHS ACHARYA SHREE IS TEACING VISHWA DRAVYA VIGYAN AND POWER OF SOUL TO MANY SCIETIST, PROFESSOR AND SCHOLARS. ACHARYA KANAKNANDI HAS WRITTEN MORE THAN 350 TEXTS. HE IS CURRENTLY THE ACADEMIC MENTOR FOR 30 ACHARYA ADN THE SPIRITUAL MENTOR FOR 300 SADHUS IN THE ENTIRE NANDI SANGH. THE TITLE OF CHAKRAVARTI, KALIKAL'S AKALANKA, AND SAMANT ABHADRA HAVE BEEN BESTOWED UPON HIM.

महावैज्ञानिक दिगम्बर जैनाचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव की अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स फ्लोरिडा में ऐतिहासिक आनलाइन गरिमामय उपस्थिति-प्रस्तुति

फ्लोरिडा इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी अमेरिका एवं जैन एजुकेशन एण्ड रिसर्च फाउण्डेशन द्वारा आयोजित चार दिवसीय (दि-19-20-21-22 मार्च 2021) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 27 देशों के प्रायः लाखों शोधार्थी, वैज्ञानिक, प्रतिभागी जन व श्रोताओं ने चेतना विज्ञान जैसे युग परिवर्तनकारी विषय पर ऑनलाइन शोधपूर्ण अभूतपूर्व ज्ञानात्मक लाभ प्राप्त किया।

इस महान् अवसर में दि-21/3/2021 को जैन जगत् के मूर्धन्य वैश्विक गुरु जीनियसों के जीनियस महावैज्ञानिक दिगम्बर जैनाचार्य श्री कनकनन्दी गुरुवर ने अपने मौलिक प्रति प्रश्रात्मक उद्बोधन से विज्ञानी जनों को आश्चर्यचकित किया। इसका विशिष्ट कारण गुरुदेव की मौलिक विश्वव्यापी अनेकान्तमय, विषयकेन्द्रित-स्पष्ट-पारदर्शी-सत्यग्राही-वैज्ञानिक-बहु भाषामयी-नवाचारी-आनन्ददायी शिक्षा

मनोविज्ञानी-सर्वसमावेशी-अन्त्योदयी से सर्वोदयी सर्व जीव सुखकारी-क्रान्तिकारी-मंगलमयी देशना पद्धति से पृथ्वी के जिज्ञासु भव्य जनों ने कल्याणकारी आध्यात्मिक विज्ञान का रसास्वादन कर अपने को धन्य माना।

इस संगोष्ठी में सम्मिलित अधिकतर श्वेताम्बर-दिगम्बर जैन वैज्ञानिक प्रतिभागी आचार्य श्री के शिष्य व भक्त हैं जो अनेक वर्षों से गुरुदेव के बहुविधायी शोधपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर देश-विदेश के विविध संस्थानों से लेकर विश्व विद्यालयों व विश्व धर्म संसद तक में आचार्य श्री के सुधी प्रतिनिधि बनकर व्यापक धर्म-दर्शन-विज्ञान आदि विषयों की समन्वयात्मक प्रभावना कर रहे हैं।

उपरोक्त उप लब्धियों से प्रभावित व आह्लादित होकर देश-विदेश के प्रगतिशील गुणग्राही जनों की रचनात्मक अनुकूल प्रति क्रियाएँ प्राप्त हो रही हैं। अमेरिका प्रवासी जिज्ञासु व उत्साही सतत ज्ञानोपयोगी रामगोपाल जैन ने आगमी वर्ष 2022 में होने वाली कॉन्फ्रेंस को आचार्य भगवन्त श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव के नेतृत्व-निर्देशन व मार्गदर्शन तथा आचार्य श्री के वैज्ञानिक प्रोफेसर शिष्यों के द्वारा कराने की योजना का प्रस्ताव रखा है एवं उसके क्रियान्वयन हेतु सतत पुरुषार्थरत है।

(गुणानुमोदक-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर)

दुनिया के 20 डॉक्टरों का जैन समाज पर शोध

गुजरात व राजस्थान में फ्रांस और स्विट्ज़रलैंड के दो इंस्टीट्यूट से 20 डॉक्टरों की टीम ने चार साल तक जैन समाज के अनुयायियों की जीवनशैली पर शोध किया है। इन डॉक्टर्स ने जैन समाज में सदियों से लगाई जा रही मुखपट्टिका और खान-पान की वर्जनाओं को विज्ञान सम्मत मानते हुए इसे महामारियों में बचाव के लिए उपयोगी माना है।

सूक्ष्म जीव की थ्योरी कारगर: महावीर स्वामी ने कहा था कि एक बूंद पानी में भी असंख्य जीव होते हैं। डॉक्टर्स के अनुसार सैकड़ों वर्ष पहले लिखी बात इस बात को आज विज्ञान भी मानता है। जैन धर्म में सैकड़ों वर्षों से पानी उबलकर, छानकर पीने का सिस्टम है। इसी तरह हवा में मौजूद जीवों से बचने

के लिए मास्क लगाया जाता है। रिसर्च टीम का हिस्सा रहे अहमदाबाद के डॉ. पद्मश्री सुधीर शाह के अनुसार स्वस्थ शरीर के साथ नकारात्मक ऊर्जा से दूर रहना जरूरी है। इसके लिए समाज की तपस्या, अर्यांबिल, आहार विज्ञान, ध्यान, भावना और कायोत्सर्ग जैसी चीजें जैन समाज के लोग अपनाते आए हैं। स्वस्थ रहने के लिए इंटरमीडिएट फास्टिंग चर्चा में हैं।

इसमें 16 घंटे बिना खाए रहना होता है। शरीर से विषैले तत्व निकालने के लिए डीटोक्स भी ऐसा ही है, जिसमें तरल पदार्थों पर रहा जाता है। जैन धर्म में व्रत की परंपरा वर्षों से है। आज वैज्ञानिक मानते हैं कि रात कीटाणु व जीवाणु के लिए अनुकूल होती है, जबकि दिन में सूरज की किरणों में ये मर जाते हैं। जैन धर्म में पहले से रात में भोजन नहीं करने का चलन है। यह जैविक घड़ी से भी जुड़ा है जिसे आज विज्ञान भी मान्यता देता है। इसके अलावा शाकाहारी व्यक्ति के कम बीमार पड़ने की वैज्ञानिकता भी इस समाज में सदियों से है। डब्ल्यूएचओ ने भी स्पष्ट किया है कि एवियन फ्लू के फैलाव में मांसाहारी भी एक कारक था। फ्रांस के एसएफटीजी (सोसायटी ऑफ थेराप्यूटिक एजुकेशन ऑफ जनरल प्रक्टिशनर) और लूसियाना, स्विट्ज़रलैंड के आईएफइम (इंस्टीट्यूट ऑफ फैमिली मेडिसिन) ने डॉक्टरों की टीम भेज यह रिसर्च की है। टीम में डॉ. डैनियल विल्डमर (यूनिवर्सिटी ऑफ लूसियाना, स्विट्ज़रलैंड), प्रोफेसर इलारियो रोसी (एंथ्रॉपोलोजिस्ट यूनिवर्सिटी ऑफ लूसियाना), डॉ. पैट्रिक ओवररार्ड (जनरल फिजीशीएन, फ्रांस), ग्युनचार्ड ब्लैस (कॉलेज ऑफ नर्सिंग, फ्रांस), डॉ. सोफिया चैटरलार्ड (फ्रांस) आदि शामिल थे।